V

IV

III

II

I

हिन्दी नाटककार

(हिन्दी-नाटक और उसके उन्नायकों की कला तथा कृतियों का गम्भीर विश्लेषण)

लेखक

प्रो० जयनाथ 'नलिन', एम. ए.

प्राध्यापक स. ध. कालिज, अम्बाला कैण्ट

१९५२

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक-विक्रेता तथा प्रकाशक

काश्मीरी गेट,

दिल्ली ६

आलोक

'हिन्दी नाटककार' पहले केवल 'हिन्दी-नाटक-समीक्षा' के रूप में ही प्रकट हो रही थी। पाण्डुलिपि प्रेस में जाने के बाद अनेक साथियों ने सुझाव भी दिये और माँग भी की, नाट्य-कला और उसके विकास का विवेचन भी पुस्तक में रहे। उनकी माँग का उत्तर देना अनिवार्य हो गया। पुस्तक में नाटक के विकास और महत्त्व का विवेचन कर दिया गया और हिन्दी-नाटकों के विकास और अभाव की भी समीक्षा कर दी गई; पर नाट्य-कला और तत्वों को नहीं छुआ गया। अन्य समीक्षकों के समान संक्षिप्त में तत्त्व गिनाने से कोई लाभ नहीं, जब तक उनका मौलिक और नवीन दृष्टिकोण से विस्तृत विवेचन न किया जाय। उसकी आवश्यकता इस पुस्तक में नहीं और न इतना स्थान ही है। इसके अतिरिक्त, किसी भी नाटककार के नाटकों की समीक्षा पढ़कर नाट्य-कला के सिद्धान्त पाठक स्वयं भी स्थिर कर सकता है।

नाटक के जन्म, महत्त्व, विकास आदि पर जो भी कुछ कहा गया है, वह स्वतंत्र विचार पर आधारित है। केवल गिनती गिनाने के लिए ही अभाव या भाव के कारण प्रस्तुत नहीं किये गए और न परम्परा से प्राप्त समीक्षा-सम्पत्ति का उत्तराधिकार की तरह उपयोग किया गया। कला के रूप में नाटक और हिन्दी-नाटक का विकास दिया गया है, विकास के नाम पर इतिहास नहीं। प्रायः समीक्षकों ने इतिहास को ही विकास के नाम पर प्रस्तुत कर दिया है। इस पुस्तक में पाठकों को भ्रम में न पड़ना पड़ेगा। 'आलोक' में नाटक-संबंधी उन्हीं विषयों पर विचार किया गया है, जो अत्यन्त आवश्यक समझे गए, जिनका सम्बन्ध हिन्दी-नाटकों की समीक्षा से है। उन सभी बातों को, जो अनावश्यक हैं, साधारण हैं, या विशेष महत्त्व नहीं रखतीं, छोड़ दिया गया है। 'आलोक' के अन्तर्गत आये नाटकीय विवेचन में मौलिकता, नवीन दृष्टिकोण अनाभिभूत चिन्तन का ही अनुरोध मेरी लेखनी का रहा है—उस अनुरोध-पूर्ति की चेष्टा भी की गई है।

नाटक का जन्म

नाटक उतना ही प्राचीन है, जितना मानव-जीवन। धरातल पर मानव का अवतरण भी एक नाटकीय घटना ही समझिये। भारतीय आस्तिक दर्शन के अनुसार परमात्मा ने पृथ्वी की रचना करके एक दिन अनेक युवक और युवतियों को जन्म दे दिया। विकासवाद के अनुसार वनमानुस विकसित होते-होते मनुष्य बन गया। दोनों ही विचारानुसार मानव का जन्म कौतूहल-पूर्ण नाटकीय घटना है। मानव-जन्म के साथ ही नाटक का उदय हुआ। निश्चय ही विकसित या लिखित रूप में नहीं। पर वह अपने आदि मौलिक रूप में मानव के साथ ही अवतरित हो गया था। मानव-जीवन-विकास के साथ ही कदम-से-कदम मिलाते हुए नाटक भी विकसित होता गया और आज वह अत्यन्त उन्नत रूप में हमें प्राप्त है।

पुरातन जंगली अहेरी जीवन में नाटक के मौलिक रूप की हम कल्पना कर सकते हैं। एक अहेरी, दिन-भर के परिश्रम से थका, अपनी गुफा में बैठा मांस भून रहा है। सहसा बाघ के समान भयंकर और सींगधारी विलक्षण पशु गुफा के भीतर घुसकर वन-कँपाती दहाड़ मारकर अहेरी पर झपटता है। शीघ्रता से सँभल अहेरी अपने पत्थर के शस्त्र उठाता या तीर-कमान सँभालता है और ज्यों ही कमान पर तीर तानता है कि वह विचित्र पशु तालियाँ बजाकर खिलखिलाकर हँस पड़ता है। अहेरी भौंचक्का-सा ताकता है और वह पशु 'हो-हो' करते हुए कहता है,अहा डर गए सरदार! अहेरी को तब मालूम होता है कि यह वह पड़ोसी युवक है,जो पास ही एक गुफा में रहता है। यह घटना एक कल्पना-मात्र है, इसमें सन्देह नहीं; पर मानव के असभ्य जंगली जीवन में न जाने ऐसी कितनी नाटकीय घटनाएं होती रही होंगी। कौतूहल पूर्ण अनाशितता, जो नाटक की प्राण है, सभ्य जीवन से अधिक जंगली जीवन में मिलेगी।

उपरोक्त कल्पित घटना में नाटक के सभी तत्त्व अपने आदि रूप में आ जाते हैं। बाघ का रूप धरने वाले उस युवक का गुफा में सहसा प्रवेश कौतूहल-पूर्ण घटना है। यह कथावस्तु का ही एक रूप है। घटनाएं ही कथा-माला की कलियाँ हैं—कथा की शृङ्खला की कड़ियाँ हैं। युवक और अहेरी दो पात्र हैं। दोनों के चरित्रों का परिचय भी हमें मिल जाता है। अहेरी को भयभीत करने, हँसाने खिलखिलाने में अभिनय-तत्त्व आ जाता है। युवक और अहेरी के मुँह से जो शब्द निकलते हैं, वे कथोपकथन या संवाद का आदि रूप

हमारे सामने उपस्थित करते हैं। रस या उद्देश्य की दृष्टि से अद्भुत या हास्य हमें मिल जाता है।

हमारा विश्वास है कि ऐसी-ऐसी अनेक नाटकीय घटनाएं मानव-जीवन में पहले आईं, नृत्य इनके पश्चात्—भले ही नृत्य से नाटक को विकसित करके वर्तमान रूप तक पहुँचाने में सहायता मिली हो, पर मौलिक रूप में नाटक मनुष्य के जीवन में पहले आया, नृत्य बाद में। सामाजिक रूप में नृत्य विकसित हो गया, नाटक बहुत बाद में हुआ। नाटक का आदि रूप आज भी जंगली जीवन में देखा जा सकता है। जंगली जीवन में प्रचलित नृत्य नाटक का ही आदि रूप है। जंगली नाचों में नृत्य के तत्त्वों की अपेक्षा नाटकीय तत्त्व ही अधिक मिलेंगे। जंगली पशुओं की खाल, सींग, हड्डियाँ, पक्षियों के पंख, समुद्री कौड़ियाँ, घोंघे आदि धारण करके विलक्षण वेश बना, शिकार की तैयारी, पशुओं से युद्ध, पारस्परिक आक्रमण, अभिमान, पलायन आदि उनके नाच के मुख्य विषय होते हैं। इनमें अपेक्षाकृत नाटकीय तत्त्व अधिक हैं।

नाटक का मूल हमारी मानसिक प्रवृत्तियों में है। तभी तो हम जंगली असभ्य जीवन से लेकर सभ्य वैज्ञानिक जीवन तक में नाटक का प्रादुर्भाव और विकास पाते हैं। नाटक का अविकसित आदि रूप भी और अत्यन्त विकासित आधुनिक स्वरूप भी हमारी प्राकृतिक प्रवृतियों का ही साकार रूप है। अधिक-से-अधिक सभ्य बनकर विज्ञान-प्रधान जीवन हो जाने पर भी वे मानसिक मौलिक प्रवृत्तियाँ अपरिवर्तित रहेंगी। अपनी शक्ति, अधिकार, उपभोग और आनन्द-सीमा बढ़ाना मानव की मौलिक प्रवृत्ति है। मनुष्य जो है उससे अधिक होना चाहता है। जो वह नहीं है, वह बनना चाहता है। इसे विराट बनने या आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति कहते हैं। मनुष्य असीम की ओर पग बढ़ाने का महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रयत्न करता रहता है। यह विराट बनने की प्रवृत्ति है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद और कृष्ण का विराट रूप इसी प्रवृत्ति की दार्शनिक व्याख्या है।

इसी प्रवृत्ति ने नाटक को जन्म दिया है। आदि जंगली जीवन में मनुष्य अपने से इतर प्राणियों—शेर, बाघ, हाथी, मृग, बैल, बकरा, भेड़िया—का रूप धारण करके अपनी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करता रहा। कुछ सभ्य हो जाने पर वह कल्पित भूत-प्रेत, देवी-देवताओं का रूप धारण करके आत्म-विस्तार की अभिलाषा की प्यास बुझाता रहा। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का आरम्भ होने पर वीर योद्धाओं, महापुरुषों, राजा-महाराजाओं आदि का रूप धारण करके आनन्द पाता रहा। इस आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति, या जो नहीं है

वह बनने की इच्छा का रूप, हम बालकों में देख सकते हैं। कई छोटी-छोटी बालिकाओं को हमने मूँछें लगाकर और बालकों को लड़की का वेश धारण करके अभिनय करते देखा है।

आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए, हम वह बनते हैं, जो हम नहीं हैं। तब हमें उस व्यक्ति-जैसा ही व्यवहार करना पड़ता है, वैसी ही वेश-भूषा धारण करनी पड़ती है, उसी प्रकार बोलना-चालना भी पड़ता है। हम पूर्ण रूप से अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं। बिना नकल या अनुकरण किये, हम वैसे नहीं मालूम हो सकते। 'विराट' की कामना या आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति ही अनुकरण की प्रवृत्ति को जन्म देती है। यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र भी मानी जाती है। कई छोटे-छोटे बालक अपने बूढ़े बाबा की तरह नाक पर चश्मा रखकर उनकी तरह पगड़ी लपेटकर उनका हुक्का गुड़गुड़ाने का अभिनय करते देखे गए हैं और यदि अचानक माँ ने देख लिया और पूछा, 'क्यों रे कुक्कू, यह क्या?'' तो उत्तर मिलता है, ''मैं कुक्कू नहीं हूँ, मैं तो बाबाजी हूँ।'' अनुकरण की प्रवृत्ति में भी नाटक का मूल है। अभिनेता गण जब नायक, नायिका आदि का रूप धारण करके अभिनय करते हैं,वह अनुकरण ही है।

नाटक को जन्म देने वाली तीसरी प्रवृत्ति है आत्म-प्रकाशन की मनुष्य न असफलता, निराशा, वेदना, वियोग आदि का भार सह सकता है और न सफलता, संयोग, आशा, आनन्द आदि की गुदगुदो को ही सँभाल पाता है। दुख कहने से घटता और सुख बढ़ता है। मनुष्य अपने दुःख-सुख दूसरों पर प्रकट करना चाहता है। आत्माभिव्यक्ति या आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति उसे ऐसा करने को विवश करती है। दुःख-सुख के आवेग में मनुष्य बड़ा भावुक बन जाता है। भावावेश में वाणी वाचाल बनेगी ही—उसे अलौकिक अभि-व्यंजना-शक्ति मिलेगी। नाटक के संवाद और अभिनय-तत्त्व का इसी से विशेष विकास हो जायगा।

नाटक को जन्म देने वाली सर्वप्रथम प्रवृत्ति है आत्म-विस्तार या विराट बनने की। इसी से प्रेरित होकर मनुष्य अनुकरण करता है। इसी से प्रेरित होकर आत्म-प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अपना दुःख-सुख, आशा-निराशा अन्यों पर प्रकट करके भी मनुष्य आत्म-विस्तार ही करता है। सुख-दुःख दोनों के भोगने वालों की संख्या बढ़ जाती है। इसलिए नाटक को जन्म देने वाली प्रमुख प्रवृत्ति आत्म-विस्तार की ही मानी जायगी। अनुकरण की नहीं।

समाज, जाति या राष्ट्र-रक्षा की भावना को भी बहुत-से समीक्षकों ने नाटक को जन्म देने वाली प्रवृत्तियों में माना है। पर राष्ट्र-रक्षा की भावना बहुत बाद में विकसित हुई। नाटक का जन्म सामाजिकता या राष्ट्रीयता के विकास से पहले ही हो चुका था, अपने आदि और अविकसित रूप में। साथ में आदि नाटकों में ऐसी कुछ भावना का विशेष परिचय नहीं मिलता। हाँ, समाज या जाति-रक्षा की भावना ने नाटक के विकास-विस्तार में अवश्य योग दिया। नाटक की जननी के रूप में इसे नहीं माना जा सकता। ऊपर की तीनों प्रवृत्तियों की तृप्ति में इतिहास, पुराण, राष्ट्र, समाज, जाति आदि की रक्षा स्वतः हो ही जायगी।

सामाजिक रूप में नृत्य सब कलाओं से पहले आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक रूप में नृत्य एक उछल-कूद ही रहा होगा। जंगली पशुओं की खाल ओढ़कर, सिर में सींग लगाकर बालों में विभिन्न प्रकार के पंख खोंसकर शरीर को रङ्ग-बिरंगा बनाकर पास-पड़ोसके लोग एकत्र होजाया करते और आग के चारों ओर चक्राकार घूमकर उछल-कूदकर आनन्द मना लिया करते होंगे। कुल्लू, काँगड़ा, तिब्बत, भूटान आदि के सुदूर पर्वतीय कोनों में अब भी ये नाच देखने को मिलते हैं। धीरे-धीरे मनुष्य सभ्य बनता गया। इन उत्सवों का रूप भी बदलता गया। पशुओं के स्थान पर पूर्वजों का रूप धारण करके, उनके जीवन की घटनाओं को भी इनमें सम्मिलित कर लिया गया। वीर-पूजा के बाद देवपूजा आरम्भ हुई। देवताओं के जीवन-सम्बन्धी नाच होने लगे।

समय के साथ-साथ इन नृत्योंमें भी विकास होता गया। प्रारम्भिक अवस्था में पशुओं का रूप धारण करके नाच आरम्भ हुए। कुछ काल बाद इनमें गीतों का समावेश हुआ। वीर-पूजा आरम्भ होने पर इनमें गीतों के साथ उनके जीवन की घटनाएं भी सम्मिलित कर ली गईं। कुछ काल बाद उनके कल्पित संवाद भी जोड़ लिये गए। नृत्य, गान, घटना के साथ जब भी संवादों का समावेश हुआ, तभी नाटक का जन्म हो गया। जिस प्रकार जंगली नृत्य नाटक के रूप में विकसित हुआ, उसी प्रकार जंगली पशुओं का विकास देवताओं के रूप में हो गया। सभी देशों के अनेक देवता पशु के समान ही हैं।

नाटक तब अस्तित्व में आया, जब समाज का निर्माण हो चुका था। धर्म एक संस्था बन गया था। नाटक का साकार रूप—अभिनय, चरित्र, संवाद, अनुकरण—वीर-पूजा और धर्मोत्सव के कारण ही अस्तित्व में आया। भयंकर पशु का वध करने, भीषण बाघ से भिड़ जाने, गेंडे का शिकार करने

आदि वीरतापूर्ण कार्य-कलापों के कारण कोई पूर्वज पूज्य बनता था। वीर-पूजा के बाद देव-पूजा आरम्भ हुई। वे भी वीरता के कारण ही पूज्य बने। तभी हिन्दुओं के सभी अवतार प्रायः वीरता के प्रतीक हैं। भारत में नृसिंहावतार, वराह-लीला के आदि के ढंग के स्वाँगों, रासलीला या रामलीला के समान उत्सवों में नाटक का जन्म हुआ और यूनान में डायोनिसस देवता के अनुकरण में किये गए नृत्यों से उसी स्वाभाविक क्रम से नृत्यों में गीतों का समावेश, कुछ [काल बाद जीवन की घटनाओं का मेल फिर संवादों का योग।

सफलताओं के उत्सवों, ऋतु-पर्वों, धार्मिक अनुष्ठानों, फसल आदि के बोये जाने या पकने, विजय आदि के अवसरों पर किये नाच-गानों से नाटक को गति मिली। नाटक के विकास में धर्म और वीर-पूजा का विशेष हाथ है। इसीलिए हर देश में प्रारम्भिक नाटकों पर धर्म का बहुत प्रभाव है।

नाटक का महत्त्व

ललित कलाओं में काव्य को सर्व श्रेष्ठ माना गया है। भावों की आनुपातिक सघनता; अधिकता और प्रभाव के स्थायित्व के कारण यह निर्णय किया गया है। आधार या साधन जितना भी छोटा होता जाय और रस जितना भी अधिक, कला भी उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका अर्थ हुआ बाह्य साकार आधार की कम-से-कम आवश्यकता हो। और अधिक-से-अधिक आनन्द सामाजिक पा सके। यह बात किसी सीमा तक सही है, पूर्णरूपेण नहीं। जिस कला से अधिक-से अधिक रसानुभूति हो, वही सर्व श्रेष्ठ है। रस-विचार मुख्य है आधार गौण। काव्य से अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द मिलता है—रसानुभूति होती है, और प्रभाव भी चिर काल तक रहता है; इसीलिए वह सर्वश्रेष्ठ कला है।

काव्यों—श्रव्य और दृश्य—में नाटक श्रेष्ठ है। मुक्तक, गीति, प्रबन्ध आदि काव्य पढ़ने या सुनने से इतनी तीव्र रसानुभूति नहीं हो सकती, जितनी नाटक देखने से। काव्यकारों को शब्दों द्वारा भावों का बिम्ब खड़ा करना पड़ता है। जब तक हमारी आँखों में किसी भाव विशेष का चित्र अङ्कित न हो जाय, हम आनन्द नहीं ले सकते। शब्दों द्वारा कवि चाहे जितना प्रतिभावान हो, वैसा यथार्थ बिम्ब उपस्थित नहीं कर सकता, जैसा नाटक में अभिनेताओं द्वारा किया जा सकता है। मूर्त का प्रभाव अमूर्त के प्रभाव से अधिक स्थायी होगा ही। नाटक में सामाजिक सब-कुछ सामने होते हुए देखता है।

श्रव्य काव्य में उसे अधिकतर चित्र अपनी कल्पना से निर्मित करने पड़ते हैं। यदि जीवन में करुणा, प्रेम, क्रोध, घृणा आदि के रूप उसने देखे ही नहीं, तो वह इन रूपों को कल्पना कर ही कैसे सकेगा? नाटक में तो सब-कुछ सामने होता है। पूर्व ज्ञान के आधार की उसमें आवश्यकता नहीं, बल्कि वह तो नया ज्ञान देता है।

रसानुभूति का अर्थ है अपना अस्तित्व भूलकर तन्मय हो जाना। आश्रय से सामाजिक अपना तादात्म्य स्थापित कर ले। यह तभी होगा, जब हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ एक स्थान पर केन्द्रित हो जायं। नाटक में यही होता है। कान, आँख, मन, बुद्धि सभी एकाग्र होकर रसानन्द लेते हैं। जब हम अभिनय होते देखते हैं, तो तन-बदन की सुधि नहीं रहती। सभी भावों, भावनाओं और मानसिक अवस्थाओं का रूप हमारे सामने आता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब खलनायक की दुष्टता से उत्तेजित होकर सामाजिक उसे गालियाँ तक देते हैं। एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने तो खलनायक को अपनी खड़ाऊँ फेंक मारी थी। नाटक देखते समय तालियाँ पीटना, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाना, जय-जयकार करना, आँसू बहाना आदि साधारण बात है। रस की यह अवस्था अन्य कलाओं के द्वारा उपस्थित करना कठिन है।

नाटक में सभी कलाओं का उचित समन्वय हो जाता है। नाटक लेखक की विभिन्न कलाओं का ज्ञान और सर्वतोमुखी प्रतिभा का सच्चा प्रमाण है। नाटक सामाजिकों को सभी ललित कलाओं का वरदान भी है। सामाजिक इसमें सभी कुछ पा जाता है। केवल कलाएं ही नहीं, अन्य शास्त्रों विज्ञानों का समावेश भी इसमें हो जाता है। राज्य-प्रासाद, मन्दिर, दुर्ग, कुटीर, आश्रम आदि के दृश्य उपस्थित किए जाते हैं। मठ, मन्दिर, प्रासाद आदि में अनेक मूर्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। अनेक प्रकार के पट लटकाए जाते हैं। अभिनेता विभिन्न कालों और अवसरों के वस्त्र धारण करते हैं। नृत्य और संगीत-नाटक का आवश्यक अंग है ही। अभिनेता पात्रों के भावों और व्यवहारों का वास्तविक रूप उपस्थित करते हैं। इस प्रकार नाटक में स्थापत्य, मूर्ति, संगीत, चित्र, नृत्य आदि कलाओं और मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, वस्त्र-विज्ञान आदि का भी समावेश हो जाता है।

नृत्य से अधिक उन्नत कला नाटक है। नृत्य में भावों का अभिनय होता है; वे रस की कोटि तक नहीं पहुँचते। नाटक का अभिनय रस की कोटि को पहुँचता है। नृत्य से ही नाटक विकसित हुआ। इसलिए नृत्य से नाटक श्रेष्ठ होना ही चाहिए। संगीत में भी रस की तन्मयता प्राप्त होती है। शब्द,

स्वर-ताल, गायक संगीत का आधार हैं। इसमें कानों के द्वारा मन को आनन्द मिलता है। पर संगीत भी नाटक के समान रस नहीं दे पाता।

संगीत में कानों की एकाग्रता रहती है, नाटक में नयन, मन, बुद्धि, चित्त सभी की। संगीत में भावों का साकार रूप कभी उपस्थित नहीं किया जा सकता।

नाटक न केवल श्रव्यकाव्य (गीति-प्रबन्ध, मुक्तक) और संगीत की तुलना में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, आख्यायिका (उपन्यास, गल्प) की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। निबंध, शब्द-चित्र आदि काव्य के अन्य गद्य रूपों से तो इसकी तुलना करनी ही व्यर्थ है। काव्य के इन गद्य-रूपों में तो काव्य के सम्पूर्ण गुण आ ही नहीं सकते। इनमें रसानुभूति भी बहुत ही क्षीण मात्रा में होती है। हमारा अपना विचार है, इनमें भावोदय की स्थिति रहती है, रस की तन्मयता प्राप्त हो ही नहीं सकती। इन विविध गद्य-काव्यों से मनोरंजन हो सकता है—मनोरंजन रस की तन्मयता उपस्थित नहीं कर सकता। वह तो मानसिक गुदगुदी की ही स्थिति-मात्र है। इनसे भावों में गतिशीलता तो आती है, डुबा देने वाली गहनता नहीं आती। नाटक की रसानुभूति का इनमें शतांश भी आभास नहीं मिलता।

उपन्यास गद्य-काव्य का बहुत ही स्वस्थ, सफल, स्वतन्त्र रूप है। नाटक और उपन्यास के तत्त्व समान हैं। अंग समान होते हुए भी रूप में अन्तर है—आकार और शरीर में भिन्नता है। उपन्यास में लेखक बहुत-कुछ स्वतन्त्र है। उसकी कला-सीमाएं अत्यन्त विस्तृत और स्वच्छन्द हैं। वह स्वयं उसमें अपनी ओर से सब-कुछ कह सकता है वह संकुचित बन्धनों में रहकर रचना नहीं करता। नाटक में बिलकुल उल्टा है। नाटककार अपनी ओर से वर्णन नहीं कर सकता। जो कुछ भी उसे कहना है, अपने पात्रों के द्वारा ही वह कहला सकता है। चरित्र-चित्रण, कथा वस्तु, वातावरण, संवाद, रस सभी तत्त्वों का समावेश नाटक में पात्रों के द्वारा होता है। उपन्यास में ऐसा नहीं, तब उपन्यासकार की सीमाएं कितनी सरल हो गईं। इसलिए नाटक-निर्माण में कला-प्रतिभा की अधिक आवश्यकता है, उपन्यास-रचना में इतनी नहीं। नाटक सभी भाषाओं में उपन्यासों से कम ही लिखे जाते हैं।

उपन्यास और नाटक के रूप, आकार और शरीर बिलकुल भिन्न हो जाते हैं। और रूप भिन्न होने से रस-साधन भी भिन्न हो जाते हैं। नाटक में अभिनय के द्वारा और उपन्यास में वर्णन के द्वारा रस-सिद्धि होती है। नाटक दृश्य हो जाता है और उपन्यास पाठ्य या श्रव्य। उपन्यास को कमरे

में बैठ पढ़कर भी आनन्द मिल सकता है, नाटक को पढ़कर नहीं, अभिनीत देखकर आनन्द मिलता है। आनन्द-साधन भिन्न होने से रस की मात्रा और सघनता में भी अन्तर पड़ जाता है। उपन्यास में इतना आनन्द नहीं मिल सकता, जितना नाटक में मिलेगा। उपन्यासकार चाहे जितना कला-प्रतिभा-सम्पन्न हो, फिर भी भाषा भावों को मूर्त रूप देने में पूर्ण सफल हो ही नहीं सकती,जितना अभिनय हो सकता है—अभिनय में तो भाव स्वयं मूर्तिमान होकर सामने खड़े होते हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास का आनन्द एक साथ दस-बीस व्यक्ति से अधिक नहीं ले सकते, यथार्थ में तो एक ही (पाठक) ले सकता है, पर नाटक में सैकड़ों व्यक्ति एक साथ ही समान आनन्द ले सकते हैं।

उपन्यास क्योंकि पाठ्य काव्य है उसमें सब-कुछ भूतकालीन लगता है, मन पीछे भागने में कुछ-न-कुछ आनाकानी करेगा ही। नाटक भूत का हो या भविष्य का, वर्तमान में होता है। सभी घटनाएं, चरित्र, कार्य-व्यापार सामने होता है। पुतलियों के सामने होती हुई घटनाओं में मन अधिक लगता है। इसमें सभी इन्द्रियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। इसलिए उपन्यास की अपेक्षा नाटक अधिक प्रिय है, पढ़ने में नहीं, अभिनीत होते देखने में।

नाटक लोकतांत्रिक कला है, इसलिए इसका महत्त्व सभी कलाओं से अधिक है। यह जनता की धरोहर है—उसके आनन्द का आधार भी। अन्य कलाओं का आनन्द वही उठा सकता है, जिसको उस कला का शास्त्रीय ज्ञान हो। श्रव्य या पाठ्य काव्य में वही रसानुभूति कर सकेगा, जो भाषा, अलंकार, छन्द आदि का पंडित नहीं तो जानकार अवश्य हो। नाटक के अतिरिक्त, सभी कलाएं व्यक्तिगत रुचि, साधना, साधन और प्रतिभा की वस्तु हैं। आँखों के सामने सभी कुछ होते देखकर हर एक दर्शक इसमें आनन्द लेता है। इसमें इसलिए भी प्रायः सभी रुचियों, प्रतिभा और ज्ञान के व्यक्ति आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि बोध कराने वाली सभी इन्द्रियाँ रस-बोध में एक-दूसरे को सहायता करती हैं। नाटक में सभी प्रकार के व्यक्तियों का सहयोग होता है और सभी प्रकार के पात्रों का अभिनय। नाटक के निर्माण में भी प्रायः सभी प्रकार के कलाविदों की सहायता अपेक्षित है। चित्रकार, रूपकार (Make up man), संगीतज्ञ, नृत्य-विशारद से लेकर बढ़ई, दर्जी, स्वर्णकार, रँगने वाले तक की आवश्यकता रहती है। इसलिए नाटक एक सामाजिक तथा लोकतांत्रिक कला है।

भरतमुनि ने नाटक को सभी काव्यों में श्रेष्ठ माना है—'काव्येषु नाटकं-

रम्यम् ।' इसे पंचम वेद भी कहा जाता है। आस्तिक हिन्दुओं की आस्थानुसार वेद भगवान् की वाणी है। वेद के समान ही नाटक को बताना उसके अलौकिक महत्त्व को प्रकट करता है। वेद की कथा में भले ही अनेक व्यक्ति न जायं, पर नाटक में प्रायः सभी पुरुष जाते हैं—वे बड़ी तन्मयता से इसके अभिनय का आनन्द लेते हैं। भरतमुनि ने तो यहाँ तक माना है कि योग,कर्म, सारे-शास्त्र और समस्त शिल्पों का नाटक में समावेश है। नाटक के द्वारा देश की सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा होती है। इतिहास, पुराण, सभ्यता का विकास सभी कुछ नाटक के द्वारा जीता-जागता हमारी आँखों के सामने उपस्थित होता रहता है।

नाटक का विकास

विश्व-भर के मानव की आदि वासना, सहज प्रकृति, मौलिक प्रवृत्ति, दुःख-सुख की भावना और अनुभूति समान हैं। समस्त विश्व में मानव-जीवन का विकास समान परिस्थितियों में समान रूप में ही हुआ। कला, सभ्यता, संस्कृति के विकास के इतिहास में हम अधिक अन्तर नहीं पाते। समाज-संस्था ने भी युगों की घाटियों में होकर समान ढंग पर ही उन्नति की। धरातल के विभिन्न भागों में नाटक का उदय और विकास भी समान रूप और रीति से हुआ।

सभी देशों में वीर-पूजाओं, देवार्चनोत्सवों ऋतु-पर्वों, धार्मिक अनुष्ठानों से नाटक का उदय हुआ। वीर-पूजा सभी जातियों और देशों की प्राचीनतम परम्परा है। पूर्वजों के श्राद्ध-दिवस पर उनकी आत्मा को प्रसन्न करने, उनसे सफलता का वरदान और साहस की प्रेरणा पाने के लिए नाच-गानों का आयोजन प्राक्-ऐतिहासिक प्रथा है। नृत्य-गान में उनके जीवन की घटनाएं भी सम्मिलित की जाने लगीं और कुछ काल बाद संवादों का भी समावेश हो गया। यही क्रम देवार्चन में रहा। देवार्चन भी वीर-पूजा का ही रूप है। प्रायः सभी जातियों के देवता वीर रस-प्रधान हैं। संवाद और जीवन-घटनाओं का समावेश होते ही नाटक अस्तित्व में आ जाता है। उसमें कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, रस-उद्देश्य, अभिनय—सभी तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं। हैं। नृत्य-गान जब विकसित होकर नाटकीय रूप धारण करने लगे, उनमें उपरोक्त सभी नाटकीय तत्त्व उपस्थित रहने लगेंगे। भारतीय 'महाव्रत अनुष्ठान' में कुमारियों के नृत्य-गान और प्रकाशार्त वैश्य, शूद्रों के झगड़े में नाटकीय तत्त्व बीज रूप में मिल जाते हैं।

यूनान में दुःखान्त नाटकों का आरम्भ डायोनिसस के अनुकरण पर किये

गए नृत्यों से होता है। डायोनिसस का उत्सव शीत की मृत्यु और वसन्तारम्भ के उपलक्ष में मनाया जाता था। भारत में भी इस प्रकार के नृत्य-गान-प्रधान स्वाँगों ने नाटक के विकास में सहयोग अवश्य दिया होगा। मानव ने जंगली असभ्य अवस्था में पशुओं के चेहरे लगाकर नृत्य-गान आरम्भ किए थे। धीरे-धीरे इन पशुओं ने—विशेष शक्ति के प्रतीक होने के कारण—देवताओं का रूप धारण कर लिया। डायोनिसस, नृसिंह, गणेश, वाराह में पशु और मानव दोनों मिल जाते हैं। भारत में प्रचलित नृसिंहावतार, वाराह-लीला आदि ने भी नाटक के आदि रूप को गति दी होगी। यूनानी दुःखान्त नाटकों का विकास डायोनिसस के गीतों से हुआ। यूनान में एस्किलस, सोफोक्लीज, यूरोपिडीस प्रसिद्ध दुःखान्त नाटक-लेखक हुए।

ऋतु-पर्वों पर किये गए उत्सवों और स्वाँगों में भी नाटक का आदि रूप मिलता है। चीन, यूनान, भारत, मैक्सिको—सभी देशों में वसन्त ऋतु में आनन्दोत्सव मनाए जाते हैं। यह समय फसलों के पकने का होता है। प्रकृति में भी उल्लास आनन्द उमड़ता है। चीन में नाटकों का आरम्भ और विकास वसन्तोत्सवों के उपलक्ष में किये गए हास्य-प्रधान स्वाँगों से हुआ है। भारत में भी होली के स्वाँग अपने हास्य और अश्लील मनोविनोद के लिए विख्यात हैं। अश्लील स्वाँगों में यूनान में हास्य नाटक उदय हुए। इनमें राजकीय, पौराणिक और ऐतिहासिक पुरुषों की खिल्ली उड़ाई जाती है और अश्लील अभिनय रहता है। यूनानी नाटक के विकास में जितना कार्य इन हास्य-नाटकों ने किया उतना दुःखान्त नाटकों (डायोनिस के गीतों) ने नहीं। हास्य-नाटकों में अभिनय, चरित्र-चित्रण, कथावस्तु, रस, संवाद आदि तत्व दुःखान्त नाटकों से अधिक स्वस्थ और नाटकोचित होते थे। इनमें अश्लीलता बहुत रहती थी। प्राक्ऐतिहासिक कालीन लेखक मोदिस, मक्नमन, टॉलिनस ने इनकी अश्लीलता कम की। मिनेण्डर ने तो यूनानी नाट्य-कला में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उसने अभिनय को स्वाभाविकता की ओर बढ़ाया—वह नाटक को वास्तविक जीवन के निकट लाया।

धार्मिक उत्सवों, ऋतु-पर्वों के अवसरों पर किये गए नृत्य-गीत से नाटक विकास-पथ-पर प्रेरित हुआ। महाराष्ट्र में आज भी पौराणिक धार्मिक नाटकों का रूप देखने को मिल जाता है। इसे 'ललित' कहते हैं। शृङ्गार-हास्य-प्रधान लौकिक प्राचीन नाटक भी वहाँ प्रचलित हैं। ये 'तमाशा' कहलाते हैं। विदर्भ में यही हास्य-शृङ्गार प्रधान लौकिक नाटक 'डिंढार' कहलाता है। तामिलनाड में भी 'कामन पण्डिगै' नाटक का प्राचीन रूप है। इसका विषय

है काम-दहन। यह गीत-नाटक है। यह कृषकों द्वारा बसन्त में खेला जाता है और आठ-आठ रात तक चलता है। इस प्रकार प्रायः सभी देशों में समान रीति और रूप से नाटकों का विकास हुआ। नाटक को विकास-पथ पर प्रेरित करने वाली दो मुख्य धाराएं स्पष्ट हैं—धार्मिक रासलीला आदि के ढंग के नाच-गानों से पूर्ण नाटक और हास्य-श्रृङ्गार से पूर्ण लौकिक नाटक। ये नाटक फसलों के पकने, बोये जाने, सफलता-प्राप्ति, सफलता की कामना, बसन्ता-गमन, वर्षारम्भ आदि के अवसर पर खेले जाया करते थे। भारत में 'इन्द्र-ध्वज' और यूरोप में 'मे पोल' (may-pole) ऋतु-पर्व ही हैं। इन्द्रध्वज के उपलक्ष में 'त्रिपुर-दाह' और 'समुद्र-मन्थन' नाटक खेले जाने की कथा भी भारतीय साहित्य में आती है।

यूनान पर रोम वालों की विजय के बाद यूनानी सभ्यता ने रोम को बहुत प्रभावित किया। यूनानी नाटक भी वहाँ पहुँचे। रोम में भी नाटक रचे और खेले जाने लगे। सिनेका वहाँ का प्रसिद्ध नाटककार हुआ। पर रोम जाकर नाटक का विकास नहीं घोर पतन हुआ। रंगमंच पर उत्पीड़न अत्या-चार आदि के भयंकर दृश्य ही नहीं दिखाने जाने लगे; मृत्यु के दृश्यों में दासों का वध भी किया जाने लगा। दृश्यों में अश्लीलता भी बहुत बढ़ गई। इसने वहाँ नाटक का विनाश कर दिया।

समय की गति के साथ-साथनाटक भी विकसित होता गया। समय पाकर वह एक स्वतन्त्र कला बन गया। नाटक ने जब यथार्थ और स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया, जब इसका बचपन था, इस पर धर्म का बड़ा प्रभाव रहा। उसीके संरक्षण में नाटक का पालन-पोषण हुआ। आरम्भ में ईसा तथा अन्य ईसाई सन्तों के जीवन-सम्बन्धी नाटक ही रचे जाते रहे। इनमें सन्तों के आश्चर्यजनक कार्य, नैतिक और धार्मिक शिक्षा देने वाली घटनाएं रहती थीं। ये रहस्य और जादूपूर्ण नाटक(Mistry and Miracle Plays)कहलाते थे।

यूनानी नाटकों का अभिनय खुले मैदान में हुआ करता था। वितान तानकर या पट लटकाकर रंगमंच नहीं बनाया जाता था। पट परिवर्तन से विभिन्न दृश्यों का विभाजन नहीं होता था। दो भिन्न दृश्यों या अंकों के बीच सामूहिक गान गाकर अन्तर या विभाजन प्रकट किया जाता था। अभिनेता अपने मुखों को विभिन्न प्रकार के चेहरों या नकाबों से ढके रहते थे। लम्बाई बढ़ाने के लिए वे ऊँची एड़ी के जूते भी पहनते थे। एक नाटक कई रात तक भी चलता था। अभिनय में भाव-प्रदर्शन को अवकाश कहाँ—मुख पर प्रकट होने वाले भावों का प्रश्न ही नहीं उठता।

उछल-कूद, चिल्लाना, अंगों का सक्रिय संचालन ही इस युग के अभिनय की विशेषता थी। भारत में ही स्वाँग आदि में मुखों पर चेहरे लगाये जाते हैं। खूब उछलना-कूदना और दहाड़ना इनकी विशेषता है।

भारत में यूनान से बहुत समय पहले नाटक का जन्म और विकास हो गया था। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व यहाँ भास-जैसे प्रतिभाशाली कलाकार के तेरह नाटक प्रसूत हो चुके थे। भास के समकालीन पश्चिमी नाटककार इतने सुन्दर कलापूर्ण, विकसित, जीवन की विविधता से युक्त नाटक नहीं लिख सके भारत और यूरोप—दोनों ही भू-खण्डों में नाटक पर धर्म का प्रभाव रहा है। भास के तेरह नाटकों में से सात महाभारत, दो रामायण, दो इतिहास और दो समाज के कथानकों के आधार पर लिखे गए हैं। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पर भी परलोकवाद का बहुत प्रभाव है। अश्वघोष का 'सारिपुत्र-प्रकरण' और अन्य दोनों नाटक बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी हैं। भवभूति का 'उत्तर-राम-चरित्र' और 'महावीर-चरित्र' रामायण से कथा लेकर लिखे गए। धर्म का प्रभाव होते हुए भी भारतवर्ष में सामाजिक जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न आरम्भ से ही हुआ। भास का 'चारुदत्त' इसका प्रमाण है। भारत में नाटक पर धर्म का आतंक नहीं, प्रभाव रहा—उसे प्रेरणा मिली।

कालिदास के युग में यूरोप में एक भी ऐसा प्रतिभाशाली नाटककार नहीं हुआ, जिसकी तुलना कालिदास से की जा सके। भवभूति के विषय में भी यही कहा जा सकता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उत्तर राम-चरित्र' दोनों ही विश्व-साहित्य की महान् विभूतियाँ हैं। इन दोनों महाकवियों के द्वारा भारतीय नाट्य-कला विकास के शिखर पर आरूढ हुई। इनके नाटकों में चरित्र-चित्रण, अभिनय, रस, कथानक, कार्य व्यापार आदि सभी नाटकीय तत्त्वों का विकास मिलता है। कला की दृष्टि से कालिदास के 'शाकुन्तल' के समान उस युग में एक नाटक यूरोप में नहीं रचा जा सका। भारत में ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटक-परम्परा चलती रही। बारहवीं शताब्दी का प्रथम संस्कृत नाटक साहित्य के पतन का अभिशाप लिये आया। जब यूरोप में नाटक उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ, भारतीय नाट्य-साहित्य विनाश—निद्रा की गोद में बेसुध हो चुका था।

यूरोप में रेनेसाँ-युग में नाटकों से धर्म का आतंक कम हो गया। इसमें प्राचीन नवीन का मनोहर सामञ्जस्य देखने को मिलता है। प्रेम-कथाएं नाटकों में आने लगीं; पर अभिजात-कुल के स्त्री-पुरुषों का चित्रण ही इनमें

रहता था। दुःखान्त-सुखान्त भावों का मिश्रण भी नाटकों में रहने लगा। दुःखान्त-सुखान्त का भेद कम हुआ। सुखान्त नाटकों में भी करुणा आदि की घटनाएं रखी जाने लगीं, मृत्यु दिखाना सुखान्त नाटकों में वर्जित ही रहा। कुछ दिन बाद यह भी पसन्द किया जाने लगा। नाटककला की दृष्टि से भी विकसित हुआ। चरित्रों में गाम्भीर्य आया। अभिनय में स्वाभाविकता बढ़ी। रहस्य, विस्मय, जादू आदि की बातें कम हुईं। परलोक का प्रभाव और अलौकिकता की आस्था इस युग में भी बराबर रही, वह आगे चलकर शेक्सपीयर की रचनाओं को भी प्रभावित करती रही। भारत में भी इस युग में अच्छे नाटक लिखे जाते रहे, पर किसी नवीन प्रवृत्ति, आस्था, कला की उन्नति या परिवर्तन के दर्शन यहाँ नहीं हुए। दुःखान्त नाटकों का यहाँ जन्म ही नहीं हुआ, विकास की बात ही क्या; सुखान्त नाटक ही लिखे जाते रहे—एक निश्चित नमूने के आदर्श और टैकनीक पर करुणा से ओत-प्रोत नाटक भी सुखान्त ही रहे। अलौकिक वातावरण भी उनमें रहता रहा।

मध्य युग भारतीय नाटक के पतन और यूरोपीय नाटक के चरम विकास का काल है। बारहवीं शताब्दी में यहाँ नाटक लिखने बन्द हो गए। इसके बाद संस्कृत-नाटक का उत्थान या पुनर्जीवन नहीं हुआ। इस मध्य युग में यूरोपीय नाटक में क्रान्ति उपस्थित हो गई। कला की चरम उन्नति हुई। नाटक जीवन के अधिक निकट आ गया। मानसिक और भौतिक संघर्ष नाटकों में विशेष मात्रा में रहने लगा। चारित्रिक गहनता, गम्भीरता, अन्तर्द्वन्द्व नाटक के प्राण बन गए। टैकनीक भी कुछ सरल हो गया। इस युग में यूरोप-भर में प्रेक्षा-गृह निर्मित हुए। राज्य की ओर से नाट्य कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। अभिनय में स्वाभाविकता आई।

सुखान्त नाटकों में करुणा से ओत-प्रोत दृश्य भी दिखाए जाने लगे। रेनेसाँ-युग के नाटकों से अधिक सुख-दुःख का आनुपातिक मिश्रण इस युग में हुआ। भयंकर आतंकपूर्ण, रोमांचकारी घटनाएं भी रंगमंच पर दिखाई जाने लगीं। मृत्यु दिखाना भी वर्जित न रहा। परलोक का प्रभाव इस युग के नाटकों में भी बराबर रहा। भाग्य का हाथ मानव-विनाश या निर्माण में बहुत समझा जाता रहा। शेक्सपीयर के प्रायः सभी नाटकों में भाग्य या दैव का प्रभाव स्पष्ट है। इसी युग में विश्व-विख्यात अमर कलाकार शेक्सपीयर का उदय हुआ। उसने अपनी प्रतिभा से अनेक अमर रचनाएं प्रस्तुत कीं। प्रख्यात नाटककार कारेनील रेसीन, गेटे, शिलर, विक्टरह्यूगो, मौलियर इसी युग में अवतरित हुए। इसमें सन्देह नहीं कि यह काल यूरोपीय नाटक का

स्वर्ण युग है, तो भी इसमें पद्यात्मक संवाद और स्वगत की अस्वाभाविकता बनी रही। नायक-नायिका आदि भी अभिजात कुल के रहे। धर्म और पुराण को त्यागकर कथावस्तु इतिहास से ली जाने लगी।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण नाटक के इतिहास में नवीन जागरण और जीवन लेकर आया। यूरोपीय नाट्य-साहित्य में टी० डब्ल्यू० राबर्टसन ने अपने 'सोसायटी' 'कास्ट' और 'आवर्स' से नवयुग उपस्थित कर दिया। भारत में भी नवयुग ने अँगड़ाई ली और यहाँ भी साहित्य में नवीन प्रयोग आरम्भ हुए। पर नाटकीय जागरण यहाँ बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण से होता है। राबर्टसन के कुछ दिन बाद ही इब्सन (सन् १८२८-१९०६ ई०) ने नाटक में युगान्तर उपस्थित कर दिया। नाटक के आदर्श बदल गए। सामाजिक नैतिकता, शील, परम्परा आदि की नवीन परिभाषाएँ सामने आईं। कला में नवीन परिवर्तन हुए। स्वाभाविकता (अभिनय, वेश-भूषा, संवाद, चरित्र) का अधिकाधिक समावेश होने लगा।

इब्सन के प्रभाव से पाँच बातें सामने आईं।

१—इतिहास की ममता त्यागकर लेखक वर्तमान समाज से अपने नाटक के लिए विषय चुनने लगा। दूर न जाकर अपने निकट की दैनिक समस्याएँ कलाकार सुलझाने में अधिक तत्परता दिखाई।

२—नाटक के पात्र सम्पत्तिशाली उच्च-कुलोत्पन्न, राजा, सामन्त आदि न रहकर साधारण समाज के व्यक्ति रहने लगे। उनके जीवन का चित्रण करने और उनकी दैनिक समस्याएँ सुलझाने में कला की सफलता मानने लगा।

३—व्यक्तिगत संघर्ष कम हुआ। समाज के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई। समाज के अस्वास्थ्यकर बन्धन-नियम आदि की अवज्ञा की तीव्र भावना नाटकों में दिखाई देने लगी। पुराने आदर्श उपेक्षित हो गए।

४—बाहरी संघर्ष की अपेक्षा विचारों का संघर्ष पात्रों में अधिक दिखाया गया। मानसिक उथल-पुथल अन्तर्द्वन्द्व और चरित्र की विभिन्नता को महत्त्व दिया जाने लगा।

५—स्वगत-कथन कम हुए। नाटकीय निर्देश विस्तृत रहने लगे। अभिनय के उपयुक्त नाटकों को बनाए का प्रयत्न होने लगा? कला, जीवन, विचार, अभिनय आदि सभी में स्वाभाविकता आने लगी। रंगमंच सरल बनने लगा। नाटक भी रंगमंच के उपयुक्त लिखे जाने लगे। जार्ज बर्नर्डशा, गाल्सवर्दी आदि इब्सन से बहुत प्रभावित हुए।

इब्सन की कला ने नाटक में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा की। इसकी प्रति-

क्रिया यूरोप में साथ-ही साथ चल रही है। मैटरलिंक का आध्यात्मिक प्रभाव भी कम नहीं इसके नाटक अन्योक्ति-प्रधान होते है। इनमें आध्यात्मिक समस्याओं का चित्रण और सुलझाव रहता है।

बीसवीं शताब्दी भारत में भी नाटकों का नवीन युग लेकर आई। बँगला में द्विजेन्द्रलाल राय ने अत्यन्त कलापूर्ण नाटक लिखे। इनके पात्रों में आत्म-संघर्ष की विशेषता है। हिन्दी में प्रसाद जी ने नाटक में प्राण-प्रतिष्ठा की। इब्सन और शा के यथार्थवाद को आदर्श मानकर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अनेक मौलिक नाटकों की रचना की।

मराठी साहित्य में देवल और कोल्हटकर ने क्रमशः 'शारदा' और 'मूक-नायक' लिखकर मराठी साहित्य का गौरव बढ़ाया। श्री खाडिलकर और श्री भड़करी के 'कीचक वध' और 'एकच प्याला' की मराठी साहित्य में बड़ी धूम है। श्री भा० वि० वरेरकर का 'सत्तेचे गुलाम' और श्री प्रा० के० अत्रे का 'लैग्नाची बेड़ी' भी विख्यात नाटक है। तामिल साहित्य में भी नाटक विकास की ओर हैं। श्री वी० को० सूर्यनारायण शास्त्री का 'मानविजयम्' और प० सम्बन्ध मुदालियर का 'लीलावती सुलोचना' प्रसिद्ध रचनाएं है। तेलगू साहित्य में श्री एमनचरला गोपालराव का 'हिरण्याकश्यप' और 'विश्वन्तर' नाटक-कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल कृतियाँ हैं।

बंगाली, मराठी में तो अपना रंगमंच भी है। तामिल नाड में भी रंगमंच विकसित हो गया है। हिन्दी में अपना रंगमंच अभी नहीं है; पर इधर कुछ दिनों से हिन्दी-नाटकों का अभिनय विभिन्न कला-मण्डल करते रहते हैं। लक्षणों से लगता है, यहाँ भी अपना रंगमंच शीघ्र उन्नत होगा।

नाटकों का वर्गीकरण

भारतीय साहित्य-शास्त्र में नाटक का उद्देश्य आनन्द माना है, जैसा कि हमारे यहाँ नाटक की उत्पत्ति की काल्पनिक कथा से प्रकट है। इसलिए यहाँ ऐसे ही नाटकों की रचना हुई, जिनका अन्त सफलता और सुख में है। यूनान में ऐसे नाटकों का आरम्भ पहले हुआ, जिनमें भय, आतंक, करुणा, दुःख, असफलता आदि के दृश्य अधिक रहतेथे और जिनका अंत भी दुःख में होता था। डायोनिसस के अनुकरण पर जो गीत-नृत्य-नाटक होते थे, वे करुणाजनक या दुःखान्त (Tragedy) कहलाते थे। पश्चिमी साहित्य-समीक्षकों ने नाटकों के दो वर्ग किये—दुःखान्त और सुखान्त। भारत में क्योंकि नाटक का प्रयोजन बिलकुल भिन्न था अतः विकास भी भिन्न और मौलिक ढंग पर हुआ, यहाँ

दुःखान्त नाटक लिखे ही नहीं गए। यूरोप में शुद्ध रूप में दोनों प्रकार के नाटकों की रचना हुई।

हिन्दी-नाटक अपने जन्म-काल से ही पाश्चात्य समृद्ध नाटक-साहित्य से घनिष्ठ परिचय में आ गया, इसलिए हमारे यहाँ दोनों प्रकार के नाटक तो लिखे ही गए, मौलिक प्रयोग भी हुए। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों की रचना विशेष ढंग से की। उनके अधिकतर नाटक न शुद्ध रूप से दुःखान्त की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, न सुखान्त की। नाटकों के अन्त को दृष्टि में रखते हुए उनके नाटकों को नये वर्ग में रखा जायगा, जिसे प्रसादान्त या प्रशान्त कहना चाहिए। अब हम नाटकों का वर्गीकरण करते हुए उनके तीन वर्ग मानते हैं— दुःखान्त, सुखान्त और प्रसादान्त।

दुःखान्त का अर्थ है,जिसका अन्त दुःखमें हो। दुःखान्त नाटकों की परम्परा यूनानी नाटकों से चली। डायोनिसस नामक देवता के जीवन की करुण, दुःखजनक जीवन-घटनाओं को लेकर वहाँ गीत-नृत्य हुआ करते थे। इनको ट्रेजेडी कहा जाता था। यह (Tragedy) शब्द यूनानी 'ट्रेगांस' शब्द से बना है, जिसका अर्थ बकरा होता है। डायोनिसस का यह बकरे के समान माना जाता है। इसके अनुकरण में गाये गए ये बकरा-गीत वेदना और करुणा से भरे होने के कारण दुःखान्त नाटक कहलाने लगे। दुःखान्त का अर्थ परिहास-वर्जित गम्भीर नाटक भी लिया जाता था। अन्त चाहे सफलता में हो, पर नाटक की गम्भीरता बनाये रखने के लिए उसमें करुणा, भाव, आतंक, पीड़ा, अत्याचार आदि के दृश्य भी रखे जाया करते थे। अरस्तू ने जो ट्रेजेडी की परिभाषा दी थी, उसमें गाम्भीर्य तथा हास्यवर्जन का ही भाव था। बाद में उसमें मृत्यु का समावेश भी हो गया।

दुःखान्त का यह अर्थ न समझना चाहिए कि किसी की मृत्यु, जीवन पीड़ा या वेदनापूर्ण दिखाने से नाटक दुःखान्त बन जाता है। यदि किसी चोर, डाकू, आततायी तथा हत्यारे का कष्टपूर्ण जीवन और उसकी मृत्यु भी नाटक में हो, तो भी वह दुःखान्त नहीं हो सकता। अन्तिम प्रभाव के अनुसार ही इसकी परिभाषा करना उचित है। किसी सच्चरित्र, परोपकारी, देशभक्त व्यक्ति की मृत्यु वेदनापूर्ण जीवन-घटनाएं, जीवन-भर प्रतिकूल परिस्थितियों से युद्ध करते रहने पर भी अन्त में भारी असफलता यदि नाटक में वर्णित हो तो वह दुःखान्त कहला सकता है। उसका अन्तिम और स्थायी प्रभाव करुणा ही होगा। दर्शक छलकती पलकें और करुणाहत मन लिये प्रेक्षा-गृह से बाहर आयगा। दुःखान्त नाटक में सद् पात्र, नायक-नायिका—सभी बड़े-से-बड़ा कष्ट

गम्भीरता से सहन करते हैं, रो-चिल्लाकर नहीं। दर्शक की संवेदना पीड़ित पात्र से बराबर बढ़ती जाती है। शेक्सपियर के हेमलेट, जूलियस सीजर, रोमियो-जूलिएट, मेकबेथ अमर दुःखान्त रचनाएं हैं। हिन्दी में 'दाहर','स्वप्न-भंग', 'सिन्दूर की होली' इसी वर्ग में आयंगे।

सुख-सफलता में अन्त होने वाले नाटक सुखान्त कहलाते हैं। ऐसा नहीं, कि सुखान्त नाटक में दुःख, पीड़ा, करुणा, अत्याचार की घटनाएं होती ही नहीं। इनमें करुणा और दुःख की घटनाएं आती हैं, पर अन्त इनका सुख या सफलता में होता है। दर्शक सुख, आनन्द,उत्साह से भरा हृदय लेकर उठता है। वह प्रसन्नता की स्फूर्ति लेकर घर जाता है। 'शकुन्तला' में भी बीच में शकुन्तला का करुण जीवन चित्रित है। दुष्यन्त भी वियोग-विह्वल होकर आंसुओं की झड़ी लगाता है, पर इसका अन्त शकुन्तला-दुष्यन्त-मिलन में होता है। इसलिए यह सुखान्त नाटक है। सुखान्त नाटक में नायक-नायिका आदि सब विघ्न-बाधाओं और उत्पीड़न-दुःखों से पार निकलकर सफलता पाते हैं। ऐसे भी सुखान्त नाटक हो सकते हैं, जिनमें दुःख और करुणा की घटनाएं ही न हों। शेक्सपियर के 'मर्चेंण्ट, ऑव वेनिस' और हिन्दी के'शपथ', 'चन्द्र-गुप्त मौर्य', 'राज-मुकुट', 'उद्धार', 'वत्सराज', 'विद्यासुन्दर' तथा 'शिवा-साधना' सुखान्त नाटक हैं।

प्रसादान्त या प्रशान्त नटकों में सुख-दुःख का उचित अनुपात में विलक्षण मिश्रण रहता है। प्रसादान्त नाटक का प्रभाव मंगलकारी या शान्ति-रसपूर्ण होता है। इस प्रकार के नाटकों में नायक-नायिका भयंकर वेदनाएं सहते और महान् त्याग करते हैं। उनकी करुणा और वेदना देखकर सामाजिक सिसक-सिसक उठते हैं। त्यागी, वीर, परोपकारी पात्रों या नायक-नायिका की मृत्यु भी हो सकती है, पर इन सब दुःखद घटनाओं से विश्व-मंगल का उदय होता है। सामाजिक का करुणा-विह्वल हृदय सन्तोष की साँस लेता है। दर्शक की भीगी पुतलियों में भी उज्ज्वल भविष्य का चित्र चमक उठता है। प्रशांत या प्रसादान्त नाटकों का प्रभाव सुखान्त और दुःखान्त दोनों से कहीं स्वस्थ और स्थायी होता है। प्रसादान्त नाटक के सुख-दुःख मानव-कल्याण में समा जाते हैं।

इन नाटकोंमें मनोरंजन और करुणा से परे विश्व-मंगलका दर्शन प्रतिष्ठित किया जाता है। इसप्रकार के नाटक करुणा और मुस्कान की लड़ियों को जोड़ने वाली कड़ी हैं। 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' तथा 'ध्रुवस्वामिनी', उदयशंकर भट्ट के 'मुक्ति-पथ' और 'विक्रमादित्य', 'प्रेमी' के 'विष-पान' और

'रक्षा-बन्धन' प्रसादान्त नाटक है।

उद्देश्य की दृष्टि से ही वर्गीकरण में रस का समावेश भी हो जाता है। कुछ समीक्षक कथा को लेकर वर्गीकरण करते हैं--ऐतिहासिक, पौराणिक-सामाजिक, समस्या-प्रधान। ऐतिहासिक भी समस्या-प्रधान हो सकता है, पौराणिक भी। ऐतिहासिक-पौराणिक सामाजिक भी हो सकते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक होते हुए सामाजिक भी है और समस्या-प्रधान भी। इसलिए यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं जँचता।

नाटक के सम्पूर्ण विषय, आदर्श और आस्था को दृष्टि में रखकर भी वर्गीकरण अनेक विद्वान् करते हैं। कुछ नाटक ऐसे होते हैं, जिनमें आदर्श चरित्र और जीवन चित्रित रहते हैं। वैसे चरित्र चाहे संसार में मिले नहीं, पर वैसे हो, यह कामना उन नाटकों में रहती है। 'है' का आग्रह नहीं, 'चाहिए' का आग्रह उनमें शासन करता है। वे आदर्शवादी वर्ग में आते हैं। कुछ ऐसे भी नाटक होते हैं, जिनमें यथार्थ जीवन का चित्रण रहता है। मनुष्य का भौंडे-से-भौंडा रूप उनमें मिलेगा। चरित्रों में पाप-पुण्य भी उसी मात्रा में है, जिसमें वास्तविक जीवन पाया जाता है। ऐसे नाटक यथार्थवादी वर्ग में गिने जाते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं, जिनमें प्राचीन परम्परा, शील, नियम आदि भंग करके स्वच्छन्द पथ अपनाया जाता है। इनमें कल्पना की प्रधानता तथा रोमान्चकर और विस्मयजनक तत्वों का अधिक समावेश होता है। इन्हें स्वच्छन्दतावादी या रोमांचवादी वर्ग में गिना जाता है। पर यह वर्गीकरण भी युक्तियुक्त और वैज्ञानिक नहीं।

भारत में दुःखान्त नाटक

हमने नाटकों के तीन वर्ग किये हैं—दुखान्त, सुखान्त और प्रसादान्त। भारतीय साहित्य में सुखान्त और प्रसादान्त नाटकों की रचना हुई—दु:खान्त नाटक लिखने का प्रयत्न नहीं हुआ। संस्कृत में जितने नाटक लिखे गए, सभी सुखान्त। 'उरुभंग' में दुर्योधन की मृत्यु अवश्य दिखाई गई है, पर वह भी दु:खान्त नहीं कहा जा सकता। दुर्योधन की मृत्यु देखकर शायद ही ही किसी को दु:ख हो। उससे सामाजिक सुख ही अनुभव करेंगे। 'उत्तर-रामचरित' करुणा से ओत-प्रोत होने पर भी दु:खान्त नहीं कहला सकता। राम और सीता का मिलन हो जाता है। अश्रुभीगी पलकों में मुस्कान चमक उठती है। नाटक का अन्त सुख में है। भारतीय साहित्य की सहस्रों वर्ष की परम्परा में एक भी दुःखान्त नाटक न होना, सचमुच विस्मय-जनक है

और साहित्य की माँग की भारी उपेक्षा भी।

संस्कृत-साहित्य की अपनी आस्थाएं, जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण और साहित्य-सिद्धान्त भी भिन्न हैं। जिस समय संस्कृत नाटक लिखे जाते रहे, समाज की अवस्था आज की अवस्था से बिलकुल भिन्न थी। जीवन की उलझन भरी समस्याएं उन दिनों इस प्रकार नहीं घेरे थीं। उस युग में साहित्य पर आनन्दवादी दर्शन का प्रभाव होना आवश्यक रहा। ऐसा नहीं कि अभाव, पीड़ा, वेदना या वियोग जीवन में था नहीं। सब-कुछ था; पर साहित्य में आने के लिए नहीं। उन दिनों साहित्य जीवन से अलग अलौकिक आनन्द का साधन बना हुआ था।

आज की अवस्था बिलकुल भिन्न है। साहित्य की प्राचीन आस्थाएं बदल चुकी हैं। पुराने विश्वासों की बुनियादें खोखली हो चुकी हैं। पीड़ा-विह्वल पहलू भी जीवन की यथार्थता है। साहित्य जीवन की व्याख्या ही नहीं, जीवन का यथार्थ रूप बनता जा रहा है। आनन्द की कल्पित पार-लौकिक आशा का भुलावा त्यागकर कलाकार वर्तमान के आँसुओं को बहुत महत्त्व देता है तो भी आजकल हिन्दी में दुःखान्त नाटकों का अभाव ही है। स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य भी पूर्ण रूपसे जीवनका साहित्य नहीं बन पाया।

सुखान्त या प्रसादान्त नाटकों की हिन्दी में काफी संख्या मिल जायगी। 'प्रसाद' जी के अधिकतर नाटक तो प्रसादान्त श्रेणी में आते ही हैं, अन्य लेखकों ने भी इस प्रकार के नाटक लिखने में रुचि दिखाई। उदयशंकर भट्ट के 'विक्रमादित्य', 'मुक्तिपथ' तथा 'शक-विजय' इसी वर्ग में गिने जायंगे। 'प्रेमी' का 'विष-पान' भी दुःखान्त से अधिक प्रशान्त या प्रसादान्त ही है। सुखान्त नाटकों की संख्या तो सैकड़ों तक पहुँचती है। दुःखान्त नाटक न होने के ही समान हैं। दुःखान्त नाटक लिखने की नींव भारतेन्दु-काल में ही पड़ चुकी थी। भारतेन्दु का 'नीलदेवी' दुःखान्त ही है। 'रणधीर प्रेम मोहिनी' भी उसी युग में लिखा गया, पर वह भी खोखली नींव का पत्थर बनकर रह गया। प्रसाद-युग में एक भी दुःखान्त नाटक नहीं रचा गया।

प्रसादोत्तर काल नवीन टैकनीक, नवीन विचार-धारा और स्वाधीन कला लेकर आया, पर दुःखान्त नाटक-रचना की दृष्टि से यह युग भी भारी अभाव की पूर्ति न कर सका। इस युग में भी कोई महान् दुःखान्त नाटक किसी लेखक की प्रतिभा प्रस्तुत न कर सकी। शेक्सपियर के 'हेमलेट', 'रोमियोजूलिएट' तथा 'जूलियस सीजर' के समान क्या हमारे पास एक भी नाटक है। इन तीस वर्षोंमें केवल तीन-चार दुःखान्त नाटकों को हिन्दी उत्पन्न कर सकी। कलाकी

दृष्टि से वे भी अधिक सबल नहीं। 'दाहर' तो टैकनीक की दृष्टि से पूर्णतः असफल है। 'स्वप्न-भंग' और 'सिन्दूर की होली' भी दोषों से मुक्त नहीं।

अभाव के कारण और समीक्षा

भारतीय साहित्य में इस अभाव के अनेक कारण भी प्रस्तुत किये जाते हैं, जो प्रायः सभी समीक्षक आज तक दोहराते चले आ रहे हैं। लगता है, किसी एक समीक्षक ने दो-चार कारण कल्पित कर डाले और पुरखों की सम्पत्ति के समान सभी परवर्ती समीक्षक उनका उत्तराधिकार भोगते चले आ रहे हैं। उन कारणों में 'अभाव' की वकालत भी की गई दिखाई देती है और गौरव का भाव भी प्रकट होता है। स्पष्ट है, यह अभाव अभी तक न समीक्षक की दृष्टि में साहित्य की निर्धनता है, न नाटककार की दृष्टि में गौरव-हीनता। तब दुःखान्त नाटक-रचना की ओर ध्यान ही क्यों जाय ?

दुःखान्त नाटकों के अभाव के कारण प्रायः ये दिये जाते हैं—१ भारतीय साहित्य में काव्य का प्रयोजन अलौकिक आनन्द माना गया है। मृत्यु, राज-विप्लव, सत्पुरुषों की पीड़ा, करुणा आदि दिखाना वर्जित है। इस प्रकार के दृश्यों से सामाजिक लौकिकता अनुभव करेंगे और इससे नाटक के आनन्द में बाधा पड़ती है। २—नाटक आदि में करुणाजनक दृश्य और दुःखान्त जीवन देखकर हमारे मन में कृत्रिम करुणा उत्पन्न होगी। इससे हमारी स्वाभाविक या प्रकृति-प्रदान करुणा का ह्रास हो जायगा। हम अन्य लोगों को पीड़ित देखने के आदी हो जायंगे। हमारे मन में संवेदना जाग्रत नहीं होगी। ३—रात-दिन जीवन में हम पीड़ा और करुणा देखते हैं। नाटक में सुख को भूलना चाहते हैं। नाटक का उद्देश्य जनरंजन या आनन्द है, जैसा कि भरत के नाट्य-शास्त्र में नाटक की उत्पत्ति की कथा से प्रकट है। ४—जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सुखमय है। वह इसे सुखमय देखना चाहता है। हमारे यहाँ, इसलिए जन्म-दिवस के उत्सव मनाए जाते हैं, मृत्यु-दिवस पर शोक-सम्मेलन नहीं होते। ५—सत्पुरुषों पर कष्ट पड़ते देखकर हमें ईश्वरीय न्याय में सन्देह होने लगता है। कहीं ऐसा न हो कि इन दुःखान्त नाटकों को देखकर सामाजिक ईश्वर के अस्तित्व में ही आस्था न रखने लगें।

'आनन्दवाद' भारतीय जीवन का विशेष अंग है, इसमें सन्देह नहीं। जीवन-दर्शन के प्रभाव का परिणाम साहित्य में अवश्य मिलेगा। पहला, तीसरा, और चौथा कारण 'आनन्दवाद' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसका प्रभाव साहित्य के सभी क्षेत्रों में पड़ना अनिवार्य है। दुःखान्त नाटकों के अभाव का

बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जीवन के प्रति सुखमय दृष्टिकोण पर डाला जा सकता है। पर सर्वदा भारतीय जीवन में आनन्दवादी दर्शक का ही प्रभाव नहीं रहा। बौद्ध दर्शन में तो आनन्दवाद का तिरस्कार है। करुणा बौद्ध दर्शन की आत्मा है। करुणा के द्वारा ही आत्मा निर्वाण-पथ पर अग्रसर होती है। बौद्ध दर्शन का प्रभाव भारतीय जीवन पर कम तो नहीं रहा। प्रभाव के अनुपात को देखें तो आज भी भारतीय जीवन में विश्व के प्रति विरागपूर्ण दृष्टिकोण ही अधिक मिलेगा। आनन्दवादी दृष्टिकोण भी पूर्ण रूप से दुःखान्त नाटकों के अभाव के लिए उत्तरदायी नहीं।

दूसरा और पाँचवाँ कारण समीक्षकों की कल्पना की कसरत है। यदि दुःखान्त नाटक देखनेसे हृदयमें कृत्रिम करुणा उत्पन्न होगी तो सुखान्त नाटक देखने से रति, उत्साह, क्रोध, हास तथा विस्मय भी कृत्रिम ही होंगे। कृत्रिम भावोदय या भावोत्तेजन में रसानुभूति हो ही नहीं सकती। फिर अलौकिक आनन्द या ब्रह्मानन्द का सहोदर (अनुज या अग्रज जो भी हो) कहाँ से प्राप्त होगा? तब तो रस-सिद्धान्त अवैज्ञानिक हुआ। और जिस प्रकार नाटक में करुणा, वेदना, दुःखान्त जीवन देखकर हम आदी हो जायंगे, दुखी मनुष्य को देखकर हमारे हृदय में दया, संवेदना करुणा उत्पन्न न होगी, उसी प्रकार क्या रति उत्साह, हास, विस्मय आदि के दृश्य देखकर भी हम आदी नहीं हो जायंगे? किसी वीर की उत्साहपूर्ण वीरोक्तियाँ सुनकर उसकी विजय में हमें आनन्द न होगा—उत्साह न होगा, किसी अद्भुत कार्य को देखकर विस्मय न होगा, किसी अद्भुत कार्य की बातों पर हँसी न आयगी। तब सुखान्त नाटक की भी क्या आवश्यकता?

ईश्वरीय न्याय पर सन्देह होने की बात तो और भी हास्यास्पद है। जब एक मनुष्य जीवन में देखता है कि एक सज्जन, सदाचारी, परोपकारी पर कष्ट पर-कष्ट आते हैं—गांधी-जैसे सन्त गोली से मार दिए जाते हैं—शंकर और दयानन्द को भी विष दिया जाता है—तब उसको ईश्वरीय न्याय में आस्था रह जायगी? यदि जीवन में सत्य होते हुए वह देखता है कि अनेक भले आदमियों का जीवन वेदना में ही व्यतीत होता है, तब उसकी भावना पर चोट नहीं पहुँचती? नाटक में तो फिर भी बचाव है—वह यथार्थ नहीं, रूपक है—अभिनय है। कृत्रिम करुणा के सिद्धान्तानुसार नाटक कृत्रिम है। दूसरा और पाँचवाँ कारण केवल संख्या बढ़ाने के लिए ही है, इनमें तथ्य कुछ भी नहीं।

भारतीय साहित्य में दुःखान्त नाटक न लिखे जाने के कारण कुछ और भी

हैं। हमारे विचार में इसका प्रमुख कारण है, साहित्य को जीवन से दूर की वस्तु समझना। साहित्य का प्रयोजन और आदर्श ही हमारे यहाँ भिन्न रहा है। प्राचीन भारत में साहित्य जीवन की यथार्थ व्याख्या नहीं बन सका—किसी आदर्श का ही चित्रण करता रहा। यथार्थ जीवन-चित्रण करने की ओर पग बढ़ाया ही नहीं गया। 'जीवन क्या है,' की ओर दृष्टि न करके, 'क्या हो' की ही चिन्ता साहित्यकारों को रही। यथार्थ जीवन में दुःख, निराशा, वेदना, असफलता भी हैं और सफलता,आशा-सुख भी। साहित्य का दृष्टिकोण एकांगी होने के कारण वह जीवन का सुखी पहलू ही अपना सका।

नाटक जनता की सम्पत्ति बन सकता था; पर ऐसा हुआ कहाँ? जनता की वस्तु न होने से उसमें बहु-संख्यक जन-जीवन की बात आ ही कैसे सकती थी? बहुसंख्यक मनुष्यों का जीवन प्रत्येक युग में करुणा-प्लावित और वेदना-हत रहा है। तुलनात्मक रूप में अल्पसंख्यक मनुष्य ही सुखी रहते हैं। साहित्य—नाटक भी—यहाँ बहुसंख्यकों की धरोहर नहीं बना। तब बहु-संख्यकों का जीवन उसमें कैसे आ सकता?

नाटक आदि की रचना या तो सम्पत्तिवान राजाओं-महाराजाओं के मनोरंजन के लिए होती थी या उनके आश्रय में रहकर। अश्वघोष, कालि-दास,भवभूति आदि प्रसिद्ध नाटककारों ने राज्याश्रय में रहकर ही अपनी कृतियों की रचना की। प्राचीन प्रेक्षा-गृह भी अधिकतर राजाओं-महाराजाओं ने निर्मित कराये। स्पष्ट है, उन्हीं के मनोरंजन के लिए उनमें नाटक अभिनीत भी होते थे। वैभवशाली मनुष्यों का जीवन सुखी था—उनका जीवन चित्रित किया जाना स्वाभाविक भी है। उन सम्पत्तिवान राजाओं को क्या पड़ी कि करुणा-व्याकुल जीवन के चित्र देखकर अपने सुख-विलास में क्षण-भर भी बाधा डालें। आश्रय दाताओं की रुचि दुःखान्त नाटकों की ओर कभी होती न थी, फिर किनके लिए इस प्रकार के नाटक लिखे जाते?

कहा जा सकता है, नाटक जनता की सम्पत्ति है।

शूद्रों तक को इसमें आनन्द लेने का अधिकार है। नाटक की उत्पत्ति की कहानी से भी यह प्रकट है। उनको आनन्द देने के लिए ब्रह्मा ने चारों वेदों से चार तत्त्व लेकर इस पंचम वेद की रचना की। न तो इस कहानी से ही, और न नाटक के विकास और इतिहास से ही यह सिद्ध होता है कि नाटक जन-साधारण के लिए लिखे गए या अभिनीत हुए। हाँ, नाटक के जन्म की कहानी और विकास से शूद्रों के प्रति दया-दान की स्वीकृति अवश्य सिद्ध होती है, अधिकार की बात नहीं। यदि नाटक सर्वसाधारण की वस्तु होता,तो उसमें

जन-जीवन का चित्रण रहता। पूरे संस्कृत-साहित्य में केवल शूद्रक का एक 'मृच्छकटिक' न होता, सैकड़ों ऐसे नाटक रचे गए होते।

दुखान्त नाटकों के अभाव का कारण भारतीय जीवन-दर्शन का पलायनवाद भी है। यथार्थ से मुख मोड़ना—काल्पनिक परलोक में आनन्द के लिए भटकना भारतीय जीवन का विशेष दर्शन है। इसलिए साहित्य, काव्य, कला—सबमें परलोक का मुलम्मा अवश्य जोड़ दिया गया। जीवन की यथार्थ वेदनाओं, विफलताओं कटुताओं और कठोरताओं की ओर से आँखें मीचकर, काल्पनिक जीवन की मधुरताओं, सफलताओं, वैभव और आनन्द की ओर ही ध्यान दिया गया। परिणाम में हुआ--सुखी जीवन का चित्रण, आनन्द-उल्लास का साहित्य-निर्माण। जीवन के करुण पक्ष की उपेक्षा की गई। तब यहाँ दुःखान्त नाटकों की सृष्टि कैसे होती?

कहा जा सकता है, हिन्दी-साहित्य तो जन-जीवन के अत्यन्त निकट है। जन-जीवन का चित्रण भी इसमें है। आदर्शवाद भी इससे कभी का पलायन कर चुका। राजा-रईसों के लिए यह लिखा भी नहीं जा रहा। तब हिन्दी में दुःखान्त नाटक क्यों नहीं? साहित्य के अन्य अंग जनता की चीज हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर नाटक अभी तक जनता की वस्तु नहीं। कितने पाठक हैं नाटकों के? किन नगरों में किन नाटकों का अभिनय किया जाता है? नाटकों की खपत कितनी है?—नहीं के बराबर। ये जनता के लिए लिखे भी नहीं जा रहे। आज राजाओं-महाराजाओं के लिए न सही, कोर्स में लगने लिए अधिकतर नाटक लिखे जा रहे हैं। कोर्स में लगे नाटकों की बिक्री भी है। नाटकार तो कम-से-कम आज भी स्वतन्त्र नहीं। आश्रयदाता का नाम बदला है। पहले राजा-महाराजा थे, आज विश्वविद्यालय—शिक्षा-विभाग हैं? जनता में रुचि कहाँ? पैदा भी कहाँ की जाती है? लेखकों को जीवित रहना है—जीवित रखने वाले शिक्षा-विभाग हैं—विश्वविद्यालय हैं।

प्रसादोत्तर काल के अधिकतर नाटककार नाटकीय प्रतिभा के बल पर नहीं, पाठ्य-क्रम में स्वीकृत होने के लिए नाटक लिखकर नाटककार बने हैं। इस काल के अधिकतर नाटकों में जन-जीवन की झाँकी पाना असम्भव है। इनमें यथार्थ जीवन का चित्रण नहीं, शिक्षा-विभाग के नियमोपनियमों की माँग और शिक्षा-समिति के सदस्यों की रुचि का विनम्र उत्तर ही मिलेगा।

इतिहास का मोह भी अभी हिन्दी नाटककार को बुरी तरह दबोचे है। अपने इतिहास की उपेक्षा, अपराध है; पर वर्तमान जीवन की उपेक्षा आत्म-घात है। केवल इतिहास से चिपटे रहना, जड़ता है। यही जड़ता हिन्दी-

नाटककार को आन्तकित किये है। दुःखान्त नाटक लिखने के लिए नाटकीय दिव्य प्रतिभा अपेक्षित है, वह अभी किसी नाटककार में प्रकट नहीं हुई। तलवारें चलवाना, घोड़े दौड़ाना, देश का नाम ले-लेकर गौरव का बखान करना कठिन नहीं, कठिन है एक क्लर्क, मजदूर, किसान, अध्यापक के करुण जीवन से सामाजिकों को आँसुओं में डुबाना। कठिन काम में हाथ क्यों डाला जाय—असफलता का खतरा। ऐसा ही काम क्यों न चुना जाय, जिसमें सफलता की गारण्टी हो।

हिन्दी-नाटक-विकास

हिन्दी-नाटक-परम्परा, अनूदित और मौलिक दोनों रूपों में, संस्कृत-नाटकों के प्रभाव और प्रेरणा से आरम्भ हुई। जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह ने संस्कृत से ब्रजभाषा में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद, संवत १७०० वि० में किया। इसके पचास वर्ष बाद रीवां-नरेश विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन' लिखा। ये दोनों रचनाएं हिन्दी में सर्व प्रथम अनूदित और मौलिक नाटक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आपने पिता गोपालचन्द्र-रचित 'नहुष' को सर्व प्रथम नाटक मानते हैं। इसमें पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान आदि का नियम पालन हुआ है। 'नहुष' सर्व प्रथम नाटक भी माना जाय, तो भी उससे नाटकीय परम्परा नहीं चली।

हिन्दी-नाटक-परम्परा का आरम्भ अनुवादोंसे ही हुआ। राजा लक्ष्मणसिंह ने सम्वत् १९१६ वि० में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद किया। इसके पाँच-छः वर्ष बाद भारतेन्दु जी ने संस्कृत से 'रत्नावली' का अनुवाद और बंगला से 'विद्यासुन्दर' का रूपान्तर प्रस्तुत किया। इसके बाद उनके 'पाखण्ड-विडम्बन', 'धनञ्जय-विजय', 'कर्पूर-मंजरी', 'मुद्राराक्षस'—अनूदित; 'चन्द्रावली', 'भारत-जननी', भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'सती प्रताप', 'विषस्य विषमौषधम्'—मौलिक और 'सत्य-हरिश्चन्द्र'—रूपान्तरित नाटकों का उदय हुआ। भारतेन्दु जी की सर्व प्रथम मौलिक रचना 'वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति' है। इसकी रचना-सम्वत् १९३० वि० में हुई।

भारतेन्दु-युग में और भी लेखकों ने नाटक लिखे। 'भारत-सौभाग्य' (प्रेमघन), 'तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजो बार' (प्रतापनारायण मिश्र), 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास), 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (श्रीनिवासदास), 'प्रणयनी-प्रणय' और 'मयंक-मंजरी' (किशोरीलाल

गोस्वामी) 'काम-कन्दला' और 'माधवानल' (शालिग्राम) नाटक भी भारतेन्दु-युग में प्रसूत हुए। इन नाटकों के नाम ही से इनके विभिन्न विषय प्रकट हैं। मालूम होता है, भारतेन्दु-युग में लेखकों का ध्यान राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक सभी विषयों पर जाने लगा था।

भारतेन्दु जी की प्रतिभा ने अपने युग के सभी लेखकों को प्रेरित और प्रभावित किया। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों से कथानक लेकर अनेक प्रकार के नाटक लिखे। भारतेन्दु की दिव्य लेखनी से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सभी प्रकार के नाटक प्रसूत हुए। शृङ्गार, वीर, हास्य, करुणा आदि अनेक रसों का उनकी रचनाओं में समावेश है। यही बात भारतेन्दु-काल के अन्य नाटकों पर भी लागू होती है। प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, और राधाकृष्णदास के नाटक राष्ट्रीय वर्ग में आयेंगे और शेष सामाजिक में। इस युग के सभी नाटकों पर संस्कृत-शैली का प्रभाव है। भारतेन्दु जी भी संस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं, यद्यपि उन्होंने अपनी स्वाधीन नाट्य-प्रतिभा का भी पर्याप्त परिचय दिया था। नान्दी-पाठ, मंगलाचरण, भरत-वाक्य, प्रस्तावना आदि इस काल में अधिकतर नाटकों में पाये जाते हैं।

भाषा के सम्बन्ध में एक नियम-सा स्वीकृत मालूम होता है कि गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रजभाषा रहनी चाहिए। पद्यात्मक संवादों की मन उकता देने वाली भरमार है। स्वगत-भाषण भी बहुत हैं। 'सज्जाद-सम्बुल' और 'समसाद सौसन' ने भी इस युग में ख्याति पाई; इनकी भाषा उर्दू से बहुत ही अधिक प्रभावित है। इस युग के नाटक प्राचीन परिपाटी पर ही लिखे गए; पर उनमें नवीनता की ओर बढ़ने की आकुलता अवश्य पाई जाती है। धर्म का आतंक घटता दीखता है। नाटक स्वाधीन होने की बेचैनी लिये समाज और इतिहास का आलिंगन करता हुआ पाया जाता है। व्यंग्य का विशेष पुट भी उनमें दिया जाने लगा था। खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ता मालूम होता है और उर्दू के शब्दों का बेधड़क प्रयोग करके भाषा को अधिक स्वाधीन बनाने का प्रयत्न भी प्रकट होता है। इस युग में चरित्र-चित्रण का विकास नहीं हो पाया। आन्तरिक संघर्ष बहुत कम नाटकों में मिलेगा। बाहरी सक्रियता विशेष रूप में पाई जाई है, आन्तरिक द्वन्द्व की घुटन और मथनता नहीं मिलती।

भारतेन्दु के बाद से और 'प्रसाद' के पूर्व तक हिन्दी-नाटकों का संक्रान्ति-काल रहा। इस युग में नाटकों की प्रगति तो हुई ही नहीं, दुर्गति अवश्य हुई। अनुवादों की ऐसी बाढ़ आई कि मौलिक नाटकों की ओर किसी

का ध्यान ही न गया। संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी सभी भाषाओं से अनुवादों का ढेर लगा दिया गया। बँगला से रवीन्द्रनाथ और द्विजेन्द्रलाल राय, अंग्रेजी से शेक्सपियर, संस्कृत से भवभूति आदि की रचनाओं के अनुवादों की होड़-सी लग गई। रूपनारायण पाण्डेय, लाला सीताराम, सत्यनारायण कविरत्न आदि ने अनुवाद के क्षेत्र में बड़ा काम किया। इस काल में जो मौलिक नाटक लिखे गए, वे किसी रूप में भी नई बात पैदा नहीं कर सके, केवल भाषा अधिक मँजी हुई होने लगी और ब्रजभाषा पद्यों से भी प्रस्थान कर गई। 'दुर्गावती', 'चन्द्रगुप्त', 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'चन्द्रहास'—सभी नाटक हरिश्चन्द्र युग के नाटकों के समान हैं। इस युग में आगा हश्र, नारायणप्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण जौहर आदि ने रंगमंच के लिए हिन्दी-नाटक प्रस्तुत किये। अस्वाभाविकता और कलाहीनता इनमें खटकने वाले मुख्य दोष हैं।

सक्रान्ति काल या सन्धि-काल के बाद प्रसाद-युग आता है। प्रसाद-युग हिन्दी-नाटकों के इतिहास में उत्थान या स्वर्ण युग है। इसी युग में 'प्रसाद' ने भारती के मंदिर में नाटकों की दिव्य भेंट चढ़ाई। नाटक को स्वस्थ, साहित्यिक, कलापूर्ण, स्वाभाविक मौलिक और स्वाधीन रूप देने का सर्व-प्रथम श्रेय प्रसाद की प्रतिभा को ही है। प्रसाद युग में हिन्दी-नाटक-कला, शैली, टैकनीक आदि की दृष्टि से पूर्ण विकास को पहुँचा। नाटक धर्म के आतंक से स्वाधीन हुआ। यद्यपि पौराणिक नाटक भी लिखे जाते रहे; पर धार्मिक और पौराणिक कथानकों का स्थान ऐतिहासिक, सामाजिक या राष्ट्रीय कथानकों ने लिया। प्रसाद के 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी' इसी युग में प्रकाशित हुए। 'दुर्गावती' (बद्रीनाथ भट्ट), 'प्रताप प्रतिज्ञा' (मिलिन्द), 'महात्मा ईसा' (उग्र), 'विक्रमादित्य' (उदयशंकर भट्ट), तथा 'हर्ष' (गोविन्ददास) आदि अनेक ऐतिहासिक नाटक इसी युग में लिखे गए।

इस युग में हिन्दी-नाटक संस्कृत के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो गया। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' और 'अजातशत्रु' पर अवश्य कुछ हलका-सा प्रभाव है। इनमें पद्यात्मक संवाद भी है और मंगलाचरण तथा भरतवाक्य जैसे स्तुति और आशीर्वचन भी। इनके पश्चात् लिखे गए नाटक शुद्ध मौलिक रूप उपस्थित करते हैं। अंक तथा दृश्यों का विभाजन सीधा-सादा अंग्रेजी ढंग का है। भारतीय और पाश्चात्य पद्धति का स्वाभाविक सहज सामंजस्य भी इस युग के नाटकों में हुआ। स्वगत कम होते-होते विलीन हो गया।

पद्यात्मक संवाद बिलकुल समाप्त हुए। अवसरोपयुक्त गीतों का चलन बढ़ा। संवाद स्वाभाविक, और सजीव रसानुकूल और नाटकोचित लिखे गए।

अनेक अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् 'प्रसाद' की नाट्य-कला में विकास होता गया। क्रमशः उनका दृश्य-विधान सरलता की ओर बढ़ा है। 'प्रसाद' जी द्वारा इस युग में कला तथा टैकनीक के क्षेत्र में नवीन प्रयोग भी किये गए। एक-एक अंक की लघुनाटिकाएं भी प्रसाद ने लिखीं। हिन्दी में एकांकी का जन्म प्रसाद-युग में ही हुआ। 'ध्रुवस्वामिनी' अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सफल रचना है। इसमें तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक ही दृश्य-नाट्य-कला में यह नवीन प्रयोग समझना चाहिए। प्रसादोत्तरकाल में इसी टैकनीक को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने और भी विकसित करके आगे बढ़ाया।

चरित्र-चित्रण की ओर लेखकों का विशेष ध्यान जाने लगा। 'प्रसाद' के सभी नाटक आदर्शवादीवर्ग में आयंगे; पर उनमें चरित्रों का उद्घाटन भी बहुत सफलता से हुआ है। बाह्य और आन्तरिक दोनों संघर्षों की आग में तपते, तिलमिलाते, चीत्कार करते, गिरते-सँभलते पात्र इस युग के नाटकों में पाये जाते हैं। राष्ट्र-निर्माण के नशे में चूर चाणक्य भी अपने हृदय की बेचैनीभरी धड़कन सुनाता है। अपना वक्ष चीर दिखाता है। चन्द्रगुप्त और कल्याणी के चरित्रों में भी उतार-चढ़ाव है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, विजया, अनन्तदेवी, भटार्क आदि में तो चरित्र का पूर्ण विकास और स्वाभाविकता लक्षित है। 'विक्रमादित्य' का भी इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है। इस युग के सभी नाटकों में चरित्र-विकास के पर्याप्त लक्षण मिल जायंगे।

'प्रसाद' के भी कुछ नाटकों को सम्मिलित करते हुए, इस युग के नाटकों में अभिनय तत्त्व का भी विकास देखने में आता है। कार्य-व्यापार नाटक की जान है—अभिनय का एक मुख्य अंग। प्रसाद-युग के नाटकों में कार्य-व्यापार काफी मात्रा में मिलता है। रंगमंच और साहित्य का मेल कराने की ओर भी सजगता पाई जाती है। 'दयानन्द', 'महात्मा ईसा', 'वरमाला', 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'राज-मुकुट','ध्रुवस्वामिनी' आदि में दोनों विशेषताएं मिलेंगी।

देश की विभिन्न सामाजिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं की ओर भी इस युग के नाटकों का ध्यान है। वे अपने देश की माँग के प्रति सजग हैं। अनेक नाटकों में इस माँग का उत्तर भी है। राष्ट्रीय भावना की सभी नाटकों में स्पष्ट छाप है। 'महात्मा ईसा' भी इससे अछूता नहीं। 'प्रसाद' के सभी नाटक राष्ट्रीय गौरव के प्रकाश-स्तम्भ हैं। अन्य लेखकों के नाटक भी युग की इस चेतना से ओत-प्रोत हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' द्वारा सामाजिक समस्या

का हल भी प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न है। इसमें 'ध्रुवस्वामिनी' के अनधिकारी निर्बल तेजहीन पति सम्राट रामगुप्त को मारकर उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय सम्राट बनता है। ध्रुव स्वामिनी देवी धर्मगुरु द्वारा साम्राज्ञी घोषित की जाती है। दोनों का विवाह धर्म-सम्मत ठहराया जाता है। स्पष्ट है, यह युग जीवन की समस्याओं के प्रति भी सचेत था।

प्रसाद-युग के बाद हिन्दी-नाटकों का नवयुग आरम्भ होता है। इसे प्रसादोत्तरकाल कहा जाता है। इस युग में उन सभी प्रयोगों का विकसित रूप हम देखते हैं, जो 'प्रसाद' ने किये थे। इस युग में उनकी प्रेरणा का प्रभाव भी अनेक नाटककारों पर स्पष्ट है। 'प्रसाद' के प्रभाव से भी इस युग में मुक्ति पाने का स्वस्थ प्रयत्न हुआ। ऐतिहासिक नाटकों की धारा बराबर बहती रही। राष्ट्रीय चेतना इस युग के नाटकों में और भी सबल होकर आई। मौर्य-गुप्त-कालीन इतिहास का अवलम्ब त्यागकर राजपूत और मुगलकालीन इतिहास की ओर अधिक ध्यान गया। हिन्दू-मुस्लिम-एकता, देश-भक्ति, बलिदान-भावना इस युग के नाटकों में विशेष रूप से देखने को मिलती है। 'प्रेमी' के सभी नाटक राजपूत और मुगलकालीन इतिहास की कथाओं पर लिखे गए। पौराणिक नाटक भी लिखे जाते रहे; पर प्रेमी के 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा साधना', 'प्रतिशोध' तथा 'स्वप्न भंग' ने जनता का ध्यान बहुत आकर्षित किया।

इस युग में उल्लेखनीय बात यह हुई कि नाटककारों का ध्यान प्राचीन से हटकर वर्तमान पर अधिक गया। वर्तमान जीवन की दैनिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं को विचार-प्रधान ढंग पर सुलझाने में नाटककार प्रवृत्त हुए। राजा-महाराजाओं को धता बताकर मजदूर-किसान, क्लर्क, अध्यापक, व्यापारी, सुधारक, नेता, वकील, डॉक्टर आदि को नाटकों में नायक आदि का स्थान मिला। इस युगके प्रमुख प्रगतिशील नाटकोंपर इब्सन, शा तथा गाल्सवर्दी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। नाटक काल्पनिक जीवन से हटकर यथार्थ की भूमि पर आया। पात्र, चरित्र-चित्रण, भाषा, वेश-भूषा—सभी में यथार्थ चित्रण की अभिरुचि इस युग की विशेष प्रवृत्ति है।

यथार्थवादी प्रगतिशील समस्या-प्रधान नाटक लिखने का सर्व प्रथम श्रेय श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। 'राजयोग', 'राक्षस का मंदिर', 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य' तथा 'सिन्दूर की होली' लिखकर इन्होंने हिन्दी में नई धारा आरम्भ की। 'राक्षस का मंदिर' 'संन्यासी' में उन्मुक्त प्रेम की वकालत है। यथार्थ के चरणों पर मुक्त रूप से चुम्बनों की वर्षा की गई है।

'सिन्दूर की होली' और 'मुक्ति का रहस्य' में बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढंग से अपराध स्वीकार करके पाप मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। नारी-समस्या को भी सुलझाने की आकुलता इन नाटकों में यत्र-तत्र मिलेगी। 'सन्यासी' में भारत और एशिया की दासता की समस्या भी ली गई है। मिश्र जी के नाटक विचार-प्रधान हैं, फिर भी वे भावुकता से पीछा नहीं छुड़ा सके। 'छाया', 'बन्धन', 'अपराधी', 'दुविधा', 'विकास', 'सेवा-पथ', 'अंगूर की बेटी' और 'कमला' इसी वर्ग के नाटक हैं।

प्रसादोत्तर काल में टैकनीक की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। कला और साहित्यिकता के साथ ही नाटकों को अभिनय के योग्य बनाने की चिन्ता भी लेखकों ने की। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रायः सभी नाटकों में तीन अंक रखे। अंक ही दृश्य हैं। नाटकों से विभिन्न दृश्यों की अदल-बदल उन्होंने दूर की। यद्यपि कई नाटकों में उन्होंने काफी गड़बड़ भी की। दृश्य बदले, पर दृश्य संख्या न देकर, पट-परिवर्तन के द्वारा दृश्य बदला गया। बाद के नाटकों में शुद्ध रूप में तीन अङ्क तीन दृश्य बनकर आए। इनके नाटकों में गीतों की परम्परा भी विलीन हो गई। इनके तीन अङ्की नाटकों का अभिनय सफलता और सरलता से हो सकता है। 'प्रेमी' ने टैकनीक में नवीनता उत्पन्न नहीं की, पर उनके प्रायः सभी नाटकों का अभिनय किया जा चुका है।

इस युग के नाटकों में संकलन-त्रय का भी बहुत ध्यान रखा गया है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस सिद्धान्त का सबसे अधिक सफलता और आस्था के साथ पालन किया है। उनके अधिकतर नाटकों की कथा का समय एक-दो दिन से अधिक नहीं। कार्य, समय, स्थान तीनों की एकता 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' में सफल रूप में मिलेगी। अन्य नाटककारों ने भी इस सिद्धान्त का पालन करने कोचेष्टा की। नाटकों का आकार भी छोटा रहने लगा। तीन-चार अङ्क में नाटक पूर्ण हो जाता है। उसका अभिनय भी ढाई घण्टे से अधिक समय नहीं लेता। 'प्रेमी' के नाटक छोटे हैं, पर उनके कथानक वर्षों का समय लेने वाले हैं इसलिए उनमें संकलन-त्रय का सिद्धान्त पालन न हो सका।

प्रसादोत्तर काल हिन्दी-नाटकों की समृद्धि का समय है। इस युग में अनेक नाटकों के पाठ्य-क्रम में आ जाने के कारण हिन्दी में अनेक नाटककार उत्पन्न हो गए। और इन स्कूली नाटककारों के हाथों नाटकों की मिट्टी भी कम खराब नहीं हुई।

इस युग की देन और भी है। एकांकी तथा रेडियो-नाटक लिखने में इस

युग में प्रशंसनीय प्रयत्न हुआ। एकांकी नाटकों के अनेक संग्रह भी प्रकाशित होते रहते हैं, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद तथा जगदीशचन्द्र माथुर आदि ने अनेक एकांकी-संकलन प्रकाशित किये। रेडियो-नाटक लिखने में विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना, अश्क, तथा रामकुमार वर्मा के नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

हिन्दी-रंगमंच

अपना स्वतंत्र रंगमंच स्थापित करने में हिन्दी-नाटक अभी तक असफल ही रहे हैं। भारतेन्दु ने प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, परन्तु रंगमंच वह भी स्थापित न कर सके। संवत् १९१८ में श्री शीतला-प्रसाद-लिखित 'जानकी मंगल' का अभिनय बनारस थियेटर्स में हुआ था। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' बलिया और कानपुर में खेला गया। कानपुर में 'रणधीर प्रेम मोहिनी' भी रंगमंच पर लाया गया। इधर-उधर भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों के नाटक यदा-कदा खेले जाते रहे, पर इन से हिन्दी-रंगमंच की प्रतिष्ठा नहीं हुई।

प्रसाद-युग से पूर्व, संक्रान्ति काल में, देश-भर में व्यवसायी नाटक-मण्डलियों की धूम थी। विक्टोरिया थियेट्रिकल, एलफ्रेड थियेट्रीकल, न्यू-एलफ्रेड, एलक जेंविड्या, इम्पीरियल, जुबली, लाइट आव इण्डिया, तथा भारत-व्याकुल आदि अनेक कम्पनियाँ देश-भर में घूम-घूमकर नाटक दिखाती फिरती थीं। ये कम्पनियाँ अधिकतर उर्दू नाटकों का अभिनय करती थीं। इनके अभिनय में उछल-कूद, चिल्लाना, हास्य में अश्लीलता, वेश-भूषा में बुद्धि-हीनता, वातावरण में अनैतिहासिकता और अवसर-हीनता रहती थी। संवादों में शेरबाजी का बड़ा जोर था। इन नाटक-मण्डलियों के कारण जनता की रुचि दूषित हुई। उर्दू का आधिपत्य रंगमंच पर हो गया। नवीन प्रयोग का कोई अवसर न रहा और यदि कुछ प्रयत्न हिन्दी-सेवा के जोश में किया भी गया तो वह सफल न हो सका।

इन नाटक-मण्डलियों ने इतना अवश्य किया कि हिन्दी के भी कुछ नाटक यत्र-तत्र खेले। राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु', 'श्रवणकुमार', 'ईश्वर-भक्ति' तथा 'परमभक्त प्रह्लाद', नारायणप्रसाद 'बेताब' के 'महाभारत' तथा 'रामायण', आग़ा हश्र के 'सूरदास', 'गंगा अवतरण' और 'सीता वनवास' की बड़ी धूम रही। राधेश्याम जी के नाटक हिन्दी-प्रधान होते थे। 'बेताब' के

हिन्दुस्तानी का प्रभाव लिये हुए। इन दोनों भाषाएं—हिन्दी-उर्दू—लिखने में सिद्धहस्त थे। इन तीन नाटककारों ने विशेष रूप से हिन्दी को पारसी-मंच पर अधिष्ठित किया। हिन्दी-नाटक भी विशेष रूपसे धार्मिक तथा पौराणिक, अभिनीत किये जाने लगे। जनता में भी उनके देखने की रुचि बढ़ी। बेताब के 'महाभारत' और राधेश्याम के 'अभिमन्यु' ने तो कम्पनी को लाखों रुपया कमाकर दिया। इतना कुछ होने पर भी हिन्दी का रङ्गमंच स्थापित न हो सका। ये व्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ भी उर्दू-प्रधान ही रहीं।

सिनेमा के आगमन ने इन कम्पनियों का समाप्ति कर दी। थोड़े-बहुत जो हिन्दी-नाटक कभी-कभी देखने को मिल जाया करते थे, वे भी लुप्त हो गए। प्रसाद-युग से हिन्दी में अनेक अच्छे कलापूर्ण साहित्यिक नाटक लिखे जा रहे हैं; पर रंगमंच की ओर अभी भी किसी का सचेष्ट ध्यान नहीं है। नाटककार न तो इस बात की चिंता करते हैं कि नाटक अभिनेय हो, और न इस बात का ध्यान कि रंगमंच की स्थापना का यत्न किया जाय। कुछ दिन से स्कूल-कालेजों में नाटक खेले जाने की रुचि बहुत बढ़ रही है। साहित्यिक नाटकों का अभिनय भी विद्यार्थी करते रहते हैं। 'प्रेमी' के 'रक्षा-बंधन', 'स्वप्न-भंग' तथा 'बंधन' का अनेक अवसरों पर अभिनय किया जा चुका है। रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का भी अभिनय हुआ है। कई कालेजों में यदा-कदा और साहित्य-सम्मेलनों के अवसर पर 'प्रसाद' जी के नाटकों का भी अभिनय हुआ है। यह सब-कुछ होते हुए भी अभी तक हिन्दी-रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकी।

जब तक रंगमंच के अभाव के कारण दूर नहीं किये जाते, हिन्दी-रंगमंच स्थापित नहीं हो सकता। ये व्यक्तिगत, बिखरे हुए प्रयत्न कभी भी हमें स्वस्थ और सफल रंगमंच नहीं दे सकते। रंगमंच के अभाव के निम्न कारण हो सकते हैं :

जिन प्रान्तों—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, पूर्वी पंजाब—में हिन्दी का विकास हुआ, उन प्रांतों में संगीत, नृत्य तथा, अभिनय को सामाजिक रूप में हीन समझा जाता रहा है। इसलिए न तो शिक्षित लोगोंने इन कलाओं में रुचि दिखाई, और न अभिनय के लिए युवक-युवतियाँ रंगमंच पर आये।

हिन्दी जिस क्षेत्र में जन्मी और जहाँ नाटककार उत्पन्न हुए, वह क्षेत्र सामाजिक रूप में भी पिछड़ा रहा है। पर्दा-प्रथा ने युवतियों को अभिनय आदि में भाग नहीं लेने दिया।

नाटककारों ने कभी इसकी चिन्ता न की कि उनके नाटक अभिनय-योग्य बनें। अनेक नाटककार ऐसे हैं, जो रंगमंच के विषय में बिलकुल कोरे हैं। उनका ज्ञान पट-परिवर्तन, प्रवेश और प्रस्थान तक ही सीमित है।

पाठ्य विषय में नियत होने के कारण अनेक नाटक गौरवान्वित हैं। तब लेखक को चिन्ता क्यों होने लगी कि उसके नाटक रंगमंच के उपयुक्त हों। जब तक नाटक केवल कोर्स में लगवाने के लिए ही लिखे जायंगे, तब तक न रंगमंच के स्वप्न देखिए, न अच्छे नाटक लिखे जाने के।

अभी तक भी रंगमंच या अभिनय-कला के संबंध में एक भी पुस्तक हिन्दी में नहीं। यदि कुछ उत्साही युवक या शौकिया नाटक-समाज अभिनय का आयोजन भी करें तो उनको निर्देश प्राप्त होना भी दुर्लभ है। जैसा कुछ हुआ, मुँह रँगकर उछल-कूद कर ली।

अभी तक हिन्दी में 'नाट्य-शास्त्र' के ढंग की कोई पुस्तक नहीं। जिसमें पर्दे, रूप-धारण, प्रकाश-प्रभाव, नेपथ्य-गान, वेश-भूषा आदि का विवेचन मिल सके।

नाटक-लेखन-कला पर भी अभी तक एक भी पुस्तक नहीं निकली। जो कुछ हो रहा है अभ्यास, प्रतिभा, अनुकरण, प्रेरणा के बल पर। लेखन-कला पर पुस्तकें पढ़ने से कोई व्यक्ति लेखक नहीं बन सकता, पर प्रतिभाशाली को पथ-प्रदर्शन अवश्य मिलता है।

अनेक विद्वान् समीक्षकों ने पारसी-नाटक-कम्पनियों के अस्तित्व को भी हिन्दी-रंगमंच के विकसित होने में बाधा गिनाया है। कोई-कोई आलोचक मुस्लिम प्रभाव को भी रंगमंच के अभाव का कारण मानते हैं, पर आज न तो वे नाटक-कम्पनियाँ हैं, न मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव और शासन का आतंक, तब भी रंगमंच कहाँ निर्मित हो गया? स्वाधीन हुए पाँच वर्ष हो गए, अभी तक किसी नगर में भी हिन्दी-रंगमंच या नाट्य-समाज के निर्माण की बात हमने नहीं सुनी। स्पष्ट है, ये कारण केवल कारण गिनाने की धुन-मात्र हैं। मुख्य कारण वही हैं, जो हमने उपस्थित किए हैं।

जब तक समाज की मनोवृत्ति नहीं बदलती और उन सभी अभावों और दोषों को दूर नहीं किया जाता, कभी भी रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकती।

प्रस्तुत पुस्तक

'हिन्दी के नाटककार' में हिन्दी के प्रायः सभी नाटकों की समीक्षा का प्रयत्न रहा है। जिन नाटककारों ने अपना विशेष स्थान बना लिया है और रचनाएं भी अनेक की हैं, उनकी कृतियों की समीक्षा विशेष रूप से की गई है। एक-दो

रचना प्रस्तुत करने वाले कलाकार के विकास का निर्णय दुष्कर कार्य है। हाँ जिसके ५-६ नाटक प्राप्त हों, उसकी कला का स्वरूप कुछ-न-कुछ स्थिर अवश्य हो जाता है। हो सकता है, भविष्य में वह कोई आशातीत रचना प्रस्तुत कर दें। पर ऐसा कम ही होता है। जिन नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा विस्तृत रूप में की गई है, उनकी कला स्थिर हो चुकी है।

जिन लेखकों ने संख्या की दृष्टि से कम नाटक लिखे हैं या जिनकी कला का रूप स्थिर नहीं हो पाया, उनकी रचनाओं की समीक्षा संक्षेप में की गई है। उनकी कला के विकास के लिए अभी पथ खुला है। भविष्य में वे यदि नाटक लिखना जारी रखें तो उनसे और भी उन्नत विकसित और कलापूर्ण नाटकों की आशा की जा सकती है।

हिन्दी-नाटकों में रंगमंचीय नाटकों का भी अपना स्थान है। उनकी उपेक्षा करना भारी अन्याय और अहित है। रंगमंचीय नाटकों ने पारसी-रंगमंच पर हिन्दी की प्रतिष्ठा करने में प्रशंसनीय कार्य किया। जनता में हिन्दी-नाटकों के लिए रुचि उत्पन्न की। उससे किसी सीमा तक हिन्दी-प्रचार को भी गति मिली। रंगमंचीय नाटकों ने भी हिन्दी के प्रति अपना कर्तव्य-पालन किया। उनका भी विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। उनकी समीक्षा इतनी विस्तृत और तात्त्विक नहीं की गई, जितनी साहित्यिक नाटकों की। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। वह ऐतिहासिक और परिचयात्मक ही अधिक है।

नाटककारों का क्रम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही रखा गया है, श्रेष्ठता के विचार से नहीं। हर एक नाटककार की रचनाओं की समीक्षा अपने में स्वतंत्र है। तुलनात्मक दृष्टिकोण की जान-बूझकर उपेक्षा की गई है। तुलनात्मक समीक्षा हिन्दी में ही नहीं, किसी भी भाषा में खतरनाक उत्तरदायित्व है और विशेष-कर वर्तमान लेखकों की तुलना करना तो भारी आपत्ति को निमंत्रण देना है। हिन्दी-नाटक का सम्पूर्ण रूप में विकास-विवेचन न करके, प्रत्येक नाटककार के विकास की स्वतंत्र रूप में समीक्षा की गई है। सब नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा पढ़कर तुलना पाठक स्वयं भी कर सकता है।

इस बात का सचेष्ट पालन हुआ है कि लेखनी किसी से अभिभूत न हो, किसी से उदासीन न हो, किसी से श्रद्धानत भी न हो। इस बात का पूरा-पूरा प्रयत्न रहा है कि समीक्षाधीन लेखक की कला का यथार्थ विवेचन किया जाय। उसको सही रूप में पाठक के सामने लाया जाय। नाट्य-सिद्धांतों की कसौटी पर उनको कसा जाय और अपने प्रयोग-परिणाम बिना छिपाव-

दुराव के पाठक के सामने रख दिए जायं। फिर भी त्रुटियों की जिम्मेदारी से मेरी लेखनी भागेगी नहीं। अपनी त्रुटियाँ जानने के लिए यह सदा विनीत मन से प्रस्तुत रहेगी। किसी भी सुझाव का यह सधन्यवाद स्वागत करेगी।

सनातन धर्म कालेज,
अम्बाला कैंट।

जयनाथ 'नलिन'

क्रम

: १ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी में नया सन्देश लेकर आए। रीतिकालीन अवसाद-डूबी निशा के अन्धकार में हिन्दी ऊँघ रही थी। ऐसे समय एक ऐसी प्रतिभाशाली विभूति की आवश्यकता थी, जो उसे जगाकर नये मार्ग पर अग्रसर करे। नई शिक्षा, पश्चिमी साहित्य और विचार-धारा का प्रभाव जनता पर पड़ रहा था—उसके विचारों में गतिशील परिवर्तन आ रहा था, पर हिन्दी-साहित्य जीवन से बहुत दूर जा पड़ा था। भारतेन्दु ने उसे जीवन के साथ मिलाया। उन्होंने साहित्य को नया जीवन दिया, नई गति दी, और हाथ में स्वयं प्रकाश-जगमग मशाल लेकर उसे नये मार्ग पर चलाया—नई दिशा की ओर मोड़ा। उनकी प्रतिभा के मानसरोवर से वाणी की निर्मल, स्वच्छ और गतिशील मंदाकिनी बह निकली, जिसने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को सींचा—जो विभिन्न धाराओं में बह चली।

भाषा का उन्होंने संस्कार किया, नवीन भावों की संजीवनी उसे दी, कला के विभिन्न रूपों में उसका निखरा और सार्थक प्रयोग किया। वह वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक के रूप में प्रकट हुए। भारतेन्दुजी ने शैली की ओर भी ध्यान दिया। तथ्य-निरूपण की गम्भीर और आवेशमयी सशक्त शैलियों की भी प्रतिष्ठा की।

आधुनिक गद्य-परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दुजी के नाटकों से होता है। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में नाटक थे ही नहीं, यह ही पहले मौलिक और स्मरणीय नाटककार हुए। नाटकों के रूप में भारतेन्दुजी की भेंट अपने और प्रसाद से पूर्व काल तक अद्वितीय है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा बहुमुखी सृजन किया। देश-भक्ति की सोई आग को जगाया, नई शिक्षा के स्वस्थ रूप को अपनाया। साहित्य, शैली, भाषा सभी की अनुपम रचना की।

भारतेन्दु ने मौलिक प्रहसन तथा नाटक भी लिखे और अन्य भाषाओं

से सुन्दर अनुवाद भी किये। उनके अनुवाद बहुत ही सफल हैं और मौलिक नाटकों का-सा आनन्द उनमें आता है। उनको रचनाओं को मौलिक और अनुवाद की श्रेणी में इस प्रकार बाँटा जाता है—

मौलिक—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, अन्धेर नगरी (ये तीनों व्यंग्य प्रधान); भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, प्रेम-जोगिनी, चन्द्रावली और सती-प्रताप (अपूर्ण)

अनूदित—विद्यासुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत-जननी (तीनों बँगला से); पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, रत्नावली (चारों संस्कृत से); कर्पूर मंजरी (प्राकृत से) तथा दुर्लभ बन्धु (अंग्रेजी से)। सत्य हरिश्चन्द्र, विद्या सुन्दर, भारत-जननी—इन तीनों नाटकों के विषय में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनको अनूदित मानते हैं और बाबू ब्रजरत्नदास मौलिक। पर हम इनकी भी समीक्षा करेंगे।

रचनाओं का काल-क्रम

१—विद्यासुन्दर	संवत् १९२५ वि०
२—रत्नावली	१९२५ ,,
३—प्रवास नाटक	१९२५ ,,
४—पाखंड विडंबन	१९२६ ,,
५—वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति	१९३० ,,
६—धनंजय विजय	१९३० ,,
७—मुद्राराक्षस	१९३१-३२ ,,
८—सत्य हरिश्चन्द्र	१९३२ ,,
९—प्रेमयोगिनी	१९३२ ,,
१०—विषस्य विषमौषधम्	१९३३ ,,
११—कर्पूर मंजरी	१९३३ ,,
१२—चन्द्रावली	१९३३ ,,
१३—भारत-दुर्दशा	१९३३ ,,
१४—भारत-जननी	१९३४ ,,
१५—नीलदेवी	१९३७ ,,
१६—दुर्लभबन्धु	१९३७ ,,
१७—अंधेर नगरी	१९३८ ,,
१८—नाटक	१९४० ,,
१९—सती-प्रताप	१९४१ ,,

नाटकों की पृष्ठभूमि

हरिश्चन्द्र के नाटकों की प्रेरणा है नवीन जागरण की ज्योति। उन्होंने देखा, देश में नया जागरण हो रहा है। नई शिक्षा और पश्चिमी विचारों का प्रकाश फैलता जा रहा है, हम बहुत पिछड़े हुए हैं। हिन्दी की वाणी नये स्वरों के प्रति मूक है। हिन्दी-साहित्य नई चेतना से शून्य है। उनका हृदय तिलमिला उठा। देश की हीनावस्था देखकर उनकी देश-भक्ति छटपटा उठी। यही देश-भक्ति उनकी प्रतिभा के लिए प्रेरक निर्देश बनी—यही देश-भक्ति उनके लिए निश्चित पथ बनी और यही देश-भक्ति उनके साहित्य की प्राण बनी। देश-भक्ति की भावना से ही सबल प्रेरणा पाकर भारतेन्दु ने अपने नाटक, काव्य, इतिहास आदि की रचना की। इस देश-भक्ति के विभिन्न रूप उनकी रचनाओं में मिलते हैं। कहीं देश के प्राचीन गौरव के रूप में तो कहीं हिन्दू-संस्कृति के प्रति ममता के रूप में, कहीं समाज-सुधार के रूप में तो कहीं पाखण्ड-खण्डन के रूप में; और कहीं भगवत्-भक्ति के रूप में तो कहीं प्रेम के रूप में।

देश-प्रेम से आकुल, नव-निर्माण के उत्साह से प्रेरित, जन्मभूमि की सेवा से गद्‌गद् और हिन्दुओं की हीनावस्था से आहत भारतेन्दु ने इतिहास, पुराण, और वर्तमान जीवन के विविध क्षेत्रों से अपने नाटकों के लिए कथानक और पात्र चुने। कथानक और पात्रों की दृष्टि से उनके नाटक तीन प्रकार के हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या वर्तमान जीवन-सम्बन्धी। रस की दृष्टि से वीर, शृङ्गार, हास्य, करुणा उनके नाटकों में पाये जाते हैं। फल की दृष्टि से, सुखान्त तथा दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटक उन्होंने लिखे हैं।

'सत्य हरिश्चन्द्र' पौराणिक, करुण तथा वीर रसपूर्ण सुखान्त नाटक है और 'नीलदेवी' ऐतिहासिक वीर रसपूर्ण सुखान्त नाटक है। यद्यपि बहुतों ने इसे दुःखान्त लिखा है। 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', विषस्य विषमौषधम् व्यंग्य-नाटिकाएं हैं। इनमें हास्य का अच्छा योग है। 'प्रेम योगिनी' सामाजिक व्यंग और 'चन्द्रावली' प्रेम-प्रधान कल्पना-रूपक हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जीवन के हर क्षेत्र से अपने नाटकों की सामग्री एकत्र की और उनमें जीवन की विविधता का भी चित्रण किया। भारतेन्दु की प्रतिभा संकुचित क्षेत्र में बँधी नहीं थी—उसका विस्तार मानव की जीवन-धरती पर बहुत दूर-दूर तक था। उनकी प्रतिभा, कला और कल्पना की सीमाएं बहुत उदार थीं। जीवन-सामग्री के चुनाव में भारतेन्दु जी ने अपनी कला को पूर्ण स्वाधीन रूप से खिलने देने का बड़ा ध्यान रखा है।

एक ओर तो वह प्राचीन भारतीय भक्ति में विह्वल प्रेम-रूपकों की रचना करते हैं, दूसरी ओर प्राचीनता की खिल्ली उड़ाते हैं। यही नवीन-प्राचीन का समन्वय उनकी कला की विशेषता है।

देश-प्रेम की प्रेरणा

देश-प्रेम की भावना सर्वव्यापक रूप में, भारतेन्दु जी की अधिकतर कृतियों में सजग है। देश-प्रेम भारतेन्दु जी की कला के लिए सशक्त, ज्योतिमय और अमर प्रेरणा बना। भारत की भक्ति के पावन उद्देश्य को लेकर उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की—भारतेन्दु जी ने अपनी लेखनी से देश-भर में राष्ट्रीयता का मंगल-मंत्र फूँका 'भारत-जननी', 'भारत-दुर्दशा', 'नील देवी' 'विषस्य विषमौषधम्' आदि में उनकी देश-भक्ति बरसाती नदी के समान उमड़ चली है।

'भारत-जननी' में भारत की दयनीय दशा का बहुत ही करुणाजनक और हृदय-विदारक चित्र उन्होंने खींचा है :

> भयो घोर अँधियार चहूँ दिसि ता मँह बदन छिपाए।
> निरलज परे खोइ आपुनपो जागतहू न जगाए॥
> कहा करें इत रहिकै अब जिय तासों यहै विचारा।
> छोड़ि मूढ़ इन कहँ अचेत हम जात जलधि के पारा॥

कहकर भारत-लक्ष्मी चली जाती है। 'समुद्र के पार' अंग्रेज भारतीय धन-वैभव को उन दिनों ढोकर ले जाते थे। देश दीन-हीन होता जाता था। कितनी बेबसी थी।

"एक बेर तो भला अपने मन में विचारो, निरवलंबा, शोक-सागर-मग्ना, अभागिनी अपनी जननी की दुरवस्था को एक बार तो आँखें खोल के देखो···!" भारत माता के ये शब्द वास्तव में भारतेन्दु के हृदय के ही उद्बोधन-उद्गार है। अंत में भारत माता सबको धीरज देते हुए समझाती है, "हे प्यारे वत्सगण! अब भी उठो और धैर्य के, उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रखकर इस दुखिया के दुःख दूर करने में तन-मन से तत्पर हो।"

'भारत जननी' में भारत की दुरवस्था की बहुत द्रावक तस्वीर खींची गई है।

'भारत-दुर्दशा' में अतीत गौरव की चमकदार स्मृति है, आँसू-भरा वर्तमान है और भविष्य-निर्माण की भव्य प्रेरणा है। इसमें भारतेन्दु का भारत-प्रेम करुणा की सरिता के रूप में उमड़ चला है—आशा की किरण के रूप में झिलमिला भी उठा है। भारत, दुर्दैव, दुर्दशा, सत्यानाश, निर्लज्जता,

मदिरा, अन्धकार, रोग आदि पात्रों का निर्माण करके भारत की दुर्दशा का चित्र इसमें खींचा गया है।

"भारत दुर्दैव—हाँ, तो तुम हिन्दुस्तान में जाओ और जिसमें हमारा हित हो, सो करो बस, 'बहुत बुझाय तुम्हहिं कहा कहउँ, परम चतुर मैं जानत अहउँ।

अंधकार— बहुत अच्छा, मैं चला। बस जाते ही देखिए, क्या करता हूँ।"

अंधकार भारत में आता है।

भारत-दुर्दशा का प्रथम गीत ही उसकी करुण अवस्था का चित्र उपस्थित कर देता है—

"आवहु सब मिलिकै रोवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥"

'विषस्य विषमौषधम्' भी देश-सेवा की प्रेरणा से ही लिखा गया है। बड़ौदा-नरेश मल्हारराव गायकवाड़ को गद्दी से उतारे जाने के विषय में, इसमें करारा व्यंग्य है। अन्यायी, अत्याचारी, अयोग्य शासक मल्हारराव की इसमें तीखी मजाक उड़ाई गई है। देश में जब ऐसे कुकर्मी अयोग्य शासक हों, तो देश रसातल को न जाय, तो क्या हो।

'नील देवी' में भारतीय नारी के पराक्रम और वीर कर्म का आदर्श चित्रण है। इसकी भूमिका में लेखक स्वयं कहता है, "इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गोरांगी स्त्री-समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं; घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति और विपत्ति को समझाती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह में ही नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारे गृह देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।"

भारतेन्दु की भूमिका से उनके देश-प्रेम और समाजोत्थान की उत्कट लालसा का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता आधुनिक राष्ट्रीयता न थी, उनकी देश-भक्ति या राष्ट्रीयता हिन्दुत्व-प्रधान थी—भूषण की राष्ट्रीयता थी। उस युग की यही माँग भी थी। 'नीलदेवी' में देश-भक्ति से प्रेरित वीरता के भाव भी हैं और देश की निराशावस्था पर छलकते

अश्रु भी। सूर्यदेव बन्दीगृह में लोहे के एक पींजरे में मूर्छित पड़ा है और एक देवता आकर गाता है :

"सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहैं।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहि ऐहैं॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहैं।
मंगलमय भारत-भुव मसान ह्वै जैहै॥

निराशा की सघन अँधेरी में दम घुटने लगता है। हृदय में बेचैनी तड़पने लगती है।

"कुमार! आप ऐसी बात कहेंगे कि शोक से मति विकल हो रही है तो भारतवर्ष किसका मुँह देखेगा! इस शोक का उत्तर हम अश्रु-धारा से न देकर कृपाण-धारा से देंगे।"

राजपूत के इन उत्साह-उमंग भरे वीरोचित वचनों से देशोद्धार की कितनी आशा बँधती है।

अन्त में वही होता है : नील देवी अपने पति की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए एक गायिका बनकर अब्दुश्शरीफ के दरबार में जाती है और अवसर पाकर सिंहनी के समान उस पामर की छाती पर चढ़कर अपनी कृपाण से उसका कलेजा चीर डालती है। ऐसी वीर, निर्भय, प्रतिभाशाली, नीति-निपुण नारियों की आवश्यकता भारतवर्ष को सदा रहेगी।

भारतेन्दु का देश-प्रेम कितनी ही धाराओं में बहता है। पर उसी देश-प्रेम की धारा में ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की कीचड़ भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाती है। पता नहीं, उस युग की यह कौन-सी आवश्यकता थी?

हास्य-व्यंग्य

भारतेन्दुजी रस-सिद्ध साहित्य-निर्माता थे। प्रेम की स्वच्छ धारा उनकी लेखनी से प्रसूत हुई, करुणा की बदली बनकर उनका हृदय बरसा, शृङ्गार की रस-भीगी पिचकारियाँ उनके हाथों से छूटीं और हास्य की गुदगुदी-भरी फुलझड़ियाँ भी भारतेन्दुजी ने छोड़ीं। हास्य-व्यंग्य के वह सिद्ध-हस्त लेखक थे। 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी' में लोट-पोट कर देने वाला हास्य है। इनमें उन्होंने समाज और व्यक्ति पर मीठा, मनोरञ्जक और तीखा व्यंग्य किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' भी उच्च कोटि की व्यंग्य-रचना है।

'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' में मांस-मदिरा-भक्षकों पर बहुत सुन्दर, मधुर, पर साथ ही गहरा व्यंग्य-प्रहार है। किस प्रकार दुर्व्यसनी अपनी आमिष-लोलुप जिह्वा को तृप्त करने के लिए शास्त्रों और धर्म के प्रमाण दिया करते हैं, यह इस प्रहसन में स्पष्ट है। इसका नायक है गृद्धराज—मांस-भक्षी। मंत्री, पुरोहित, विदूषक सभी मांस, मदिरा और मैथुन तक का प्रतिपादन करते हैं। स्मृति, भागवत, देवी, देवता—सबके प्रमाण मांस-भक्षण के समर्थन में जुटा दिए जाते हैं। अन्त में मांस-भक्षी गृद्धराज, पुरोहित, मन्त्री आदि को यम, जो दण्ड देता है, उसमें भी एक प्रकार का हास्य है। दुष्टों के दंडित होने पर सामाजिक प्राणी अवश्य आनन्द अनुभव करते और हँसते हैं।

"बढ़े जाइयो ! कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद धर्म प्रकाशक, मंत्र से शुद्ध करके बकरा खाने वाले, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाने वाले, सहित सकल समाज श्री गृद्धराज महाराजाधिराज।" प्रहसन के आरम्भ में यह प्रशस्ति बहुत उपयुक्त और हास्यपूर्ण है।

"एहि असार संसार में चार वस्तु हैं सार।
जूआ मदिरा मांस अरु नारी-संग-विहार॥"

पुरोहित के ये शब्द करारे व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। आशीर्वचन कहते हुए दूसरे अंक में विदूषक प्रवेश करता है : "हे ब्राह्मण लोगो ! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस-सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके। हे पुरोहित, नित्य देवी के सामने बकरा मराया करो और प्रसाद खाया करो।"

यह आशीर्वचन हास्य का बहुत ही बढ़िया नमूना है। 'सरस्वती हंस-सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके।' में बहुत अच्छा व्यंग्य है। अर्थात्—तुम 'हंस' को भी खा जाओ, जो तुम्हारी इष्ट देवी सरस्वती का वाहन है।

"कण्ठी तोड़ो माला तोड़ो गंगा देहु बहाई।
अरे मदिरा पीयो खाय के मछरी......
बकरा जाहु चबाई।"

'अन्धेर नगरी' बहुत अच्छा प्रहसन है। यह एक ऐसे राजा के चरित्र का व्यंग्यात्मक चित्र है, जिसके राज में सब वस्तु टके सेर बिकती है—

"अंधेर नगरी अनबूझ राजा
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

"इस नगरी में सब धान बाईस पंसेरी बिकते हैं। न्याय की आशा ही क्या ? जैसा मन आया राजा ने न्याय कर दिया। चाहे गुरुजी के लिए माल-पूआ आये, या चेले के लिए चना-चबेना, सब टके सेर।"

हास्य-व्यंग्य की रचनाओं के अतिरिक्त अन्य नाटकों में भी हास्य का पर्याप्त पुट पाया जाता है। 'नील देवी' यों तो वीर रस प्रधान नाटक है, जहाँ-तहाँ करुणा की झड़ी भी इसमें लगती है, पर हास्य इस नाटक में भी सफल रूप में आया है। 'नील देवी' का चौथा दृश्य एक सराय का है। सराय हास्य के लिए उपयुक्त स्थान है। सराय की मालिक या प्रबंध करने वाली भटियारिन मुसलमानी साहित्य और सभ्यता में मजाक का साधन समझी जाती है, यद्यपि भटियारा-शैली का हास्य शिष्ट नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य में उसका महत्त्व नहीं। 'नील देवी' नाटक में मुसलमानी सभ्यता का दिग्दर्शन आवश्यक है।

पीकदानअली, चपरगट्टू और भटियारिन इस दृश्य के पात्र हैं। तीनों ही हास्य के प्रतीक। चपरगट्टू कहता है : "सुना है, वे लोग लड़ने जायंगे। मैंने कहा, जान थोड़े ही भारी पड़ी है। यहां तो सदा भागतों के आगे मारतों के पीछे। जबान की तेग के कहिये तो दस हजार हाथ मारूँ।"

कायर और डरपोक सदा से हास्य के आलम्बन रहे हैं। उनकी कायरता और भीरुता सामाजिकों को हँसाती रही है। ये भी दोनों कायर—युद्ध-भीरु हैं।

दोनों का गाना भी सुनिये :

'पिकदानो चपरगट्टू है बस नाम हमारा
इक मुफ्त का खाना है, सदा काम हमारा।
उमरा जो कहें रात तो हम चाँद दिखा दें,
रहता है खुशामद से भरा जाम हमारा ॥

× × ×

जर दीन है, कुरआन है, ईमां है, नबी है,
जर ही मेरा अल्लाह है, जर राम हमारा।'

चरित्रों के अनुरूप यह गाना अवश्य हास्य की उत्पत्ति करेगा।

'नील देवी' में पागल के रूप में वसन्त का अभिनय भी बहुत हास्योत्पादक है। वह बड़बड़ाते हुए मैदान में आता है : "मार मार-अण्ड का बण्ड का सण्ड का खण्ड—धूप-छांह, चना मोती, अगहन-पूस-माघ, कपड़ा-लत्ता, चमार मार मार—ईंट की आँख में हाथी का कान—बन्दर की थैली में चूने का मान ! मार-मार···।"

इसमें भाषा और अभिनय दोनों में हास्य है। पागलों के प्रलाप पर कौन नहीं हँसता।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'विषस्य विषमौषधम्' व्यंग्य-प्रधान रचना है। इनमें तो जहाँ-तहाँ व्यंग्य की तीखी बौछारें मिलेंगी ही, 'प्रेम योगिनी' में भी व्यंग्य के अच्छे छींटे उड़ाये गए हैं :

"धनदास—तो महाराज के कबों समर्पन किए हो कि नाहीं ?

बनितादास—कौन चीज ?

धनदास—अरे कोई चौंकाली ठल्ली मावड़ी पामली अपने घर वाली।

वनितादास—अरे भाई गोसाइयन पर तो ससुरी सब आपै भहराई पड़ थीं। पवित्र होवै के वास्ते हम का पहुँचवे।

धनदास—इन सबन का भाग बड़ा तेज है। मालो लूटैं मेहरुवो लूटैं।"

ऊपर वैष्णव-परम्परा और पद्धतियों पर करारी चोट की गई है। 'प्रेम-योगिनी' का काशी-वर्णन भी कम हास्यास्पद नहीं।

"देखी तुमरी कासी लोगो देखी तुमरी कासी,
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वर जी अविनासी।
आधी कासी भाट भँडेरिया ब्राह्मन औ संन्यासी,
आधी कासी रंडी मुंडी रांड खानगी खासी।
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बेविस्वासी,
महा आलसी झूठे शोहदे बे फिकरे बदमासी।

× × ×

अमीर सब झूठे औ निन्दक करैं घात विस्वासी,
सिपारसी डर, पुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी।
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारन पासी,
नीचे नल से बदबू उबलै मानो नरक चौरासी।"

हास्य में सुरुचि की रक्षा करना बहुत बड़ी सफलता है। भारतेन्दु के हास्य में अश्लीलता या भौंडापन नहीं आने पाया है, यह प्रसन्नता की बात है। पर इनके हास्य में कहीं-कहीं वीभत्स-रस की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। मांस-मदिरा-मत्स्य आदि के भक्षण के विषय में हास्य लिखने में वीभत्सता को नहीं बचाया जा सकता :

"बलिदान वालों का कूद-कूद कर बकरा काटना, बकरों का तड़पना और चिल्लाना, मदिरा के घड़ों की शोभा और बीच में होम का कुण्ड, उसमें मांस

का चटा-चटाकर जलना और उसमें चिरांहिन की सुगंध निकलना...।" यह वर्णन हास्य उत्पन्न न करके, बीभत्स ही उत्पन्न करेगा।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द पर व्यक्तिगत कारणों से उनका व्यंग्य करना भी ठीक नहीं :

"सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको 'स्टार आफ इण्डिया' की उपाधि मिलती है।"—यह व्यंग्य शिवप्रसाद के ऊपर ही है। व्यक्तिगत कारणों से किसी पर व्यंग्य करना कला का दुरुपयोग है।

प्रेम का स्वरूप

भारतेन्दु रसिक, सुकवि और प्रेमी जीव थे। प्रेम-पद्धति के विषय में उनके 'चन्द्रावली' तथा 'विद्या सुन्दर' नाटकों को उपस्थित किया जा सकता है। प्रेम प्रायः चार प्रकार का होता है—(१) विवाह के पश्चात् विकसित होने वाला, जैसे रामायण का प्रेम। सीता और राम का प्रेम विवाह के बाद से आरम्भ होकर वन-जीवन में विकसित हुआ। यह स्वाभाविक, शुद्ध, सात्विक तथा स्वच्छ है। (२) विवाह से पूर्व उत्पन्न होने वाला और विवाह जिसका परिणाम होता है, जैसे शकुन्तला, विक्रमोर्वशी का प्रेम या आजकल की लघु-कथाओं में वर्णित प्रेम। (३) राजाओं के महलों-उद्यानों में पनपने वाला प्रेम, और (४) गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न आदि में भेंट होने से उत्पन्न प्रेम; जैसे प्रेम-गाथाओं—पद्मावत, मृगावती, मधुमालती आदि का।

'विद्या सुन्दर' का प्रेम चौथे प्रकार का प्रेम है। हीरा मालिन के द्वारा विद्या अपने होने वाले पति के रूप-गुण को सुनते ही प्रेम में तड़पने लगती है और परम्परा के अनुसार वियोग में छटपटाती हुई गाने लगती है :

"चढ़ावत मो पै काम कमान
वेधत है जिय मारि-मारि कै
तानि स्रवन लगि बान।"

मालिन भी विद्या के पूर्वानुराग को जानकर कहती है : "वाह! वाह! यह अनुराग हम नहीं जानती थीं।"

एक स्थान पर विद्या मालिन से कहती है : "मैं तो उसे (सुन्दर को) उसी दिन वर चुकी, जिस दिन उसका आगमन सुना और उसी दिन उसे तन-मन-धन दे चुकी, जिस दिन उसका दर्शन हुआ।"

'विद्या सुन्दर' का प्रेम सूफी ढङ्ग का पूर्वानुराग ही है, यही प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। अन्त में विवाह इस प्रेम का सुखद परिणाम होता

है। 'विद्या सुन्दर' का प्रेम बहुत हल्का रह गया है, इसमें सूफ़ियों के प्रेम-जैसी सघनता, तड़प और विरह-व्यथा नहीं आ पाई है।

प्रेम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली' की रचना की। इसमें कृष्ण के प्रति चन्द्रावली का प्रेम दिखाया गया है। चन्द्रावली ब्रज की ही, उसी युग की एक गोपिका है, जो कृष्ण के प्रेम में पागल रहती है। कुल-मर्यादा त्यागकर वह कृष्ण के पीछे दीवानी है, यही इस नाटक में दिखाया गया है। इसमें प्रेम की पद्धति वही है, जो कृष्णोपासक भक्तों ने रखी है। न इसमें मर्यादा है, न लोक-लाज और न कुल-धर्म का भय।

"देखो दुष्ट को मेरा हाथ छुड़ाकर भाग गया, अब न जाने कहाँ खड़ा बंसी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है? बोल, बोल, कि जीते जी न बोलेगा।" ऐसे अनेक प्रलाप चन्द्रावली के मुँह से जब-तब निकलते रहते हैं। अनेक स्थलों पर उसके प्रेम की तन्मयता भी प्रकट होती है—चन्द्रावली के सघन विरह के चित्र बहुत प्रभावशाली बनकर आए हैं: "आँखें बहुत प्यासी हो रही हैं। इनको रूप-सुधा कब पिलाओगे? प्यारे, बेनी की लट बँध गई है इन्हें कब सुलझाओगे? (रोती है) नाथ! इन आँसुओं को तुम्हारे बिना कोई पोंछने वाला नहीं है।"

पर कुल मिलाकर प्रभाव का ध्यान करें तो यह प्रेम सिवा अभिनय के और कुछ मालूम नहीं होता। भक्ति के नाम पर वासना की उमड़ती नदी, इस प्रेम में देखी जाती है। कृष्ण जब योगिनी के वेश में आते हैं और चन्द्रावली को पता लगता है, (ललिता के कहने पर) तो यही वासना-विह्वलता, काम-चंचलता और शारीरिक तड़प की तृप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं मालूम होता।

चन्द्रावली उन्मादावस्था में कृष्ण के गले से लिपट जाती है और कहती है: "पिय तोहि राखौंगी भुजन में बाँधि।"

"आपकी आँखों में आँसू देखकर मुझसे धीरज न धरा जायगा।" कहकर चन्द्रावली फिर कृष्ण को गले लगा लेती है और इसके बाद विशाखा और ललिता के अनुरोध से दोनों गलबाँही डालकर बैठ जाते हैं। इस ऊटपटाँग प्रेम-प्रदर्शन का क्या उद्देश्य है, क्या अर्थ, कुछ भी समझना कठिन है। बार-बार आलिंगन बार-बार भुजाओं में कसना और गले लगना-लगाना—यही इसमें प्रेम का अन्त बताया गया है। कितने ही स्थलों पर वासना की उद्विग्नता है, काम की छटपटाहट है और भोग की बेचैनी है। "ऐसे बादलों को देख कौन लाज की चादर रख सकती है और कैसे पतिव्रत

का पालन कर सकती हूँ।" में 'चन्द्रावली' नाटक के वासना-जन्य प्रेम की झलक है। चन्द्रावली प्रेम का एक भद्दा प्रदर्शन है। भक्ति के नाम पर प्रेम की भद्दी और अस्वाभाविक खिलवाड़ जो रीतिकालीन कविता में हुई, उसी का शिष्ट रूप 'चन्द्रावली' है।

सिवा 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नील देवी' के भारतेन्दु की प्रेम-प्रतिष्ठा में न कहीं परिस्थितियों की माँग है, न कर्तव्य का अनुरोध और न ही जीवन की स्वाभाविक पुकार का वास्तविक उत्तर। बस, प्रेम के नाम पर रोती है, हँसती है, मूर्छित होती है, पीड़ित होती है, छटपटाती है, सब-कुछ करती है प्रेमिका; पर सब बे-बुनियाद—निराधार और निरर्थक !

पात्र-चरित्र-विकास

भारतेन्दु के प्रहसन और व्यंग्य-रचनाओं पर विकास, पात्र या चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'अंधेर नगरी' में जो पात्र आये हैं, वे एकांगी या इकरंगे हैं। हास्य में मनोवैज्ञानिक विकास की आशा नहीं की जा सकती। 'भारत-जननी' 'भारत-दुर्दशा' आदि के विषय में भी यही समझना चाहिए। ये भाव-रूपक हैं। भाव-रूपकों के पात्र कितना भी प्रयत्न करने पर मानव-जीवन की अन्तर्दशाओं को प्रकट करने में असफल ही रहेंगे। उनमें जीवन की रंगीनियाँ नहीं भरी जा सकतीं। 'विद्या सुन्दर' 'नील देवी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' के ही चरित्र-विकास पर विचार किया जा सकता है।

भारतेन्दु के नाटकों के पात्र भारतीय शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही निर्मित हुए हैं। विशेष व्यक्ति में ऐसे गुणों की प्रतिष्ठा करना, जो सर्व साधारण के हृदय में रसानुभूति जगा सके, भारतीय शास्त्रीय दृष्टि से श्रेष्ठ चरित्र-चित्रण माना जाता है। हमारे यहाँ रस का साधारणीकरण ही लेखक की सबसे बड़ी सफलता है। हरिश्चन्द्र के पात्र भी आदर्श चरित्र हैं। 'विद्यासुन्दर' की विद्या एक प्रतिष्ठित राजकुलोत्पन्न नायिका और सुन्दर नायक है। सुन्दर धीर ललित नायक कहा जा सकता है। 'चन्द्रावली' के कृष्ण भी धीर ललित नायक हैं। 'नील देवी' का नायक सूर्यदेव धीरोदात्त नायक है और अमीर अब्दुश्शरीफ शठ नायक। इसमें शठ नायक के सभी गुण हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का नायक हरिश्चन्द्र धीर प्रशान्त है इन नायकों में वे सभी—शील, धैर्य, अहङ्कार-हीनता, वीरता, निर्भयता, क्षमाशीलता, मधुरता, सौन्दर्य, कुलीनता, कर्तव्य-परायणता, न्यायप्रियता आदि—गुण

पाए जाते हैं। आरम्भ से अन्त तक दिव्य गुणों से सम्पन्न ये लोग हैं; इसके विपरीत 'नील देवी' का प्रतिनायक भी सभी दुष्ट गुणों से युक्त है।

विद्या, शैव्या (तारा), नील देवी, चन्द्रावली आदि नारियाँ भी सद्गुणों से युक्त हैं। ये सभी भारतीय नारीत्व के आदर्शों के विभिन्न रूप हैं। विद्या एकनिष्ठ प्रेमिका धैर्यशाली, शीलवती, विदुषी, पंडिता, विनोदी युवती है। शैव्या (हरिश्चन्द्र की पत्नी) आदर्श पतिव्रता, धैर्यशीला, कष्ट-सहिष्णु, सेवापरायण, पति की चिर सहचरी और मातृत्व तथा पत्नीत्व की आदर्श प्रतिमा है। नील देवी एक वीरांगना क्षत्राणी है। बुद्धिमती, निर्भय, सबला नील देवी दुर्गा के समान आततायी शत्रु का कलेजा चीर डालती है। चन्द्रावली भी आदर्श प्रेमिका है। प्रेम जिसके जीवन की साँसें हैं—प्रेम जिसके हृदय की धड़कन है। सभी नारी-पात्र एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं—सभी एक विशेष आदर्श के रूप को उपस्थित करते हैं। अधिकतर पुरुष और स्त्री—दोनों ही पात्र एकरंगी हैं।

इस एकरंगी चरित्र-चित्रण में लेखक को कुछ भी कठिनता नहीं पड़ती। आत्म-संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व या मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का स्वाभाविक चित्रण करना ही चरित्र-चित्रण की सर्वश्रेष्ठ सफलता है। भारतेन्दु के नाटकों के पात्र एक विशेष प्रकार के क्षेत्र से चुने गए हैं, इसलिए उनसे आधुनिक चरित्र-चित्रण की कला की आशा नहीं करनी चाहिए; तो भी उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व दिखाने का प्रयास अवश्य किया है। उस युग के अनुसार यह कम प्रशंसनीय नहीं। विद्या का पिता प्रतिज्ञा के विषय में सोचता है : "जो मैं ऐसा जानता तो अपनी कन्या को ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा न करने देता, पर अब तो उसे मिटा भी नहीं सकता।" इन शब्दों से उसके मन की डाँवाडोल स्थिति का पता चलता है। विद्या स्वयं एक स्थान पर कहती है : "गुणसिन्धु राजा के पुत्र यही हैं और निश्चय बिना तो विवाह भी नहीं हो सकता, इससे मेरा मन दुविधे में पड़ा है।"

'चन्द्रावली' में यद्यपि चरित्र के विभिन्न गुणों का विस्तार असम्भव है, केवल प्रेम का ही एकरस राग उसमें बज रहा है तो भी लेखक ने चन्द्रावली के हृदय का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया अवश्य है : "किससे कहूँ और क्या कहूँ, क्यों कहूँ, कौन सुने और सुने भी तो कौन समझे हा!" के इस उच्छ्वास में उसके प्रेम की व्यग्रता और निराश होकर मन में घुमड़ने वाली उदासीन पीड़ा का अच्छा चित्रण है। "झूठे! झूठे! झूठे ही नहीं, वरंच विश्वास-घातक क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठा कर लोगों

को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं।"—इसमें चन्द्रावली के हृदय का रोषभरा उपालम्भ, निराशाभरी वेदना, और प्रेम की फटकार है।

'नील देवी' में अमीर पागल, चपरगट्टू पीकदानअली आदि के चरित्रों का भी भला चित्रण हुआ है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र जब श्मशान में पहरा दे रहे हैं, तब उनके हृदय की अवस्था देखिए :

"विधना ने इस दुख पर भी वियोग दिया। हा ! यह वर्षा और यह दुख ! हरिश्चन्द्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा; पर जिसने सपने में भी दुख नहीं देखा, वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवी ! तुमने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है जिसके साथ सदा दुख-ही-दुख है।"

सूनी रात और मरघट का सन्नाटा, वर्षा की ऋतु—ऐसे में अपने प्रियजनों का वियोग सताता ही है। दुविधा के भँवर में डोलते हुए हरिश्चन्द्र के चित्त की अवस्था उसके इस कथन से ही प्रकट है : "नारायण ! नारायण ! मेरे मुख से क्या निकल गया ? देवता उसकी रक्षा करें। (बाईं आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह महा अपशकुन क्यों हुआ ? (दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर) अरे ! और साथ ही मंगल शकुन भी ! न जाने क्या होनहार है वा अब क्या होनहार है ? जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी ? अब केवल मरण मात्र बाकी है। इच्छा तो नहीं कि सत्य छूटने और दीन होने के पहले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है। पर वश क्या है ?"

रोहिताश्व का शव लिये तारा को वह पहचान लेता है। यहाँ उसकी मनोव्यथा की सीमा टूट जाती है। हृदय तिलमिला उठता है और वह कर्तव्य और भावना के द्वन्द्व की चक्की मे पिस जाता है,—"हा वज्र हृदय इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता ? अरे नेत्रो अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब भी खुले हो ?······इससे पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने योग्य डाली खोजकर उसमें दुपट्टा बाँधता है) धैर्य। मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया··(दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंककर) गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अधर्म अनर्थ विचारा ! भला मुझ दास

को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण त्याग करना चाहा !"

'सत्य हरिश्चन्द्र' के मरघट का दृश्य चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बहुत ऊँची चोटी पर पहुँचा दिखाई देता है।

कला का विकास

भारतेन्दु से पहले हिन्दी में नाटकों का अभाव था। केवल दो नाटक भारतेन्दु के पूर्व लिखे गए—गिरिधरदास का 'नहुष' और महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन'। यद्यपि भारतेन्दु-युग में बँगला-नाटकों की पर्याप्त रचना हो चुकी थी और भारतेन्दु का बँगला-साहित्य से परिचय भी खूब था; तो भी भारतेन्दु जी ने न बँगला-नाट्य-कला ही को पूर्ण रूप से अपनाया और न संस्कृत-नाट्य-कला का ही पूरी तरह पालन किया। कहना चाहिए कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के बन्धनों के झमेले में न पड़कर और साथ ही पश्चिमी कला का अंधानुकरण न करके उन्होंने स्वाधीनता से लिखना आरम्भ किया और नवीन पथ का निर्माण किया।

भारतेन्दु के सामने हिन्दी-नाटक न थे, इसलिए उनकी कला को हम वर्तमान विकसित नाट्य-सिद्धान्तों की कसौटी पर परखना उचित नहीं समझते। उनके नाटकों में अनेक भद्दी भूलें हैं; इसमें सन्देह नहीं; फिर भी उन्होंने नाटक-रचना का द्वार खोला और अपने युग के अनुसार बहुत अच्छे नाटक लिखे।

संस्कृत-नाटकों के समान ही भारतेन्दु बाबू के लगभग सभी नाटकों में प्रस्तावना और भरतवाक्य हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत जननी' आदि में नांदी-पाठ, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि सभी दिये गए हैं। अंकों का विभाजन कहीं-कहीं संस्कृत के समान ही है। 'चन्द्रावली' में प्रस्तावना के बाद विष्कम्भक, जिसमें शुकदेव और नारद चन्द्रावली के प्रेम के विषय में बातें करते हैं, दिया गया है। 'चन्द्रावली' में दूसरे अंक के बाद अंकावतार भी किया गया है। संस्कृत-नाटकों के समान ही स्वगत की भरमार और पद्यात्मक संवाद भी उनके सभी नाटकों में हैं।

'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्रथम अंक में नारद और इन्द्र परस्पर वार्तालाप करते-करते बीच-बीच में स्वगत-भाषण भी करने लगते हैं। तीसरे अंक में महाराज हरिश्चन्द्र काशी में घूमते हुए काशी और गंगा-वर्णन में तीन पृष्ठ का स्वगत-भाषण कर डालते हैं। श्मशान में तो इससे भी अधिक कमाल करते हैं—पूरे ६ पृष्ठ का स्वगत-भाषण उनके मुख से कराया गया है।

नाटकीय अनुरोध के बिना ही अनेक स्थलों पर प्रकृति-वर्णन भी अनेक नाटकों में है। 'चन्द्रावली' में जमना-वर्णन या बादलों की छटा का वर्णन और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में काशी की शोभा और गंगा का वर्णन केवल वर्णन के लिए ही है :

"नव उज्जल जल-धार हार हीरक-सी सोहति,
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि-पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत,
जिमि नर गनमन विविध मनोरथ करत मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपान सरसि सबके मन भावत,
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर भगावत।"

गंगा के लम्बे-चौड़े वर्णन का नाटकीय अनुरोध या आग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं, केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काशी-भक्ति की ही माँग के कारण यह अनाटकीय प्रसंग नाटक में जोड़ा गया है। 'प्रेम योगिनी' के तीसरे गर्भांक में सुधाकर द्वारा काशी का जो वर्णन कराया गया है, वह लगभग सात पृष्ठ तक चलता है। न उसका किसी नाटकीय विषय से संबंध है, न उसकी आवश्यकता।

संस्कृत नाट्य-शास्त्र की भरत कला के साथ भारतेन्दु जी ने पश्चिमी कला का सुन्दर और समयोचित सामंजस्य किया। 'नीलदेवी' का दृश्य-विधान पश्चिमी शैली का है। नाटक की पूर्ण कथा दस दृश्यों में कह दी गई है। 'विद्या सुन्दर' में तीन अंक हैं और तीनों अंकों में क्रमशः चार, तीन और तीन गर्भांक। ये गर्भांक वास्तव में दृश्य के ही पर्याय हैं। यह दृश्य-विधान भी पश्चिमी ढंग का है। इन दोनों नाटकों में न तो नान्दी-पाठ है, न प्रस्तावना और न भरत-वाक्य ही। 'नीलदेवी' 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' तथा 'भारत जननी' में तो स्वगत का व्यवहार इतना कम हुआ है कि हरिश्चन्द्र की प्रतिभा की प्रशंसा करनी पड़ती है। इस अस्वाभाविकता को उन्होंने समझा था, ऐसा मालूम होता है। रचना-क्रम से 'भारत जननी' और 'नीलदेवी' हैं भी बाद के नाटक।

भारतीय दृष्टि से चरित्र-चित्रण का महत्त्व कम है, आदर्श और रस-निरूपण का अधिक। पश्चिमी दृष्टि से कार्य-व्यापार, चरित्र-चित्रण, और संघर्ष आवश्यक है। भारतेन्दुजी ने दोनों दृष्टियों के अनुसार नाटक लिखने का प्रयत्न किया। चन्द्रावली आदर्श प्रेमिका और कृष्ण आदर्श प्रेम के आधार हैं। हरिश्चन्द्र आदर्श दानी हैं। नीलदेवी आदर्श वीरांगना, अमीर अब्दुशशरीफखाँ

शठनायक और सूर्यदेव धीरोदात्त नायक है। भारतीय दृष्टि से रस का साधारणीकरण हो जाता है। रस की अनुभूति या साधारणीकरण तभी होता है जब कोई विशेष पात्र—नायक, शठनायक, नायिका—हमारे रस का आलम्बन बनता है। यह तभी हो सकता है, जब नायक सामाजिकों का आदर्श हो।

वर्तमान जीवन के संघर्ष और चरित्र-वैचित्र्य के चित्र तो भारतेन्दु के नाटकों में मिलने असम्भव हैं, पर उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व दिखाने का प्रयास अवश्य किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान में खड़े हरिश्चन्द्र के हृदय की अवस्था देखी जा सकती है, "इसके पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने योग्य डाली खींचकर) धर्म ! मैंने अपने जाने सब अच्छा ही किया·········मुझे क्षमा करना। (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंक-कर) गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अधर्म अनर्थ विचारा !! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा।"

चरित्र के छिपे गुणों को भी 'नील देवी' में प्रकट करने का अच्छा प्रयत्न है।

"अमीर (खूब घूर-घूर कर स्वगत)—हाय ! हाय ! इसको देखकर मेरा दिल बिलकुल हाथ से जाता रहा। जिस तरह हो, आज ही इसे काबू में लाना जरूरी है। (प्रकट) वल्लाह ! तुम्हारे गाने ने मुझे बे-अख्तियार कर दिया है।"

कार्य-व्यापार और गुण-समष्टि की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। द्वितीय नाटक 'नीलदेवी' ही माना जायगा। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में कथा तेजी से आगे बढ़ती है और विश्वामित्र बड़ी सशक्त गति से अपने कार्य में प्रवृत्त है। 'नीलदेवी' में भी अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक कार्य-व्यापार के दर्शन होते हैं। कम-से-कम दो घटनाएं तो नाटकीय कौतूहल विस्मय और अनाशितता को बहुत सफलता से प्रकट करती हैं—पहली सूर्यदेव के पड़ाव पर अमीर का आक्रमण और नीलदेवी का गायिका-रूप में अमीर अब्दुश्शरीफ़ का वध करना।

भारतेन्दु के नाटकों के गुणों की अपेक्षा, दोष अधिक स्पष्ट हैं और ये संख्या में भी अधिक हैं। संस्कृत और पश्चिमी नाट्य-कला का सामंजस्य तो उन्होंने अवश्य किया; पर उनमें से किसी को भी समझा बहुत कम। 'चन्द्रावली' और 'प्रेम योगिनी' उनकी कला के भद्देपन और असफलता

के आदर्श नमूने हैं। विष्कम्भक में, आरम्भ में ही, शुक-नारद-सम्वाद में चन्द्रावली के प्रेम की चर्चा; पर बाद में इनका नाटक में ही पता नहीं। इसी प्रकार तीसरे अङ्क में तालाब के किनारे माधवी, चन्द्रकान्ता, विलासिनी, वल्लभा, कामिनी आदि कहाँ से आ टपकीं। न पहले और न बाद में ही इनका पता चला। यह दृश्य भी बहुत भद्दा और लम्बा है—स्थान की दृष्टि से। विष्कम्भक का विषय प्रस्तावना में होना चाहिए था; प्रस्तावना में भारतेन्दु अपना ही गुण-गान करने में लगे रहे। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है। "यह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेव बनकर रंगशाला में आता है।" यह हास्यास्पद है।

'प्रेम जोगिनी' में तो नाटकीयता है ही नहीं। पात्र तक बे-सिलसिले हैं। हर गर्भाङ्क में नये पात्र आ धमकते हैं; पिछलों का पता नहीं चलता।

कथोपकथन की दृष्टि से 'नीलदेवी' दोष-मुक्त है, शेष सभी नाटक सदोष हैं। 'चन्द्रावली' में दूसरे अङ्क में चन्द्रावली का चार पृष्ठ का स्वगत, तीसरे अङ्क में चन्द्रावली का चार पृष्ठ का और चौथे में ललिता का तीन पृष्ठ का जमना-वर्णन-स्वगत-भद्दे दोष ही माने जायँगे। इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र द्वारा गंगा-वर्णन। 'चन्द्रावली' का अन्त कृष्ण-मिलन में हो जाना चाहिए था, दो-तीन पृष्ठ और बढ़ाकर नाटक को और भी सदोष कर दिया गया।

हरिश्चन्द्र की भाषा रसपूर्ण और अवसरोपयोगी है। भाषा में नाटकीय सशक्तता भी है और प्रवाह भी। विषय के अनुसार भी वह अपना कटु-मधु रूप धारण करती है। प्रेम के प्रसंग में भाषा मधुर, भावुकता-भरी, सरल और रस-डूबी होती है और वीरता प्रदर्शक स्थल पर चुस्त और गतिशील। पात्रों के अनुरूप भी वह अपना चोला बदलती है। 'नील देवी' में भाषा का स्वच्छ, सुन्दर, शुद्ध और व्यापक स्वरूप मिलता है—मुसलमान पात्र उर्दू बोलते दिखाई देते हैं और हिन्दू-पात्र हिन्दी।

"कुफ़्फ़ार सब दाखिले दोज़ख होंगे और पैगम्बर आखिरुल जमाँ सल्लल्लाह अल्ले हुसल्लम की दीन तमाम रुए जमीन पर फैल जायगा।" यह उर्दू का नमूना है। यह एक दोष भी हो सकता है।

अभिनेयता

नाटक का अभिनयोपयुक्त होना, उसके प्रचार तथा जीवन-विस्तार के लिए बहुत बड़ा गुण है। नाटकीय परिभाषा के अनुसार यह एक प्राणवान

तत्त्व भी है। सभी गुण होने पर भी यदि नाटक अभिनय की दृष्टि से असफल रहा तो वह पठनीय विशेषता तक ही रहेगा, सामाजिकों में न अधिक प्रचार पायगा, न उससे नाटकीय रुचि ही प्रेरित हो सकेगी। हरिश्चन्द्र के नाटकों को जब हम इस कसौटी पर कसते हैं तो उनके नाटक अधिक मात्रा में अभिनय के उपयुक्त ठहरते हैं। भारतेन्दु के जीवन-काल में भी 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अनेक बार अभिनय किया गया और अके पश्चात् भी।

रंगमंच के उपयुक्त होने-न-होने में दृश्य-विधान ही अनिवार्य और प्रमुख तत्त्व है, शेष भाषा, पद्यात्मकता, कार्य-व्यापार, चरित्र-चित्रण, संघर्ष आदि-गौण। यदि दृश्य-विधान ठीक हुआ तो नाटक का अभिनय हो अवश्य सकता है, उसका प्रभाव पड़े या न पड़े—रस-सिद्धि हो या न हो। दृश्य-विधान के पश्चात् कार्य-व्यापार, कथा की तीव्रता और चरित्र-चित्रण की बारी आती है। ये सभी तत्त्व उचित मात्रा में हुए, ो नाटक का सफल और रस-साधक अभिनय हो जायगा।

भारतेन्दु के सभी नाटकों का दृश्य-विधान बहुत सरल है। 'विद्या सुन्दर' में तीन अंक हैं और प्रत्येक में चार, तीन और तोन के क्रम से गर्भांक या दृश्य। पहला अंक वर्धमान का राजभवन, वर्धमान का उद्यान, हीरा मालिन का घर तथा विद्या (वर्धमान की राजकुमारी) का भवन। दूसरा अंक—विद्या का भवन, विद्या का भवन, विद्या का भवन। तीसरा अंक—राज-मार्ग, विद्या का भवन, राज-भवन। इन तीनों अंकों के निर्माण में तनिक भी कठिनाई नहीं। इस नाटक में कौतूहल भी है—अचानक सुरंग से सुन्दर का प्रकट होना विद्या के भवन में। 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' में चार अंक है—अंक ही दृश्य हैं। इससे सरल तो दृश्य-विधान हो ही नहीं सकता। यह प्रहसन है, इसलिए सामाजिक इसमें पूर्ण रसानुभूति करेंगे।

'अन्धेर नगरी' और 'भारत दुर्दशा' में भी ६ अंक हैं। अंक ही दृश्य हैं। इनका निर्माण तो सरलता और सादगी में आदर्श है। 'नीलदेवी' में नौ दृश्य हैं—हिमगिरि का शिखर—अप्सराओं का गान, युद्ध का डेरा—अब्दुश्शरीफ का दरबार, पहाड़ की तराई—सूर्यदेव-नीलदेवी का दरबार, सराय: चपरगट्टू और पीकदानअली की बातचीत, सूर्यदेव के डेरे का बाहरी भाग, अब्दुश्शरीफ का खेमा, कैदखाना—सूर्यदेव एक पिंजरे में बन्द, मैदान, सूर्यदेव का डेरा और अब्दुश्शरीफ का दरबार। दृश्यों के क्रम को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि यह विधान बहुत ही सरल है। एक ही दृश्य से कई दृश्यों का भी काम लिया जा सकता है। युद्ध के डेरे या पड़ाव का दृश्य तनिक-

सा परिवर्तन करके सूर्यदेव और अबदुश्शरीफ में से किसी का भी स्थान बनाया जा सकता है।

प्रभाव की दृष्टि से 'नीलदेवी' 'सत्यहरिश्चन्द्र' के पश्चात् आता है। इसके सभी दृश्य बहुत संक्षिप्त, प्रभावशाली, उपयुक्त और चुस्त हैं। पहले तीन को छोड़कर सभी दृश्य बड़े प्राणवान हैं। नाटकीय दृष्टि से यह भारतेन्दु का सर्वश्रेष्ठ नाटक कहला सकता है। चौथा दृश्य हँसाते-हँसाते लोट-पोट कर देता है। पाँचवें में कौतूहल, जिज्ञासा और अनाशितता बहुत अच्छी मात्रा में है। सातवाँ दृश्य करुणा और निराशा की अन्धेरी फैला देता है। आठवें में करुणा और निराशा और भी सघन हो जाती है—राजा सूर्यदेव की मौत का समाचार मिलता है। नवें में फिर साहस और वीरता का दृश्य सामने आता है। दसवाँ दृश्य अत्यन्त सफल और समष्टि रूप में अमिट प्रभाव डालने वाला है। अमीर अबदुश्शरीफ का वध नीलदेवी उसके सीने पर चढ़कर करती है। अंतिम दृश्य में नाटक के सभी गुण आ गए हैं।

अभिनय की दृष्टि से 'चन्द्रावली' बहुत भद्दी, असफल और निराशाजनक रचना है। इसमें विष्कम्भक और प्रस्तावना निरर्थक हैं। तीसरा अंक निर्माण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। संवाद अस्वाभाविक और बहुत लम्बे हैं। न इसमें कार्य व्यापार है, न कोई उद्देश्य। भाषा भी बे-ठिकाने—कहीं ब्रजभाषा तो कहीं खड़ी बोली का प्रयोग गद्य-संवादों में भी कराया गया है।

संवाद बड़े-बड़े, प्रेम-प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं, जो न कथानक को ही बढ़ाते हैं। न कोई चारित्रिक गुण ही प्रकट करते हैं।

'विषस्य विषमौषधम्' भाण्ड है, जो अभिनय से कोई संबंध ही नहीं रखता। एक व्यक्ति खड़ा-खड़ा बकता रहे, किस श्रोता में इतना धीरज है कि इस बकवास को सुनता रहे। 'भारत जननी' एकांकी है। अभिनय की दृष्टि से उसमें रंगमंच-सम्बन्धी कोई दोष नहीं। वैसे वह आजकल अभिनीत किया जाय तो किसी काम का नहीं समझा जायगा। प्रतीक रूपकों का अभिनय कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकता। भाव और भावनाओं को व्यक्ति मानकर सामाजिक उसमें आनन्द नहीं ले सकता।

अभिनय की दृष्टि से पद्यात्मक संवाद और स्वगत का दोष तो भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटकों में मिलता है। यह उस युग का चलन था। आजकल इनको निकाला जा सकता है।

अभिनेयता पर विचार करते हुए एक-दो छोटी-मोटी बातों का भी ध्यान रखा जाता है। अभिनय में अवसर के अनुसार भाषा होनी चाहिए।

भाषा की दृष्टि से हरिश्चन्द्र ने आधुनिक गद्य का प्रवर्तन किया है। उनका गद्य नाटकों में ही निखरा है। पात्र, स्थिति, चरित्र, भाव आदि के अनुरूप ही भाषा भारतेन्दु जी ने लिखी है। यहाँ तक कि मुसलमान पात्रों से उर्दू का प्रयोग कराया है। वीर, करुण, शृङ्गार, हास्य सभी के अनुरूप भाषा लिखने में हरिश्चन्द्र ने प्रशंसनीय सफलता पाई।

कहीं-कहीं भारतेन्दु जी ने रंगमंच-सम्बन्धी निर्देश भी दिये हैं—

"एक टूटे देवालय की सहन में एक मैली साड़ी पहने बाल खोले भारत-जननी निद्रित-सी बैठी है, भारत-सन्तान इधर-उधर सो रहे हैं। भारत-सरस्वती आती है। सफेद चन्द्रजोत छोड़ी जाय, गाती हुई, ठुमरी।"

अभिनेयता में नाटक के आकार का भी विचार किया जाता है। नाटक बहुत बड़ा हुआ, तो उसका अभिनय न हो सकेगा। सामाजिक तथा अभिनेता दोनों ही थक जायंगे। इस दृष्टि से हरिश्चन्द्र के सभी नाटक छोटे हैं। किसी के भी अभिनय में डेढ़ घण्टे से अधिक समय नहीं लग सकता। 'नीलदेवी' और 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' ४०-४० पृष्ठों के ही हैं और 'विद्या सुन्दर' ६० पृष्ठ का।

कार्य-व्यापार और अन्तर्द्वन्द्व भी भारतेन्दु के नाटकों में किसी-न-किसी रूप में पाया ही जाता है। 'नीलदेवी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'विद्या सुन्दर' में यह उचित मात्रा में आया है।

: २ :

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसाद का व्यक्तित्व

नवजागरण के मंगल-प्रभात में भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण प्रकाश का सन्देश देकर असमय ही विलीन हो गई। साहित्य में फिर शिथिलता और जड़ता का अन्धकार छा गया, यद्यपि अनेक साहित्य-स्रष्टा अपनी प्रतिभा से कुछ-न-कुछ प्रकाश प्रदान करते ही रहे। जागरण की गोद में प्रसाद जी अलौकिक प्रतिभा लिये दिव्य प्रकाश-पिण्ड के समान प्रकट हुए। प्रसाद ने साहित्य के हर क्षेत्र में—सुदूर कोनों तक को—प्रकाशित किया। उनका महान् व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में वरदान के समान उदित हुआ। प्रसादजी भारतीय सांस्कृतिक जागरण के देवदूत थे। उनके व्यक्तित्व में बौद्धों की करुणा, आर्यों का आनन्दवाद और ब्राह्मणों का तेज था।

भारतीय अतीत के अनन्य उद्धारक और उपासक 'प्रसाद' के हृदय में आर्य-संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उस अतीत संस्कृति में उनको मानवता का महान् दर्शन हुआ था और उनका दृढ़ विश्वास था कि यही सांस्कृतिक उत्थान भारतीय जीवन को दिव्य बना सकता है—उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है—सशक्त गति ला सकता है। हमारी यही संस्कृति-जिसमें त्याग का गौरव है, विजय की शक्ति है, करुणा की तरलता है और क्षमा की अनुकम्पा है—पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध को रोक सकती है।

प्रसादजी कल्पना के कोष और प्रतिभा के अखण्ड भण्डार थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा से अतीत की मोटी-मोटी दुर्भेद्य तहों में दबी संस्कृति का उद्धार किया। अपनी रंगीन कल्पना का रंग चढ़ा, उस संस्कृति के अलभ्य-अमूल्य रत्नों को विश्व के पारखियों के सामने रखा। यही संस्कृति उनके नाटकों, कविताओं, कहानियों, निबंधों आदि में सजग होकर आई। भाषा को उन्होंने नवीन रूप दिया, भावों को नये साँचे में ढाला, कला का अभिनव

शृङ्गार किया और अलंकारों का अभूतपूर्व ढंग से प्रयोग किया। प्राचीनता को नवीन जीवन दिया—नवीन प्राण दिये। कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, निबंध, पुरातत्व, इतिहास—सभी क्षेत्रों में उन्होंने अलौकिक कार्य किया। और सभी ओर सांस्कृतिक चेतना प्रसाद को प्रेरित कर रही है।

नाटकों का काल-क्रम*

१—सज्जन	सन् १९१०—११
२—कल्याणी-परिणय	१९१२
३—करुणालय	१९१३
४—प्रायश्चित्त	१९१४
५—राज्यश्री	१९१५
६—विशाख	१९२१
७—अजातशत्रु	१९२२
८—कामना (प्रकाशित १९२७)	१९२३—२४
९—जन्मेजय का नागयज्ञ	१९२६
१०—स्कन्दगुप्त	१९२८
११—एक घूँट	१९२९
१२—चन्द्रगुप्त	१९३१
१३—ध्रुवस्वामिनी	१९३३

सांस्कृतिक चेतना

सांस्कृतिक चेतना प्रसाद के सभी नाटकों की प्राण है—यही उनके लिए सबल प्रेरणा है। प्रसाद के हृदय में भारतीय संस्कृति को पुन: प्रतिष्ठा करने के लिए तीव्र आकुलता है। इसी की जादूभरी प्रेरणा पाकर प्रसाद ने पुरातत्व की खोज की ओर दबे रत्नों को निकाला। इसी भारतीय आलोकमयी तेजस्वी संस्कृति के रंग-बिरंगे चित्र प्रसादजी ने अपने नाटकों में दिये हैं। प्रसादजी की पुतलियों ने देखा कि भारतीय संस्कृति पद-दलित हो रही है। उसी की गोद में, उसी का अमृत-जैसा दूध पीकर पले भारतीय उसका तिरस्कार कर रहे हैं और विदेशी सभ्यता के पीछे पागल हो रहे हैं। उनकी पलकों में ममता के आँसू छलक आए।

---

*प्रथम चार एकांकी हैं। 'एक घूँट' और 'कामना' भाव-रूपक हैं और शेष सभी ऐतिहासिक नाटक।

आर्य-संस्कृति की उपेक्षित अवस्था देखकर प्रसादजी ने 'कामना' की रचना की। 'कामना' हमारी भोली वात्सल्यमयी मधुर मानवतापूर्ण संस्कृति है और 'संतोष' उसका पति—आधार और उद्देश्य है। 'फूलों का द्वीप' उसका प्यारा देश है। विदेशी 'विलास' 'कामना' को पथ-भ्रष्ट करने के लिए भौतिक सभ्यता की चकाचौंध उसे दिखाता है। स्वर्ण का मूल्य बढ़ता है—'कामना' भुलावे में आकर 'सन्तोष' से दूर होती जाती है और फिर देश में अशान्ति, अनाचार और मदिरा-पान का दौर-दौरा होता है—फिर सुख कहाँ। 'कामना' रूपक पश्चिमी सभ्यता द्वारा लाये गए विलास की वेदनाभरी तस्वीर है। इस रूपक में प्रसादजी ने हमारी संस्कृति के करुण विनाश और प्रसन्न उद्धार का मनोहर चित्र खींचा है। संस्कृति के विनाश का वह व्यथित चित्र 'सन्तोष' के शब्दों में देखिये—

"वे (युवक) शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाए घूमते हैं। कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं।"

कामना ने भी देखा कि—

"अब क्या, देश में धनवान और निर्धन, शासकों का तीव्र तेज, दीनों की विनम्र दयनीय दासता, सैनिक-बल का प्रचण्ड प्रताप, किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर···सभी कुछ तो है।···सब कुछ सोना और मदिरा के बल पर चल रहा है।"

इसी संस्कृति की पतनावस्था का चित्र 'स्कन्द गुप्त' में भी देखिए। एक सैनिक कहता है—

"हाँ, यवनों से उधारली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़ कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख दीप का यह दृश्य है।"

ऊपर के उद्धरणों में प्रसाद की वह व्यथा बज रही है, जो उन्हें अपनी संस्कृति के पतन पर होती थी।

इस जर्जर संस्कृति को प्राणवान कैसे बनाया जाय—इसको कैसे पुन-र्जीवित किया जाय, यही प्रसाद की आकांक्षा का सबल अनुरोध है। प्रसाद जी ने आर्य-संस्कृति का महान् और अनुपम रूप उपस्थित करने के लिए, उसके दिव्य गुणों के स्वस्थ पक्ष को विश्व के सामने रखा। मानवता का भव्य रूप ही इसे विश्व की आँखों में गौरवशाली बना सकता है। यही प्रसादजी ने उपस्थित किया। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' में आर्य संस्कृति को सबल पैरों पर खड़ा करने का एक प्रयास है। उसमें नागों का दमन कर

जन्मेजय ने आर्यराष्ट्र को सबल बनाया और संस्कृति की एक धुँधली झाँकी दिखाई। 'अजात शत्रु' में गौतम के रूप में वही आर्य-संस्कृति करुणा की ममतालु मूर्ति बनकर क्षमा, स्नेह, सहानुभूति, संवेदना का सन्देश देते हुए प्रकट हुई।

गौतम कहते हैं—"भूमण्डल पर स्नेह का, करुणा का, क्षमा का, शासन फैलाओ। प्राणि- मात्र में सहानुभूति को विस्तृत करो।"

यही मानवता का वास्तविक रूप है और यही हमारी महान् संस्कृति की साँस है।

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सैकड़ों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।"

—[गौतम, 'अजातशत्रु' में]

इसी संस्कृति का महान् सन्देश हमारे पूर्वज जीवन-द्रष्टा ऋषि युग-युग से देते आ रहे हैं। शांति का वह शीतल छायादार वृक्ष उन्होंने धरती पर लगाया है, जहाँ भौतिक आतप-ताप से झुलसा मानव सुख और सुरक्षा का विश्वास पाता है।

इसी मानवता की प्रेरणा के महान् विश्वास को आत्मा में विकसित करके हमारे ऋषि विश्व-कल्याण-चिन्तन में लीन निर्भय हो पशु-बल की भर्त्सना करते हैं। विश्व-विजेता का दम्भ लिये सिकन्दर जब दाण्ड्यायन के सामने आता है, तब दाण्ड्यायन कहता है—

"जय-घोष तुम्हारे चारण करेंगे। हत्या, रक्त-पात और अग्निकाण्ड के उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र।"

जिसके खड्ग की चमक से बड़े-बड़े साम्राज्यों के पैर लड़खड़ा गए, वही सिकन्दर एक वृक्ष की छाया में बैठे नग्न ऋषि की भर्त्सना सुनकर क्या सन्न न रह गया होगा। जो इतनी खरी बात कह सकता है, उसकी संस्कृति में कोई दिव्य गुण अवश्य है, जिसका उसे अवलम्ब है—भरोसा है। रक्त-पात और अग्नि-काण्ड की निन्दा करने वाले की संस्कृति कितनी क्षमाशील होनी चाहिए—कितनी शरणागत-रक्षक होनी चाहिए! स्कन्दगुप्त के द्वारा दिया गया आश्वासन कितना मनोहर है—"केवल सन्धि-नियम से ही हम लोग बाध्य नहीं हैं, शरणागत की रक्षा करना भी क्षत्रिय का धर्म है।" और इस

धर्म को हमने कितनी ही बार विष के घूँट पीकर भी सुरक्षित रखा है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

क्षमा हमारी क्षमता है। 'चन्द्रगुप्त' में यह क्षमा भी कितनी गौरवशाली है।

"सेनापति, रक्त का बदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है—प्रतिशोध !"—[एक सैनिक]

"ठहरो मालव वीरो, ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था—पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

कहकर सिंहरण तुरन्त सिकन्दर को मुक्त कर देता है। यह क्षमा, यह कृतज्ञता, यह प्रतिशोध इतिहास के लिए स्पर्धा की वस्तु है।

आर्य-संस्कृति का यह दिव्य रूप सामने रखकर प्रसाद जी ने हमारी आँखों को नवीन प्रकाश दिया—उन्होंने उस गौरवशाली पथ का निर्माण किया, जिसके लिए हम सैकड़ों वर्षों से भटक रहे थे। प्रसाद जी ने ब्राह्मण शाश्वत धर्म की झाँकी दिखाई और साथ ही क्षात्र-धर्म के देदीप्यमान वक्ष का रूप भी उपस्थित किया। उनका यह कार्य भारतीय साहित्य-निर्माण में महान् सिद्धि है—गौरवमय सफलता है।

ऐतिहासिकता

संस्कृति प्राण है और अतीत का गौरवशाली वैभवपूर्ण इतिहास उसका स्वस्थ शरीर। अतीत की आर्य-संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए प्रसादजी ने भारतीय इतिहास को चुना। इतिहास की सबल बुनियादों पर उन्होंने संस्कृति का भव्य भवन निर्माण किया। प्रसादजी को अपने पूर्वजों के इतिहास पर विश्वासपूर्ण गर्व था—उससे उन्हें मोह था। प्रसादजी के ('एक घूँट' और 'कामना' को छोड़कर) सभी नाटक भारतीय इतिहास के चमकते रत्न हैं। प्रसादजी ने भारत का वह इतिहास लिया है, जब आर्य-सभ्यता-संस्कृति और शक्ति वैभव-शैल के सर्वोच्च शिखर पर आसीन थी। प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक काल भारतीय पराक्रम का चमकता युग है। आर्य-साम्राज्य-विस्तार का वह समय था। विदेशी आक्रमणकारियों को पराजित करके भारतीय गौरव का अभिषेक करने का अवसर था। हमारा राजनीतिक प्रभुत्व व्यापक था। व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल, साहित्य-सृजन आदि सभी दृष्टियों से वह काल 'स्वर्ण-युग' था।

प्रसादजी के नाटकों का समय भारत-युद्ध (महाभारत) के बाद से

आरम्भ होकर सम्राट् हर्ष तक आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'आर्य-स्वर्ण-युग' का आभास 'जन्मेजय का नागयज्ञ' से होने लगता है। 'अजात शत्रु' में साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न के रूप में यह स्पष्ट होता हुआ दीखता है। 'चन्द्रगुप्त' में समस्त भारत में मगध के आर्य साम्राज्य का विस्तार हो जाता है। पराजय स्वीकार कर सेल्यूकस को अपनी पुत्री का विवाह भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त से करना पड़ता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में विदेशी हूणों के नेता का वध करके रामगुप्त-जैसे क्लीव को मार्ग से हटाकर चन्द्रगुप्त सम्राट् बनता है और 'स्कन्दगुप्त' में भारत पर आक्रमण करने वाले हूणों का नाश करके गुप्त-साम्राज्य को सुरक्षित और सबल बना दिया जाता है—गुप्त साम्राज्य का उद्धार विदेशी आततायियों के हाथों से कर लिया जाता है। बौद्धकाल (अजातशत्रु) मौर्य-काल (चन्द्रगुप्त) गुप्तकाल (ध्रुव स्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त') वर्धनकाल ('राज्य-श्री') सभी प्रसाद जी के नाटकों में आ जाते हैं।

प्रसाद के नाटकों के नायक इतिहास के विश्व-विख्यात पुरुष हैं। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' का नायक जन्मेजय महाभारत-काल के बाद भारत का शासक बना। यह परीक्षित का सबसे बड़ा पुत्र था—श्रुतसेन, उग्रसेन, भीमसेन तीन इसके छोटे भाई थे। इसने नागजाति से भयंकर युद्ध किया और नागों को नष्ट करके सुदृढ़ आर्य-राज्य की स्थापना की। यह नाटक शुद्ध ऐतिहासिक होते हुए भी पौराणिक भी गिना जा सकता है।

'अजातशत्रु' से 'ध्रुवस्वामिनी' तक सभी नाटक शुद्ध ऐतिहासिक हैं। उनके प्रसिद्ध पात्र इतिहास की गोद में प्रकाश-स्तम्भ के समान खड़े हैं। 'अजात शत्रु' का बिंबसार* शिशुनाग वंशीय सम्राट् था। वह बुद्ध के

---

*अजातशत्रु के पिता बिम्बसार और चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार को एक मानकर डॉक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपनी ऐतिहासिक ना समझी का आश्चर्य-जनक परिचय दिया है। चन्द्रगुप्त मौर्य को गौतम बुद्ध का समकालीन बताकर तो और भी कमाल कर दिया। उन्होंने इतिहास की मरम्मत यहीं तक नहीं की—अशोक और अजातशत्रु को एक ही व्यक्ति बना डाला! 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ १६४ पर आप लिखते हैं, "बिम्बसार (बिन्दुसार) इन्हीं सम्राट् चन्द्रगुप्त का पुत्र था, जो उनके पश्चात् मगध का सम्राट् बना। गौतम बुद्ध के समकालीन इन सम्राट् के समय में, जिस षड्यन्त्र की योजनाएं हो रही थीं,………इसी ऐतिहासिक सामग्री को अजातशत्रु का आधार

जीवन-काल (५६७ से ४८० ई० पूर्व) में ही मगध पर शासन करता था। राजगह (राजगृह) उसकी राजधानी थी। उसने कोशल की राजकुमारी कोशलदेवी, लिच्छवी वंश की राजकुमारी छलना, पंजाब की राजकुमारी खेमा से विवाह किया। छलना से अजातशत्रु का जन्म हुआ गौतम, बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित (कोशल-नरेश) विरुद्धक, पद्मावती, आम्रपाली उदयन सभी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। और इसमें वर्णित घटनाएं—आम्रपाली द्वारा बुद्ध को भोजन कराना, कोशल-मगध का युद्ध, प्रसेनजित का विरुद्धक से विरोध आदि भी इतिहास-परिचित घटनाएं हैं।

'चन्द्र गुप्त' के चाणक्य, चन्द्रगुप्त, नन्द, राक्षस, पर्वतेश्वर, सिकन्दर, सेल्यूकस, आम्भी, दाण्ड्यायन—सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। क्षुद्रकों और सिकन्दर का युद्ध और सिकन्दर का बुरी तरह घायल होना, यूनानी इतिहास तक में मिलता है। दाण्ड्यायन-सिकन्दर की भेंट और दाण्ड्यायन (दण्डमिस) द्वारा सिकन्दर का फटकारा जाना भी इतिहास का सत्य है। चन्द्रगुप्त-सेल्यूकस का युद्ध (३०५ ई० पूर्व) भी सत्य घटना है। और कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त-विवाह भी इतिहास मानता है। इतिहास के द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था। गोरखपुर के उत्तर-पूर्व में मौर्यों का एक प्रजातंत्र राज्य था—उसी मौर्य-क्षत्रिय-शाखा में चन्द्रगुप्त का जन्म पिप्पली कानन में हुआ था।

'ध्रुवस्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त' गुप्त-काल के नाटक हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त के बाद उनका पुत्र रामगुप्त सम्राट् बना। वह कायर और विलासी था। 'ध्रुवस्वामिनी' उसी की पत्नी—गुप्त-कुल की राज्य-लक्ष्मी थी। रामगुप्त की कायरता का लाभ उठाकर शकराज खिंगिल ने ध्रुवस्वामिनी की

बनाया गया है।............अजातशत्रु क्या अशोक का ही दूसरा नाम था? परिणाम तो यही निकलना चाहिए कि अशोक और अजातशत्रु दोनों एक ही व्यक्ति हैं।"

इतिहास का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि गौतम बुद्ध और चन्द्रगुप्त में लगभग २५०, अजातशत्रु और अशोक में ३००, तथा बिम्बसार (अजातशत्रु का पिता) और बिन्दुसार (अशोक का पिता) में ३०० वर्ष का अन्तर है। यह सर्वमान्य तथ्य है। पर सर्वमान्य तथ्य को स्वीकार करने में गुप्त जी की विलक्षण खोज की शान भला क्या रहती।

माँग की। रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी खिंगिल की भेंट कर दी गई। अपने कुल की मान-रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त, (रामगुप्त का छोटा भाई) ध्रुवस्वामिनी के वेश में खिंगिल के शिविर में गया और उसने उसका वध कर दिया। सभी सेनानायकों और सरदारों ने चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाया और रामगुप्त को मार डाला। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पत्नी ध्रुवस्वामिनी से कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त दो पुत्र हुए। कुमारगुप्त नियमानुसार सम्राट् बना। कुमारगुप्त के भी दो पुत्र हुए—एक स्कन्दगुप्त और दूसरा पुरगुप्त। स्कन्दगुप्त नियमानुसार युवराज बनाया गया।

'ध्रुवस्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त' में गुप्त-वंश के साम्राज्य-काल का इतिहास है। इन दोनों नाटकों के सभी व्यक्ति इतिहास में प्रसिद्ध हैं। बंगाल से सौराष्ट्र तक और दक्षिण में मैसोर तक गुप्त साम्राज्य का विस्तार था।

'राज्यश्री' में हर्षवर्धन और राज्यवर्धन के शासन-काल का इतिहास है। इसमें वर्णित भी सभी घटनाएं ऐतिहासिक हैं। हर्ष द्वारा धर्म-सभा की योजना, राज्यवर्धन का गौड़-नरेश नरेन्द्रगुप्त द्वारा वध, हर्ष का पुलकेशिन से युद्ध आदि इतिहास की साक्षी हैं।

जहाँ तक हो सका है, प्रसादजी ने घटनाओं और चरित्रों की नई कल्पना कम ही की है—उनका रूप शुद्ध ऐतिहासिक रखने की चेष्टा की है, फिर भी नाटकों को सफल बनाने और रस-निष्पत्ति के लिए कल्पना से काम अवश्य लिया गया है।

केवल इतिहास को ज्यों-का-त्यों ही रखकर उन्होंने भ्रमों को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। इतिहास और पुरातत्त्व की गम्भीर खोज भी उन्होंने की। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुव स्वामिनी, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री आदि की भूमिकाएं इसकी साक्षी हैं। यूनानी इतिहासों की गलती से चन्द्रगुप्त को शूद्र मानने की नासमझी अभी तक की जा रही थी, वह प्रसादजी ने दूर की 'चन्द्रगुप्त' की विशाल भूमिका में चन्द्रगुप्त को सबल प्रमाणों और खोजों द्वारा क्षत्रिय सिद्ध किया और नन्द को शूद्र। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, ध्रुवस्वामिनी—सभी का, जो ऐतिहासिक परिचय प्रसाद जी ने दिया है, उससे उनकी गम्भीर इतिहास-चेतना का पता चलता है। जातक, पुराण, यूनानी इतिहास, चीनी यात्री हुएनत्सांग के वर्णन आदि सभी में से उन्होंने अपने प्रमाणों के लिए सामग्री त प्रस्तुत की है। इस प्रकार प्रसाद जी ने दो प्रकार से इतिहास की सेवा की।

एक तो प्राचीन इतिहास सामने रखा, दूसरे नवीन खोजें भी की और सच्चा इतिहास अपने नाटकों द्वारा प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

राष्ट्रीय जागरण

समय की मूर्च्छाभरी गोद में बे-सुध—विस्मृति के खण्डहरों में छिपे हमारे जर्जर सांस्कृतिक आलोक-मंदिर का ही पुनर्निर्माण प्रसादजी ने नहीं किया, उसमें राष्ट्रीय प्राणवान जीवन की भव्य प्रतिष्ठा भी की। विदेशी राजनीतिक प्रभुत्व से आतंकित भारतीय हृदय को शक्ति और सुरक्षा का अवलम्ब देकर आश्वस्त किया—आत्म-बल का विश्वास दिलाया। पश्चिमी सभ्यता के प्रकाश से चौंधियाई पथ-भूली आँखों को शीतल पथ-प्रदर्शक आलोक दिया—दीन भाव से जर्जर जीवन को सशक्त गति दी।

विजय-मद में चूर पशु-बल पर गर्वित पश्चिमी सभ्यता की बाढ़ को रोकने के लिए प्रसाद के अतिरिक्त किसी भी अन्य लेखक के नाटक समर्थ और सफल बाँध नहीं बन सके। प्रसाद की राष्ट्रीयता में गौरवशाली विजय का उल्लास है। उसमें भारतीय शक्ति, शौर्य, सेवा, क्षमा, बलिदान—सभी की रंगीन किरणें हमारे अतीत के चित्रों को चमकाती हैं। वह हमारे वैभव और विदेशी आततायियों—आक्रमणकारियों के पराभव की कहानी है। परदेशी विजेताओं के दम्भ को चुनौतीपूर्ण उत्तर है।

'स्कन्दगुप्त' में बन्धुवर्मा कहता है—"तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रण-विद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्व-विख्यात रूम साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जय वीर हैं।"

यही वह शक्ति और शौर्य है, जिससे प्रत्येक भारतीय के प्राणों में सबल विश्वास जागता और विदेशी आक्रमणकारी का कलेजा काँपता है। यह वह खड्ग है, जिसकी छाया में प्रत्येक देशवासी, सुरक्षा का विश्वास करता है।

प्रसाद के प्रत्येक नाटक में आर्य-राष्ट्र को संघटित, सुरक्षित, सशक्त और महान् बनाने का सफल प्रयत्न है। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' से लेकर अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' तक सभी राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में यह राष्ट्रीयता चरमावस्था पर पहुँच अनन्त बलिदानों को गोद में लिये वैभव के शिखर पर आसीन है।

'चन्द्रगुप्त' 'ध्रुव स्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त' में भारतीय राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण हुए हैं—ऐसे ही समय राष्ट्रीयता चमकती है।

'चन्द्रगुप्त' की घटनाओं को भी प्रसाद ने अपनी दिव्य प्रतिभा की सान पर चढ़ाकर नई आभा प्रदान की है। नन्द द्वारा चाणक्य का अपमान व्यक्तिगत नहीं, एक राष्ट्रीय घटना है। चाणक्य चाहता है, सिकन्दर के विरुद्ध नन्द पर्वतेश्वर की सहायता करे। वह कहता है—"यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।" एक अन्य स्थान पर वह सिंहरण से कहता है—"मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म-सम्मान) मिलेगा।" और यही एकता की भावना चाणक्य ने जगा दी सिंहरण के लिए समस्त आर्यावर्त अपना देश हो गया। तक्षशिला के पतन पर उसका हृदय विदीर्ण होने लगा। वह कहता है—"मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है—समस्त आर्यावर्त है।"

चाणक्य की निर्मल-प्रेरणा ने सभी आर्यावर्त को एक झण्डे के तले एकत्र कर दिया। समस्त आर्यावर्त सबका हुआ। क्षुद्रक, मालव, पंचनद, यौधेय सभी गणराज्य आपसी भेद-भाव भूलकर आर्यावर्त के स्वस्थ अंग बने। आर्य युवक-युवतियों के प्राण पुकार उठे। अलका के गीत में राष्ट्र बोल उठा—

> हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से,
> प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
> स्वयं प्रभा-समुज्ज्वला,
> स्वतंत्रता पुकारती।
> अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।

'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद की राष्ट्रीय भावना और भी उज्ज्वल, तीव्र प्राणवान और त्यागमयी होकर आई है। स्कन्दगुप्त के समय टिड्डीदल के समान हूणों की बाढ़ भारतीय राष्ट्र की सुख-समृद्धि और शान्ति को बहा ले जाने के लिए आ रही थी। इसमें अधिक-से-अधिक त्याग, कष्ट-सहिष्णुता, देश-सेवा और निस्वार्थ बलिदान के चमकते चित्र हैं।

बन्धुवर्मा का महान् त्याग—मालव-राज्य को स्कन्दगुप्त के चरणों में समर्पण कर देना, हँसते-हँसते अपना बलिदान करना, राष्ट्र-यज्ञ में गौरव-पूर्ण आहुति है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त, मातृगुप्त, बन्धुवर्मा सभी देश-भक्ति की दीप-शिखा से आलिंगन करने के लिए आकुल हो आगे बढ़

रहे हैं। सभी को एक—केवल एक—पागलपन है, किसी प्रकार राष्ट्र का उद्धार हो।

साम्राज्य स्कन्दगुप्त की निजी सम्पत्ति नहीं है। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर निछावर हैं। और स्कन्दगुप्त भी अपने अधिकार के लिए नहीं, राष्ट्र के लिए लड़ रहा है। वह कहता है—"मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्त साम्राज्य—हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।"

यदि ऐसा महान् साम्राज्य सुख-शान्ति और समृद्धि का भण्डार नष्ट होने लगे तो हृदय क्यों न टुकड़े-टुकड़े हो जाय। ऐसे विशाल साम्राज्य के तनिक भी अनिष्ट की आशंका से हृदय काँप उठेगा। मातृगुप्त के शब्दों में हर एक भारत-निवासी की व्यथा बज उठेगी—"प्रलय-सिन्धु में शेष-पर्यंक-शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिन्धु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्न-राजियाँ आर्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये, हृदय के उद्गार सुनाये परन्तु पासा पलटकर भी न पलटा।"

मातृगुप्त के इन शब्दों में वर्तमान भारत की सैकड़ों क्रान्तियों की बेबसी छटपटा रही है। पर जिस देश में देवसेना-जैसी तपस्विनी बालाएँ हों, जो देश की सेवा के लिए भीख तक माँग सकती हैं, अपनी कामनाओं को कुचलकर आर्यावर्त के उद्धार के लिए अपने को भस्म कर सकती हैं, वह देश सदा स्वाधीन रहेगा। जिस देश में बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त-जैसे युवक हों, वही कभी पद्दलित नहीं हो सकता।

प्रसाद के सभी नाटक पराधीनता की अन्धकारमयी निशा में प्रकाश-पिण्ड के समान ज्योतिमान हैं। इन नाटकों के सभी पात्रों के प्राणों में बलिदान का उल्लास, राष्ट्र-निर्माण का संकल्प और इनके प्रयत्नों में सफलता का गौरव है।

प्रसाद का कवि

प्रसादजी मौलिक रूप में कवि थे। उनकी मधुवेष्टित भावना, इन्द्र-धनुषी कल्पना और रोमांच-गद्गद् अनुभूति मिलकर उनके हृदय के सजग और स्वस्थ कवि का निर्माण करती है। प्रसादजी का कवि उनके नाटकों में अत्यन्त सजग और सचेष्ट ही नहीं, अपने अधिकार का अनुचित उपभोग करता हुआ भी पाया जाता है। प्रसादजी के सभी नाटकों में, जहाँ भी देखिये, उनकी कवि-कल्पना के रंगीन पंखों की छाया में उनका नाटककार दब-सा

गया है जहाँ भी अवसर मिला है, न भी मिला तो खोज लिया गया, वहीं प्रसादजी के कवि ने मधु उँडेल दिया है—उनकी भावुकता से भरी स्वर-लहरी चहक उठी है।

'नाटक काव्य है, उसका रचयिता कवि—तब कवि की झाँकी हर-एक नाटक में स्पष्ट होगी ही'—इस रूप में ही केवल प्रसादजी नहीं प्रकट हुए, बल्कि नाटक में अवसर और स्थान निकालकर उन्होंने अपने कवि को उपस्थित किया। प्रसादजी का कविता-प्रेम उनके नाटकों में दो रूप में प्रकट हुआ है। एक तो जहाँ-तहाँ नाटकीय अनुरोध और आवश्यकता के बिना ही भावोच्छ्वास की वृष्टि और दूसरे गीतों की अरुचिकर प्रवृत्ति के रूप में।

कथानक से अलग स्थिति की माँग के बिना और नाटकीय अनुरोध के विरुद्ध पात्रों के ओठों से गद्यकाव्य की रस-धाराएं जहाँ-तहाँ फिसलती दीखती हैं।

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढक देती थी।"

× × × ×

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहली प्रभा से आलोकित प्रभा का पीले पोखराज-का-सा एक महल था, उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहली किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे प्रभु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं—मौन नीड़ में निवास करने दो।"

ऊपर दिये गए दोनों संवाद मातृगुप्त के काव्यमय प्रलाप-मात्र हैं। केवल काव्य-प्रवृत्ति को ये भले ही सन्तुष्ट करें, नाटक में इनका कुछ भी महत्त्व नहीं। नाटक के संवाद अस्पष्ट रहस्यवादी गद्य-काव्य के टुकड़े नहीं होते।

इसी प्रकार देवसेना का कथन भी—

"वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर, ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है, सुनता है।"

'चन्द्रगुप्त' में भी अनेक स्थलों पर इसी प्रकार के काव्योच्छ्वास बिखरे पड़े हैं। सुवासिनी, मालविका, कल्याणी आदि की वाणी से अनेक स्थलों

पर रस-वर्षा हो रही है। सुवासिनी कार्नेलिया से कहती है —

"अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी, फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है। आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरंद-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

लेखक की यह मधु-सिंचन-प्रवृत्ति ही है, इसमें नाटक का अनुरोध कम है। माना जा सकता है कि कार्नेलिया के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम को जगाने के लिए ही यह कहलाया गया है; पर इस नाटकीय स्थिति को खोज लाने में भी लेखक को उसके कवि ने ही प्रेरित किया है। कवि का दूसरा रूप गीतों की बहुलता लेकर आया है। प्रसाद जी की यह प्रवृत्ति कई नाटकों में तो बहुत बोझल हो गई है। लगता है, जैसे फिल्मों में ८-१० गीत रखने आवश्यक समझे जाते हैं या समय-कुसमय गाने का रोग पात्रों में पाया जाता है, यही गाने की बहुलता की प्रवृत्ति प्रसाद जी में है। 'अजातशत्रु' में तो यह प्रवृत्ति बहुत ही अस्वाभाविक रूप में आई है। वासवी, गौतम, उदयन, पद्मावती, श्यामा, जीवक, विरुद्धक—सभी पद्यों तक में बोलते हैं। संस्कृत और पारसी स्टेज के नाटकों में यह रोग बहुत था। कभी-कभी क्या, अधिकतर, जो बात गद्य में एक पात्र कहता था, वही पद्य में भी दोहराता। 'अजातशत्रु' में २१, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में ६, 'स्कन्दगुप्त' में १६, 'चन्द्रगुप्त' में ११, 'कामना' में ७, 'राज्य-श्री' में ७ गाने दिये गए हैं।

नाटकीय मर्यादा के अनुसार गानों की इतनी भरमार बड़ी बोझल है। इनसे कथावस्तु में भी बाधा पड़ती है, कार्य-व्यापार भी शिथिल होता है। अधिक गीतों से नाटकीय अभिनय में दोष ही उत्पन्न होता है। 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' 'अजातशत्रु' में जिसे भी देखो, गाने लगता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना को तो जैसे रोग हो गाने का। सम्भवतः पाठक या दर्शक की मनोवृत्ति को पहचानकर ही बन्धुवर्मा उससे कहता है, 'देवसेना तुझे भी गाने का विचित्र रोग है।'

गाने की इस प्रवृत्ति को देखकर ऐसा लगता है कि एक पात्र को गाते देखकर प्रत्येक पात्र प्रसादजी से रूठते हुए कह रहा हो—"हम से भी गवइये न, क्यों हम क्या गा नहीं सकते ! वाह, उसे तीन गाने, और मुझे एक भी

नहीं।" और प्रसाद जी मुसकराकर एक गाना, उसे भी दे देते हों। इस प्रकार सभी की बारी आ गई।

पर अनेक गाने बहुत उपयुक्त, समय और परिस्थिति के अनुरोध के कारण हैं। 'चन्द्रगुप्त' में नन्द के सम्मुख सुवासिनी के गीत ('तुम कनक किरण के······') और 'आज इस यौवन के···' स्थान और समय के अनुसार हैं। कल्याणी का गीत (सुधा-सीकर से नहला दो) भी ठीक है। 'चन्द्रगुप्त' में सबसे उपयुक्त और नाटकीय माँग को पूरा करने वाला गीत है अलका का, जिसे गाते हुए वह राष्ट्र में प्राण फूँक रही है। उसका यह गीत—('हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग पर ······') सब दृष्टियों से उच्चकोटि का है।

इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' के 'माँझी साहस है खेलोगे ?' 'धूप छाँह के खेल सदृश सब जीवन बीता जाता है।' भी उपयुक्त गीत है। पर सबसे उपयुक्त गीत है अन्तिम—'आह वेदना मिली विदाई !' यह गीत धुँधले निराश वातावरण में सिसकियाँ भरे स्वर बिखरा जाता है। दर्शक या पाठक की धड़कन में कितनी ही देर तक यह गीत नाटक का अन्तिम प्रभाव छोड़ने के लिए बहुत ही सफल है।

प्रसादजी के गीतों में उनकी रहस्यवादी भावना के ही चित्र हैं, इसलिए वे प्रायः नाटक से स्वतन्त्र हैं।

रचना-क्रम से ही छायावादी प्रभाव की धारा भी स्पष्ट होती जाती है। 'अजातशत्रु' और 'नागयज्ञ' में यह अत्यन्त अस्पष्ट और क्षीण है। 'अजातशत्रु' में श्यामा के गीत 'बहुत छिपाया उफन पड़ा अब सँभालने का समय नहीं है' और 'अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने' में छायावादी शैली का क्षीण आभास-मात्र है। 'नागयज्ञ' में सुरमा का यह गीत, 'बरस पड़ा अश्रु-जल हमारा मान प्रवासी हृदय हुआ' भी एक आभास-मात्र ही देता है। इनकी रचना-काल के समय तक प्रसादजी छायावादी प्रयोग ही कर रहे थे, वह स्वयं स्पष्ट न थे। समय के साथ वह भी अपने भाव-प्रकाशन में स्पष्ट होते गए, नाटकों के गीतों में भी स्पष्ट छायावाद आता गया।

'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' में उनके गीत नाटकीय आवश्यकता न होकर, रहस्यवादी मुक्तक काव्य का रूप धारण कर बैठे, यद्यपि उनका प्रसंगानुसार महत्व भी थोड़ा-बहुत है ही।

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल।

करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।
× × ×
भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप।
× × ×
उमड़कर चली भिगोने आज,
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर।
नयन-जल-धारा रे प्रतिकूल,
देख ले तू फिरकर इस ओर

ऊपर दिये गए 'स्कन्द गुप्त' के तीनों गीत शैली के रूप में ही नहीं;भाव और अर्थ के अनुसार भी छायावादी हैं। दूसरा गीत तो पूरा रहस्यवादी दर्शन से ओत-प्रोत है :

निकल मत बाहर दुर्बल आह,
लगेगा तुझे हँसी का शीत।
× × ×
बिखरी किरण अलक व्याकुल हो
बिरस वदन पर चिन्ता-लेख।
× × ×
सुधा-सीकर से नहला दो।
× × ×

'चन्द्रगुप्त' के ऊपर दिये गए गीतों में भी नाटकीय अनुरोध, प्रसंग या आवश्यकता अधिक नहीं है। प्रसाद के नाटकों के बहुत-से गीत तो गीत नहीं, छायावादी पाठ्य कविताएं हैं। इनके बहुत-से गीतों को नाटकों से निकालकर किसी संग्रह-पुस्तक में रख दिया जाय, तब भी उनसे वही रस प्राप्त हो जायगा, जो अन्य मुक्तकों से होता है।

नाटकों के बहुसंख्यक गीत प्रसाद के कवि की प्रेरणा है, उनकी भावुकता की माँग हैं, उनकी रंगीन कल्पना का ही अनुरोध-मात्र हैं।

प्रेम का स्वरूप

प्रसाद के नाटक शृङ्गार-सम्पन्न वीर-रस प्रधान हैं। प्रेम की प्रेरणा पाकर देश के दीवाने युद्ध-भूमि में शत्रुओं को ललकारते हैं, युद्ध में तीक्ष्ण खड्गों के आघातों से क्षत-विक्षत निराशा के आतप ताप से मुरझाये वीर प्रेम की मधु-

शीतल छाया में आकर विश्राम लेते हैं। प्रसाद के नाटकों में प्रेम एक अनुपम अवलम्ब है—दो हृदयों के बीच प्रेम की निर्मल, शीतल, गद्गद् और आकुलता-भरी धारा बह रही है। यही आहत जीवन को हरा-भरा किये है—संघर्ष की जलन भरी धरती पर यही एक बसन्त है।

प्रसाद का प्रेम प्रथम दर्शन में ही हो जाता है। रङ्गीन पुतलियाँ जब आकर कातर अनुनय-भरी भावुक पलकों में अचानक झाँकती हैं तो हृदय-धड़कन की गवाही में प्रेम का आदान-प्रदान होता है। सभी नाटकों में प्रेम का उदय इसी रूप-दर्शन,—मधु-पान से आरम्भ होता है। चन्द्रलेखा-विशाख, बाजिरा-अजातशत्रु, मणिमाला-जनमेजय, विजया-स्कन्दगुप्त, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त, अलका-सिंहरण आदि सभी का प्रेम प्रथम दर्शन में ही होता है।

कौशल के बन्दीगृह में अजात को बाजिरा देखती है। उस पर मुग्ध हो जाती है। अजात भी उसको अपना हृदय दे डालता है और उसका विद्रोही हृदय अभिभूत हो जाता है। बाजिरा आत्म-समर्पण कर देती है—"तब प्राणनाथ, मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पण करती हूँ।" इसी प्रकार शत्रु-कन्या के रूप-गुण पर जनमेजय भी मोहित होता है। तपोवन में जनमेजय की भेंट नाग-कन्या मणि-माला से होती है। दोनों परस्पर मुग्ध हो जाते हैं। शत्रुता भूलकर प्रेम का अंकुर उग उठता है। जनमेजय कहता है। "किन्तु मैं तो तुम-सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।" जनमेजय के चले जाने पर मणि-माला भी अपना प्रेम व्यक्त करती है—

"ऐसी उदारता-व्यंजक मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख-मण्डल! यह तो शत्रुता करने की वस्तु नहीं है।.........किन्तु यहाँ तो अन्तःकरण में एक तरह की गुदगुदी होने लग गई।" यह गुदगुदी उसी प्रेम की करवट है—उसी की मीठी-मीठी धड़कन है।

अवन्ती-दुर्ग में स्कन्दगुप्त को देखकर विजया कहती है—"यहा कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है।" और स्कन्दगुप्त भी उसकी लावण्य-पगी मूर्ति अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है। चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया का प्रेम भी इसी प्रकार का है और अलका तथा सिंहरण का भी। फिलिपस बलात् कार्नेलिया का हाथ चूमना चाहता है। सहसा चन्द्रगुप्त प्रकट होकर कार्नेलिया की रक्षा करता है। दोनों के चले जाने पर कार्नेलिया कहती है—"एक घटना हो गई, फिलिपस ने विनती की उसे भूल जाने की, किन्तु उस घटना से किसी और का भी सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ।" अलका भी सिंहरण की

निर्भयता पर मुग्ध होकर कहती है—"इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान वेग है यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है।"

प्रथम दर्शन के प्रेम के दो भिन्न परिणाम होते हैं। एक तो वह पूर्ण विकसित सफल दाम्पत्य जीवन के रूप में, दूसरा-विरोधी रूप धारण करके जाकर असफल निराशापूर्ण दुःख और पश्चत्ताप के रूप में अन्त पाता है।

रूप पर मुग्ध हुआ हृदय मांसल सौंदर्य और भरे हुए यौवन के भीतर कुछ और भी चाहता है—वह भीतरी सौंदर्य के उपभोग की कामना, जहाँ पूर्ण हुई, प्रेम और भी दिव्य, अलौकिक, त्यागशील बलिदानमय और सघन बन जाता है। यह प्रेम अभ्यंतर के सौंदर्य की शीतल मधु छाया में, परिस्थितियों के निर्देश-प्रकाश के पद-चिह्नों पर आगे बढ़ता जाता है और पूर्ण सौंदर्यमय स्वरूप धारण करके आदर्श के शिखर पर आरूढ़ होता है। वीरता, निर्भयता, देश-भक्ति, दया, करुणा, परदुःख-कातरता आदि सभी उच्च मानवी गुणों से युक्त प्रेम ही बढ़कर दाम्पत्य रूप में सफल होता है। स्पष्ट लगता है कि लेखक सब गुणों से युक्त रूप-यौवन से उत्पन्न प्रेम को ही वास्तविक प्रेम समझता है। केवल बाहरी सौंदर्य और रूप-यौवन के प्रलोभन में वासना-जन्य प्रेम को असफल प्रेम मानता है। पहले प्रकार का प्रेम अलका-सिंहरण, चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया, ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त, मणिमाला-जनमेजय, वाजिरा-अजात शत्रु आदि में विकसित होकर सफल हुआ। दूसरे प्रकार का प्रेम, जो कि वासनाजन्य है, केवल बाह्य रूप-सौंदर्य के उपभोग की लालसा से ही उत्पन्न हुआ है, विजया का स्कन्दगुप्त से, और विरुद्धक का मल्लिका से है।

स्वच्छ और निर्मल प्रकार का भी एक अन्य प्रेम प्रसाद के नाटकों में रस-स्रोत बनकर कथावस्तु की वन-भूमि को सींच रहा है—अनेक पात्र-पादप उस दिव्य प्रेम की वेदनाभरी गुदगुदी में सिहर-सिहर उठ रहे हैं। यह बचपन का प्रेम जो बढ़कर उद्दाम वेग धारण करता है और अतृप्ति के झुलसते शिला-खण्डों से सिर पटक-पटक रह जाता है। बचपन की स्वच्छ गंगाजल-सी क्रीड़ाएं, जब यौवन की व्याकुल स्मृतियाँ बनती हैं, तो हृदय छटपटा उठता है—यह निराश प्रेम सबसे अधिक करुण और बेचैन कर देने वाला है। जिस प्रेम का बिरवा शैशव से उगते-उगते जवानी तक आते-आते फूलों से लद गया है, वह अतृप्ति की आग में झुलस जाय, तो जीवन में एक गहरा अँधेरा न छा जायगा।

प्रेम के इस अतृप्त रूप को उपस्थित करने में प्रसाद अद्वितीय हैं। कल्याणी और चन्द्रगुप्त, देवसेना और स्कन्दगुप्त, सुवासिनी और चाणक्य का प्रेम इसी प्रकार का है। विजया के प्रेम में भी भीषण अतृप्ति ही है। इस आघात को कितने हृदय सहन कर सकने में समर्थ होते हैं—बहुत कम! कल्याणी आत्म-हत्या करती है। मालविका अपने प्रेमी के लिए प्राण दे डालती है। कल्याणी और मालविका दोनों ही अपने दिव्य और दर्द भरे बलिदान से नाटक में एक करुण और वेदना-विह्वल उच्छ्वास छोड़ जाती हैं।

इस अतृप्त प्रेम का विकास देव सेना और स्कन्दगुप्त के चरित्रों में पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

"हृदय की कोमल कल्पना, सो जा! जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा-सबसे मैं विदा लेती हूं!"

इन शब्दों में जैसे देवसेना की जीवन-भर की आकांक्षा चीत्कार कर रही है। अपने द्वारा पाले गए, अपने आँसुओं से सींचे गए अपने मधु से ही पोसे गए प्रेम को अपने ही निर्दय पैरों से कुचल देना—जीवन की कितनी बड़ी निष्ठुरता है!

स्कन्दगुप्त कहता है—"जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक दूसरे का मुंह देखकर काट लेंगे।...इस नन्दन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुख से कहूं। और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूं?

देव सेना! देव सेना! तुम जाओ।"

"हत भाग्य स्कन्दगुप्त अकेला स्कन्द, ओह!"

देव सेना बोली—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा।"

इस अंतिम दृश्य से जो पाठक या दर्शक के मन पर करुणा की एक बदली घिर जाती है, जिसमें कामना की बिजली तड़प जाती है, वेदना के आँसू सिसक पड़ते हैं। अतृप्त प्रेम का यह महान् आध्यात्मिक रूप है।

प्रसाद के अतृप्त प्रेम का ठीक यह रूप है—दिन-भर की यात्रा से

क्षत-विक्षत, चट्टानों से छिल-छिलकर पगों में पड़े छालों से आहत, आतप-ताप से तृषातुर सूखे कण्ठ, निर्बल तन से एक पथिक पर्वत के चरणों पर बैठा है और पर्वत-शिखर से एक तीव्र झरना अपनी गोद में शीतल मधुर जल लिये जैसे उसकी ओर दौड़ा आ रहा है। ज्यों ही वह पास आता है, आकुल होकर वह यात्री पानी पीने को नीचे झुकता है, झरना सूख जाता है।

दार्शनिक विचार-धारा

प्रसादजी ने आर्य तथा बौद्ध-दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों का मंथन करके केवल नये दर्शन का स्वरूप ही स्थापित नहीं किया, दोनों का सार ले स्वस्थ मिश्रण ही नहीं किया, बल्कि मानव-जीवन का गहन अध्ययन करके भी नये सिद्धान्त सामने रखे। जीवन को हृदय और मस्तिष्क की पुतलियों से पढ़ा और उसका दार्शनिक स्वरूप अपने नाटकों में उपस्थित किया। प्रसाद जी जीवन के महान् द्रष्टा थे—जीवन को उन्होंने समझा था—उसके तीखे-मीठे रस को भी उन्होंने शिव के समान पान किया था। जीवन के विष को पीकर उन्होंने मानव-जीवन को सुधा प्रदान की थी—जीवन की यथार्थता के रूप में।

प्रसादजी की दार्शनिकता का प्रभाव उनके अनेक पात्रों में पाया जाता है। उनके नाटक भी उस युग के हैं, जिस युग में बौद्ध और ब्राह्मण-दर्शन का मिलन-संघर्ष हो रहा था। इसलिए उनके प्रायः प्रत्येक नाटक में प्रमुख पात्र दार्शनिक के रूप में जीवन की गुत्थियाँ सुलझाते हुए पाये जाते हैं।

'अजात शत्रु' में बिंबसार एक वैराग्यपूर्ण हृदय से ही विश्व-जीवन का रस-पान करता है। गौतम जीवन की दो अतियों के बीच 'मध्यमप्रतिपदा' की पगडण्डी खोजते हुए देखे जाते हैं। राग और विराग के मध्य गौतम की करुणा की धारा बहती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में व्यास भी एक दार्शनिक जीवनोपदेशक के रूप में आते हैं। जनमेजय भी दार्शनिक भाग्य-वादी और कर्मयोगी के रूप में आता है। स्कन्दगुप्त भी वैरागपूर्ण राग लिये अधिकार का भोग करता देखा जाता है—"अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है।" और "वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है।"

'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन और चाणक्य भी गहरे दार्शनिक हैं—दोनों ब्राह्मण दर्शन के आचार्य और प्रचारक हैं दाण्ड्यायन विश्व के आकर्षण से उदासीन उस परम ज्योति के आभास की जब तब चर्चा किया करता है—

"भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास-मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन अभिभूत नहीं कर सकते।" चाणक्य भी विश्व की निस्सारता का साक्षी है—"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते हैं।" देवसेना भी अपने घायल उच्छ्वास में विश्व के प्रति वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करती है—"सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।"

जीवन के प्रति यह उदासीन विरागपूर्ण दृष्टिकोण मनुष्य को भाग्यवादी बना देता है। लगता है, लेखक को प्रकृति या किसी अन्य शक्ति के सर्वोपरि स्वेच्छापूर्ण स्वाधीन चक्र-संचालन में आस्था अवश्य थी। उसके प्रत्येक नाटक में नियति का नियंत्रण मानते हुए पात्र पाये जाते हैं, यद्यपि कोई भी पात्र दैव या भाग्य में विश्वास करके निष्क्रिय नहीं बना।

राज्यश्री कहती है—"पर जीवन! आह! जितनी साँस चलती हैं, वे तो चलकर ही रुकेंगी।" 'अजातशत्रु' में बिंबसार भी भाग्य की प्रधानता स्वीकार करता है—"प्रकृति उसे (मनुष्य को) अंधकार की गुफा में ले जाकर उसको शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वह कब मानता है।" जनमेजय भी कहता है—"किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने में स्वतंत्र है?" ये सभी पात्र मनुष्य के ऊपर प्रकृति, नियति या किसी नियंत्रण-शक्ति का विश्वास करते हैं, मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है।

पर इस नियतिवाद का बहुत विशद, सर्वोपरि और शक्तिशाली रूप 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में आया है। इन दोनों नाटकों में कर्म का तीव्र रूप प्रकट है, प्रयत्न और सशक्तता का इन दोनों नाटकों में लेखक ने बड़ा ही विशद रूप उपस्थित किया है। इनमें भी नियति की पुकार करना लेखक की गहन आस्था प्रकट करता है। स्कन्द गुप्त कहता है—"चेतना कहती है कि तू राजा है और अन्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है।"

'चन्द्रगुप्त' में—नियति सम्राटों से भी प्रबल है (शकटार)। तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन करने जा रही है (सिंहरण)। वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठी है (चाणक्य)। नियति खेल न खेलना (चन्द्रगुप्त) नियति सुन्दरी की भावों में बल पड़ने लगे हैं। (चाणक्य) स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, सिंहरण-जैसे वीर

कर्मयोगी, राष्ट्र-निर्माता भी नियति-सुन्दरी की भवों के बलों को गिनते हुए पाये जाते हैं। प्रसाद का यह नियतिवाद उनकी सभी रचनाओं में स्पष्ट है। पर नियतिवाद किसी भी पात्र की प्रगति में रोड़ा नहीं बनता, किसी के भी खौलते रक्त को ठण्डा नहीं कर पाता, किसी को भी निष्फल-प्रयत्न उद्योग-शिथिल नहीं बनाता—सभी पात्र नियति की शक्ति मानते हुए भी सचेष्ट हैं—कर्म-रत हैं। नियतिवाद और कर्मयोग का प्रसाद ने सुन्दर सामंजस्य कर दिया है। और नियति केवल परम्परागत कहने की बात ही रह गई है।

जनमेजय सचेष्ट है। "आलस्य मुझे अकर्मण्य नहीं बना सकता" कहकर वह नागजाति का आतंक मिटाने में सन्नद्ध होता है। चन्द्रगुप्त "मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है।" और स्कन्दगुप्त आर्यावर्त को हूणों के आतंक से मुक्त करके ही दम लेता है। चाणक्य आर्यावर्त में नवीन राष्ट्र का निर्माण कर देता है। क्योंकि 'प्रसाद' की दार्शनिकता किसी सुदूर—मनुष्य की पहुँच से दूर स्वर्ग के पीछे पागल हो, इस धरती की उपेक्षा नहीं करती। उसका स्कन्दगुप्त विश्वास करता है—"इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है।"

मंगल और अमंगल का द्वंद्व सदा होता रहता है, ऐसा लेखक का विचार है। उसने दो विपरीत चरित्रों वाले पात्रों के संघर्ष से ऐसा प्रकट किया है, पर अन्त में मंगल की विजय होती है और अशुभ के भी शुभ बनने का मार्ग खुलता है, ऐसी लेखक की आस्था है। राज्यश्री और विकटघोष, देवसेना और विजया, प्रपंचबुद्धि और स्कन्दगुप्त, अलका और आम्भीक राम-गुप्त और चन्द्रगुप्त (ध्रुवस्वामिनी में) का संघर्ष स्पष्ट है। पर अन्त में राज्यश्री, देवसेना, स्कन्दगुप्त, अलका, चन्द्रगुप्त की विजय दिखाकर लेखक ने मंगल के उदय का सूत्रपात किया है। साथ ही अशुभ और पतित को अपने सुधार का अवसर देकर लेखक ने कल्याण के देवता की प्रतिष्ठा की है।

शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, सुन्दर-असुन्दर के संघर्ष और अन्त में उनके सामंजस्य में लेखक ने विश्व-कल्याण की झाँकी दिखाई है। देवसेना कहती है—"पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप।"

बौद्ध दर्शन के अनुसार विश्व से उदासीन रहकर इसका उपभोग करना और धरा पर करुणा की वर्षा करना ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा हित

है। बुद्ध की करुणा और सम्यकता का प्रभाव नाटकों में स्पष्ट है। 'प्रसाद' की कला पर भी इसका प्रभाव है। विश्व-मंगल में ही सब नाटकों का प्रायः अन्त होता है और अधिकतर नाटकों में विश्व-कल्याण के लिए किये बलिदान एक करुण उच्छ्वास छोड़ जाते हैं। करुणा और वैराग्य के दोनों तटों के बीच मानव-मंगल की सुधा-सरिता प्रवाहित होती है। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में दुःख के साथ यह कल्याण-भावना या प्रशान्त जीवन-दर्शन की मंदाकिनी देखी जा सकती है।

इन्हीं विभिन्न आस्थाओं, विश्वासों, विचारों और भावनाओं से मिलकर 'प्रसाद' जी की दार्शनिकता की प्रतिष्ठा नाटकों में हुई।

पात्र : चरित्र-विकास

'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। पात्र भी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, काल्पनिक कम। इतिहास के यथार्थ व्यक्ति होने के कारण उनमें अपनी कल्पना से अधिक रंग नहीं भरा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' ने पात्रों के चरित्रों को प्राणवान तथा रंगीन बनाने और जीवन की यथार्थ धरती पर लाने के लिए अपनी कल्पना के अधिकार का भी उचित उपयोग किया है। 'प्रसाद' के सभी नायक भारतीय नायक के गुणों से युक्त हैं। हर्ष, अजातशत्रु, जनमेजय, स्कन्दगुप्त, और चन्द्रगुप्त (मौर्य) चन्द्रगुप्त (गुप्त वंशीय) धीरोदात्त नायक हैं। ये विनीत, मधुर, वीर, त्यागी, तेजस्वी धार्मिक, युवा, निर्भय, धीर, न्यायी, स्थिर, प्रियंवद, अभिजात, दृढ़ और बुद्धिमान हैं। प्रतिनायक धीरोदात्त स्वभाव वाले हैं। भटार्क, राक्षस, आम्भीक, रामगुप्त, तक्षक आदि अहंकारी, छली, प्रपंची, प्रचण्ड, धीर, निर्भय, चपल, मायावी तथा आत्म-श्लाघा से युक्त भारतीय शास्त्र की दृष्टि से नायक, उपनायक तथा प्रतिनायक एक विशेष वर्ग की ही श्रेणी में आते हैं। यही बात नायिकाओं के विषय में भी कही जा सकती है। भारतीय 'साधारणीकरण' के सिद्धान्तानुसार नायक या प्रतिनायक विशेष गुणों से युक्त होगा, तभी रसानुभूति हो सकेगी। एक ओर तो 'प्रसाद' के चरित्रों के निर्माण में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त लागू होता है, दूसरी ओर उनमें 'व्यक्ति-वैचित्र्य' वाला पश्चिमी सिद्धान्त भी पाया जाता है।

'प्रसाद' के नायक वीरता के आदर्श, त्याग के अनुपम उदाहरण और कष्ट-सहिष्णुता की मूर्तियाँ हैं। उनकी तलवारों की बिजली कौंधती है—शत्रुओं के कलेजों के पार उनके खड्ग हो जाते हैं। मानव-जीवन की सघन अन्धकारा-

वृत निशा में वे प्रकाश-स्तम्भ के समान खड़े मुसकराते रास्ता दिखाते हैं। बड़े-से-बड़ा त्याग वे देश के लिए—आर्य मान-मर्यादा के लिए—करते हैं। यवनों को पवित्र आर्यावर्त से निकाल देश को स्वाधीन करते हैं। बन्धुवर्मा-से वीर और निस्पृह त्यागी, चन्द्रगुप्त-से राष्ट्रोद्धारक, स्कन्द-से वैराग्यपूर्ण ममतालु, चाणक्य-से कठोर, त्यागी, कर्मनिष्ठ और निष्काम चरित्रों का चित्रण, प्रसाद की लेखनी की गौरवपूर्ण सफलता है।

'प्रसाद' के पात्रों में दूसरे छोर की भी एक श्रेणी है—वे भी विशेष वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। विकटघोष, प्रपंचबुद्धि, रामगुप्त, भटार्क, आम्भीक, तक्षक आदि हमारी घृणा के पात्र हैं। दुष्टता इनकी नस-नस में है—ये छल-कपट और शठता के उदाहरण हैं। ये दुष्ट वर्ग के पात्र भी एकांगी हैं। ये भी भारतीय सिद्धान्तानुसार रस के 'साधारणीकरण' में ही सहायक होते हैं।

तीसरी प्रकार के पात्र मनुष्यों के साधारण दोष-गुणों से युक्त हैं, जैसे शर्वनाग आदि।

भारतीय सिद्धान्त का कठोरता से पालन करते हुए भी 'प्रसाद' के सभी पात्र भाव-संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की लहरों में डाँवाडोल होते पाये जाते हैं। वे प्राचीन संस्कृत-नाटकों के पात्रों के समान देवत्व या दानवत्व के प्रतीक नहीं। वे धरती के यथार्थ मानव है। 'प्रसाद' के हरएक पात्र के हृदय में द्वन्द्व का तूफान उठता रहता है—वे पाषाण-प्रतिमाएं नहीं हैं। उनमें मानवों की निर्बलताएं भी हैं। इसलिए 'प्रसाद' के चरित्र-चित्रण से व्यक्ति-वैचित्र्य वाला समीक्षा-सिद्धान्त भी सिद्ध हो जाता है। बिंबसार बन्दीगृह से जब मुक्त किया जाता है तो उसके हृदय की प्रसन्नता और कौतूहल, अनाशित सम्मान और अजातशत्रु का प्यार प्रकट होता है। "तो शीघ्र चलो (उठकर गिर पड़ता है) ओहो इतना सुख एक साथ में सहन न कर सकूंगा। तुम बहुत विलम्ब करके आये (कांपता है)"—से यह स्पष्ट है।

"यह साम्राज्य का बोझ किस लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति। केवल मेरे अस्तित्व से मालूम होता है कि सब की—विश्व-भर की शांति रजनी का मैं ही धूमकेतु हूं, कोई भी मेरे हृदय का आलिंगन करके न रो सकता है, न तो हंस सकता है। तब भी विजया—ओह!" ये स्कन्दगुप्त के मन में उठने वाला तूफान है। जिसके बाणों से यवन-सेनाएं प्राण लेकर भागती हैं, जो मौत से भी लड़ सकता है, उसका हृदय कितना जर्जर है।

"मैं—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरता का केन्द्र ! तो आह ! इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नहीं है ?......और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ ? सुवासिनी-न-म-न वह कोई नहीं।" चाणक्य के शब्द उस, चाणक्य के, जिसने हृदय की मधु भावना को अपने ही वज्र-कठोर पैरों से कुचल दिया, उसके आहत हृदय का चीत्कार बिखरा रहे हैं।

यही बात चन्द्रगुप्त के चरित्र में भी पूरी उतरती है। "संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभावों से द्वन्द्व !......देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं।"

प्रसाद के चरित्रों में जहाँ सशक्त वीरोन्माद है, त्याग का उल्लास है, विजय का उत्साह है, वहाँ वेदना-विह्वल उच्छ्वास भी है—अभाव की बेचैनी भी है। कौन कहता है, वे सच्चे मानव नहीं ?

'प्रसाद' जी ने अपने हृदय की समस्त कोमलता, कल्पना की रंगीनी भावना की स्निग्धता और कला की सफलता नारी-चरित्रों के भव्य निर्माण में प्रयुक्त की है। पुरुष बुद्धि, कठोरता, युद्ध-वीरता, पौरुष और कर्म के प्रतीक हैं तो नारी भावुकता, भावना, सेवा, त्याग, मर्यादा, आस्था और आत्माभिमान की प्रतिमाएं। प्रसाद की कवि-तूलिका ने नारी के अत्यन्त मनोहर चित्र उतारे हैं। वासवी-ऐसी पति-परायण, त्यागी, वात्सल्यमयी, राज्य-श्री-ऐसी सौन्दर्यशीला और तपस्विनी, ध्रुवस्वामिनी-ऐसी गौरवशीला, अलका-जैसी ज्योतिपूर्ण शक्तिमती, कल्याणी और मालविका-ऐसी आत्म-त्यागी निस्पृह और प्रेममुग्ध और देवसेना-ऐसी प्रेमाभिमानी त्यागी, सेवा-परायण, आत्मसंयमी, करुणामयी नारी 'प्रसाद' की लेखनी से प्रसूत हुई हैं।

अलका शक्ति की दिव्य रश्मि, जिधर भी जाती है, देशभक्ति और राष्ट्र-सेवा के राग से प्रेरित कर देती है। वह सहस्रों युवकों की प्रेरक शक्ति है—अनेक कर्तव्य-भ्रष्ट व्यक्तियों का अवलम्ब है। मालविका का चरित्र स्पर्धा का विषय है। अपने निष्काम बलिदान के समय वह कितनी उल्लसित है, जैसे सोहाग रात मनाने जा रही हो—प्राणों में कितनी मादकता है ! कल्याणी भी प्रेम का एक आहत उच्छ्वास है—जो समय की निष्ठुर चट्टान से सिर टकराकर रह जाती है।

देवसेना 'प्रसाद' की नारी का आदर्श, अतृप्त प्रेम की प्यासी पुकार के

समान छटपटाकर वह अन्तर्ध्यान हो जाती है। राष्ट्र के लिए भीख तक माँगना; बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, प्यार की करुण वेदना की तड़प को दिल की धड़कन में ही दबाये रहना—नारी-जीवन का एक विवश चीत्कार है! उसी चीत्कार की प्रतिमूर्ति है देवसेना! देवसेना एक करुणा भीगी सिहरन के समान है, जो नाटक में एक नीर-भरी बदली बनकर आती है।

दूसरे प्रकार के नारी-चरित्र प्रतिनायिकाओं के रूप में नाटकों में आये हैं। शक्तिमती, छलना, सुरमा, अनन्तदेवी, विजया नारी की दूसरी तस्वीरें हैं। ये सभी राजनीति के दाँव-पेंचों में पड़ी षड्यन्त्रकारी नारियाँ हैं। राज-नीति के छल-कपट में पड़कर ये अपना नारीत्व खो देती हैं। महत्त्वाकांक्षा की आँधी इन्हें विनाश के पथ पर ले जाती है और ये नारीत्व का भयंकर और अश्रेयस्कर रूप धारण करती हैं। पर लेखक नारी के प्रति आस्थावान है, वह उनको इस अप्राकृत विनाशकारी और कपटी रूप में नहीं देखना चाहता इन सभी का सुधार वह कर देता है। सभी पश्चाताप की आग में तपकर भली नारी की श्रेणी में आ जाती हैं।

"मुझे भी महारानी (दण्ड दीजिए), स्त्री की मर्यादा! करुणा की देवी! राज्यश्री, मुझे भी दण्ड।" सुरमा इस प्रकार अपने किये पर पछता लेती है।

"दण्डनायक, मेरे शासक, क्यों न उसी समय शील और विनय के नियम भंग के अपराध में आपने मुझे दण्ड दिया? क्षमा करके-सहन करके जो आपने इस परिणाम को यन्त्रणा के गर्त में मुझे डाल दिया है, वह मैं भोग चुकी अब मुझे उबारिये।" छलना अपने कर्मों की कटुता को इस प्रकार धो डालती है।

विजया आत्म-घात करके स्वयं भी अपना और अपने कर्मों का अंत कर लेती है। अनंतदेवी को स्कन्दगुप्त क्षमा कर देता है। वह भी अपने दुष्कर्मों के लिए पछताती है। नारी की मर्यादा-रक्षा का यह भी एक मार्ग है, जिसका अवलम्बन 'प्रसाद' ने लिया है।

एक तीसरा वर्ग भी नारी-चरित्र का 'प्रसाद' के नाटकों में पाया जाता है, वह है यथार्थवादी नारी का। जैसे जयमाला, कमला, रामा आदि। इसके अतिरिक्त वाजिरा और मणिमाला जैसी मुग्ध-मना भोली दुलहनें भी प्रसाद के नाटकों में हैं। 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में स्त्री-पुरुष के विभिन्न रूप उपस्थित किये हैं। सभी अपने-अपने रूपों में अपने-अपने क्षेत्रों में और अपने-अपने कार्य-कलापों में जानदार हैं—यथार्थ के अधिक निकट हैं। सभी स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले हैं—सभी गतिशील हैं।

कला का विकास

'प्रसाद' की नाट्य-कला का पूर्ण और प्रशंसनीय विकास 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में पाया जाता है। 'राज्यश्री' उनकी प्रथम रचना होते हुए भी अन्य पिछली रचनाओं से अच्छी है। 'विशाख' 'अजातशत्रु' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रयोग-युग की रचनाएं हैं। इनमें 'प्रसाद' की कला कुछ भी स्थिर नहीं रह पाती। नाटककार जैसे अपनी काँपती कलम को निश्चित नाटक-कला के सिद्धान्तों में बाँधने की चेष्टा में है। इन नाटकों पर संस्कृत और उस युग की पारसी नाटक-मण्डलियों की नाट्यकला का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु वह स्वतंत्र भी है और अपनी निजी कला और विशेषताओं से अधिक सम्पन्न है।'

स्वगत और पद्यात्मक संवादों को हम संस्कृत का भी प्रभाव मान सकते हैं और उस समय की नात्य-कला का भी। प्रसाद जी के सभी नाटक स्वगत से पूर्ण हैं। यह स्वगत अंतिम तीन नाटकों—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त ध्रुवस्वामिनी—में भद्दे रूप में नहीं आया। 'राज्यश्री' में सुरमा देवगुप्त के सम्मुख ही स्वगत भाषण करती है और देवगुप्त भी सुरमा के सामने ही। देवगुप्त निकट खड़ा है। सुरमा (स्वगत) कहती है—"यह कैसा विलक्षण पुरुष है! उत्तर देते भी नहीं बनता, क्या करूँ?" 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में पहले अंक, दूसरे दृश्य में उत्तङ्क स्वगत-भाषण करते हुए प्रवेश करता है। यह स्वगत भी बिलकुल अस्वाभाविक है। 'अजातशत्रु' में प्रथम अंक, पाँचवें दृश्य में मागधी स्वगत भाषण करते हुए प्रवेश करती है। इसी प्रकार छठे दृश्य में जीवक। तीसरे अंक, नवें दृश्य में बिंबसार भी लम्बे स्वगत के साथ प्रकट होता है। विरुद्धक, श्यामा, वाजिरा के भी स्वगत कथनों से नाटक बोझल हो रहा है।

इस स्वगत का भद्दा रूप धीरे-धीरे 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुव स्वामिनी' में कुछ स्वाभाविक बन गया है। स्वगतों की संख्या भी बहुत ही कम हो गई है। इनमें स्वगतों का रूप बहुत आवेशात्मक स्थिति, मनोवैज्ञानिक परिस्थिति या किसी भारी उद्वेग को प्रकट करने का साधन बन गया है। 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम अङ्क, प्रथम दृश्य में स्कन्दगुप्त स्वगत-भाषण करते हुए प्रकट होता है। पर यह न तो लम्बा भाषण है, न अस्वाभाविक नाटकीय स्थिति के अनुकूल है। किन्तु मातृगुप्त के स्वगत पागल के प्रलाप ही मालूम होते हैं। तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में भी स्कन्दगुप्त स्वगत-भाषण करते हुए ही प्रकट हुआ है। यह यद्यपि लम्बा है तो भी अत्यन्त

उद्वेगभरा आवेशपूर्ण हृदय की आँधी और द्वन्द्व को प्रकट करने वाला है। अभिनेता यदि सफल कलाकार हो तो इससे बहुत प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। पाँचवें अंक, पहले दृश्य में मुद्गल के स्वगत-भाषण के विषय में भी यही समझना चाहिए।

'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में तृतीय अंक के पहले दृश्य में कार्नेलिया, चतुर्थ अंक के पाँचवें दृश्य में चन्द्रगुप्त का स्वगत के साथ प्रकट होना भी अस्वाभाविक नहीं। इन स्वगतों में एकान्त भाव-प्रकाशन और अपने हृदय की छटपटाती स्थिति को प्रकट करने का स्वाभाविक प्रयत्न है। पर कुछ स्वगत-भाषण आक्षेप के शिकार हो सकते हैं। प्रथम अङ्क के तृतीय दृश्य के अन्त में, प्रथम अङ्क के सातवें दृश्य के आरम्भ में तथा तृतीय अङ्क के छठे दृश्य में चाणक्य के स्वगत-भाषण लम्बे हैं, यही इनका दोष है। तृतीय अङ्क के छठे दृश्य का स्वगत-भाषण वास्तव में अधिक बड़ा है, शेष दो तो अभिनेता की योग्यता से बहुत सुन्दर बन सकते हैं। लम्बे भाषणों में अभिनय बहुत उच्चकोटि का चाहिए, नहीं तो वे प्रभावहीन और उकता देने वाले हो जायंगे।

पद्यों की सभी नाटकों में भरमार है, पर इस पद्यात्मकता का भद्दा रूप है पद्यात्मक कथोपकथन। 'विशाख' और 'अजातशत्रु' में इसकी भरमार है। 'विशाख' में विशाख, प्रेमानन्द, नरदेव, चन्द्रलेखा, और 'अजातशत्रु' में वासवी, गौतम, उदयन, पद्मावती, श्यामा, जीवक, विरुद्धक—सभी पात्र पद्यों में बातें करते हैं। यह पद्यात्मक वार्तालाप अन्य नाटकों में बिलकुल बन्द कर दिया गया है।

आरम्भ में भरतवाक्य के ढंग के आशीर्वचन भी 'प्रसाद' के नाटकों में पाये जाते हैं। 'राज्यश्री' के अन्त में सब मिलकर विश्व की मंगल-कामना करते हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में भी नेपथ्य में, जय हो, उसकी जिसने अपना विश्वरूप विस्तार किया, गान गाया जाना भी भरत वाक्य को ही प्रकट करता है 'कामना' में भी भरत वाक्य समवेत गान के रूप में कहा गया है अन्य नाटकों में—स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी—में भरत वाक्य का बिलकुल लोप हो गया है।

धीरे-धीरे 'प्रसाद' जी की कलम निश्चित नाट्य-नियमों का पालन करती गई—उनकी कला क्रमशः निखरती गई और वह अस्वाभाविक अनावश्यक नाटकीय अनुरोध-विरोधी बातों को त्यागते चले गए। चरित्र-चित्रण की ओर उनका ध्यान आरम्भ से ही रहा। 'अजातशत्रु' 'राज्यश्री' 'जनमेजय का

नागयज्ञ' आदि में बाहरी संघर्ष के साथ भीतरी संघर्ष भी उचित मात्रा में पाया जाता है। धीरे-धीरे नाटकीय कार्य-व्यापार, व्यक्ति-वैचित्र्य नाटकीय दृश्यों का सफल विधान भी उनके नाटकों में आता गया। प्रसाद की विकसित कला ने अपना नवीन रूप धारण किया।

पश्चिमी और भारतीय नाट्य-कला के सफल, सुन्दर और उचित सामञ्जस्य से 'प्रसाद' ने प्रसादान्त कला की स्थापना हिन्दी में की।

'प्रसाद' के नाटकों की कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, शील आदि भारतीय नाट्य-शास्त्र की परिभाषा के अनुकूल हैं, दूसरी ओर इनमें पश्चिमी शैली का भी पारिभाषिक रूप मिल जाता है। कथानकों में सन्धियाँ अर्थ-प्रकृतियाँ, पताका और प्रकरी कथावस्तु भी पाई जाती हैं और पश्चिमी ढङ्ग से उनका विकास पाँच विभागों में भी किया जा सकता है। प्रसाद के प्रायः सभी नायक भारतीय धीरोदात्त नायक के गुणों से सम्पन्न हैं। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य, जनमेजय, चन्द्रगुप्त आदि वीर, मधुर, धैर्यशाली, विनीत त्यागी, स्थिर, क्षमावान, दक्ष, शुचि, प्रियंवद, स्वाभिमानी, आत्म-श्लाघा से शून्य, युवा, उत्साही, तेजस्वी धार्मिक अभिजात-कुलोत्पन्न हैं। प्रतिनायक प्रचण्ड, मायावी, वीर, छली, अहङ्कारी, आत्म-प्रशंसायुक्त, चपल होने से धीरोद्धत हैं।

एक ओर तो भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार इनसे साधारणीकरण हो जाता है, दूसरी ओर पश्चिमी समीक्षानुसार प्रसाद के नायक-नायिकाओं में की भी उद्विग्नता होने से 'व्यक्ति-वैचित्र्य' के नियम पर ये अन्तर्द्वन्द्व खरे उतरते हैं। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, देवसेना, स्कन्दगुप्त, बिम्बसार सभी द्वन्द्व के भँवर में चक्कर काटते हैं—चरित्र की विभिन्नता की तरंगों में आलोड़ित होते हैं। अन्य साधारण पात्रों में तो व्यक्ति के वैचित्र्य या चरित्र-उत्थान-पतन की रंगीनी विशेष मात्रा में पाई जाती है। विजया, शर्वनाग, भटार्क, आम्भीक अजातशत्रु आदि में यह स्पष्ट है।

भारतीय दृष्टिकोण से नाटक में रस की प्रधानता होनी चाहिए और पश्चिमी दृष्टि से संघर्ष और कार्य-व्यापार की। 'प्रसाद' के नाटकों में वीर रस प्रधान और शृङ्गार सहायक रूप में आता है। अपनी प्रेयसी की मुसकान-भरी आँखों में आँखें डालकर वीर सदा से युद्ध-भूमि में बड़े-बड़े बलिदान करते रहे हैं, यह जीवन की वास्तविकता है। रस का पूर्ण निर्वाह नाटकों में हुआ है। साथ ही संघर्ष और कार्य-व्यापार भी इन नाटकों में सफल मात्रा में है। स्कन्द, चन्द्र, चन्द्रगुप्त, और ध्रुव-स्वामिनी में तो 'प्रसाद' की यह सामं-

जस्य-कला बहुत ही सफल हुई है। तीनों नाटक जीवन के कठोर संघर्ष से भरे हैं। आम्भीक-अलका, भटार्क-स्कन्दगुप्त, विजया-देवसेना, विकटघोष-राज्य श्री और रामगुप्त चन्द्रगुप्त आदि संघर्ष नाटक में स्पष्ट हैं। नाटकीय कार्य-व्यापार को तीव्रता देने वाली घटनाएं नाटकों में भरी पड़ी हैं।

देवसेना के वध के समय मातृगुप्त का आगमन, अवन्ती दुर्ग के पतन के समय स्कन्दगुप्त का प्रकट होना, देवकी की रक्षा के लिए भी तुरन्त स्कन्द-गुप्त का पहुँचना आदि नाटकीय घटनाएं हैं। इनका चुनाव, दर्शकों के धड़कते हृदय को अनाशित रूप से अवलम्ब मिलना नाटकीय घटना की सबसे बड़ी सफलता होती है—यही इन घटनाओं में होता है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में अनेक अनाशित घटनाएं है। जैसे कार्नेलिया की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त का प्रवेश पर्वतेश्वर को आत्म-घात करने से चाणक्य द्वारा रोका जाना, चन्द्रगुप्त के पास आते हुए बाघ का सेल्यूकस द्वारा मारा जाना, आदि घटनाएं नाटकीय कार्य-व्यापार को तीव्र करने वाली हैं।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार रङ्गमंच पर युद्ध, मृत्यु आदि के दृश्य दिखाना वर्जित है। आत्म-घात भी भारतीय द र्न के अनुसार भीषण पाप समझा जाता है। पर 'प्रसाद' जी ने इनको स्वाधीनता पूर्वक दिखाया है, यह पश्चिम का ही प्रभाव है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज और रामगुप्त का वध, 'चन्द्रगुप्त' में नन्द और पर्वतेश्वर का वध और कल्याणी का आत्म-घात और 'स्कन्दगुप्त' में विजया की आत्म-हत्या—सभी को रंगमंच पर दिखाया गया है। युद्ध तो हर नाटक में रंगमंच पर ही होता है। अलका कुछ दिन के लिए पर्वतेश्वर की प्रेमिका होने का अभिनय करती है, यह भी पश्चिमी राष्ट्रीयता की प्रेरणा से निर्मित चारित्रिक गुण है।

'प्रसाद' के नाटकों का आरम्भ और अन्त उसकी विशेष कला का परिचायक है। सभी नाटकों का आरम्भ प्रभावशाली और कलापूर्ण है। 'अजातशत्रु' के आरम्भ में ही अजातशत्रु लुब्धक को फटकारता है—"तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र ला तो कोड़ा।" दर्शकों के सामने अजातशत्रु आतंककारी के रूप में आता है—उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है। 'चन्द्रगुप्त' में प्रथम दृश्य में ही आर्यावर्त की जर्जर अवस्था का पता चल जाता है। सिंहरण के शब्दों में—"आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है।......भयानक विस्फोट होगा।" इसमें सभी प्रमुख पात्रों का परिचय दर्शक को मिल जाता है। अलका, आम्भीक, सिंहरण, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सभी उपस्थित हैं। संघर्ष

भी स्पष्ट हो जाता है। यही बात 'स्कन्दगुप्त' में भी है। स्कन्दगुप्त का दार्शनिक वीर चरित्र प्रथम दृश्य में ही पता चल जाता है।

'प्रसाद' के नाटकों का अन्त मौलिक ढङ्ग से होता है। न तो दुःखान्त, और न सुखान्त ही। समीक्षकों ने इस प्रकार के नाटकों को 'प्रसादान्त' या 'प्रशान्त' कहा है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार लड़खड़ाकर गिरता है। उसकी मृत्यु का यह संकेत है और इन शोक-विह्वल क्षणों में भगवान् गौतम का प्रवेश होता है। विश्व-कल्याण की शान्त और करुण मूर्ति शोक के आँसू पोंछ देती है। 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्र का निर्माण होता है। पर कल्याणी की मृत्यु हो चुकती है, जिसे चन्द्रगुप्त ने भी शैशव से प्रेम किया था। सुवासिनी का भी त्याग चाणक्य कर देता है। पर राष्ट्र विदेशी यवन-आतंक से निर्भय कर दिया जाता है। 'स्कन्दगुप्त' में भी देवसेना और स्कन्दगुप्त का विछोह हो जाता है—उनकी कामना अतृप्त ही रह जाती है, पर भारत स्वाधीन है।

'प्रसाद' के नाटकों में करुणा की एक सघन बदली छा जाती है। 'स्कन्दगुप्त' में यह सबसे अधिक भीगी, अश्रु-छुल-छुल और वेदना-चंचल होकर आई है। यही त्याग और विश्व-कल्याण का रूप 'प्रसादान्त' शैली बनकर आया है। करुणा और त्याग के दो कूलों में मंगल की धारा बहती है—यही बौद्ध और आर्य दर्शन से निर्मित 'प्रसाद' की कला है।

अभिनेयता

अभिनय के विषय में 'प्रसाद' जी का मत था, "नाटकों के लिए रंगमंच की रचना होनी चाहिए, न कि रंगमंच के लिए नाटक लिखे जाने चाहिएं।" इसलिए 'प्रसाद' जी के नाटकों में रंगमंच-सम्बन्धी त्रुटियाँ पर्याप्त संख्या में हैं। 'प्रसाद' जी ने रंगमंच की सहूलियत का बहुत ही कम ध्यान रखा है। अभिनय के सम्बन्ध में 'प्रसाद' जी के नाटकों में कई दोषों का संकेत आलोचक करते हैं—"नाटक बहुत बड़े हैं। कथोपकथन बहुत लम्बे हैं : भाषा कठिन है। स्वगतों की भरमार है। काव्यात्मकता और गीतों का बाहुल्य है। दृश्य-विधान भी अभिनयोचित नहीं। इसलिए 'प्रसाद' के नाटकों का अभिनय नहीं हो सकता।"

इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है—"आक्षेप सभी नाटकों पर लागू नहीं होते। 'चन्द्रगुप्त' को छोड़कर सभी नाटक छोटे हैं, ढाई घण्टे से अधिक समय अभिनय में नहीं लग सकता।' 'अजातशत्रु' १३०,

'राज्यश्री' ६५, 'जन्मेजय का नागयज्ञ' १०७, 'स्कन्दगुप्त' १६० और 'चन्द्रगुप्त' २१० पृष्ठों के नाटक हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' ८० पृष्ठ का ही है। 'चन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त किसी पर भी लम्बाई का आक्षेप नहीं किया जा सकता। पद्यात्मक संवाद निकाले जा सकते हैं। गीत कम किये जा सकते हैं। 'स्वगत' अस्वाभाविक रूप में केवल 'विशाख', 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' में ही आये हैं। 'स्कन्दगुप्त' में केवल एक स्वगत अस्वाभाविक और अनावश्यक है। इनको निकाल देने से नाटक की आत्मा को तनिक भी ठेस नहीं पहुँचती। भाषा-सम्बन्धी आक्षेप भी जितना 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' पर ही लागू होता है, अन्य नाटकों पर उतना नहीं। 'अजातशत्रु' में २१ पद्य हैं। इनको निकाल देने पर इसकी लम्बाई लगभग १०० पृष्ठ ही रह जाती है। भाषा-सम्बन्धी दोष ऐसा मुख्य दोष नहीं कि नाटकों का अभिनय ही न किया जा सके—यही होगा न, कि साधारण अपढ़ लोग उसे न देख सकेंगे। तब वह शिक्षितों के लिए ही अभिनय किया जा सकता है। पारसी-कम्पनियों की उर्दू कौन समझता था, आज भी 'मिनर्वा' के चित्रों की फारसीमय उर्दू कौन समझता है, फिर भी दर्शक जाते हैं—केवल अभिनय के कारण।

अभिनय का सम्बन्ध ऊपर दी गई बातों से अवश्य है, पर सबसे अधिक सम्बन्ध है दृश्य-विधान से। दृश्य-विधान यदि गलत है, तो चाहे जितनी सरल भाषा हो, चाहे जितने कम गाने हों, चाहे जितने संक्षिप्त संवाद हों और चाहे जितने छोटे नाटक हों, अभिनय असम्भव है। 'अजातशत्रु' के पहले अङ्क में दृश्य-विधान-सम्बन्धी कोई दोष नहीं। दूसरा अङ्क भी निर्दोष है। इसमें पहला दृश्य—अजातशत्रु की राज-सभा, दूसरा—पथ, तीसरा—उपवन राज-सभा के आगे का पट गिराकर पथ दिखाया जा सकता है, तब तक राज-सभा का सामान हटाकर वाटिका का दृश्य बनाया जा सकता है। तीसरे अङ्क में थोड़ी-सी कठिनाई पड़ेगी, जिसे दूर करने के लिए कोई भारी मंच-कला अपेक्षित नहीं।

'जन्मेजय का नागयज्ञ' की अभिनय-समस्या भी सुलझाना सरल है। पहले अङ्क का दृश्य विधान यों है—१ कानन, २ गुरुकुल, ३ राज-सभा, ४ पथ, ५ कानन, ६ गुरुकुल, ७ कानन। पहला अङ्क निर्माण करने में कोई कठिनता नहीं। इसी प्रकार दूसरा अङ्क भी है। तीसरा अङ्क भी सरल है। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'नागयज्ञ' तीनों नाटक अभिनय के योग्य बनाये

जा सकते हैं और इनकी भावना, कथा, चरित्र-चित्रण, कार्य-व्यापार किसी को तनिक भी ठेस न पहुँचाकर।

'ध्रुवस्वामिनी' अभिनय की दृष्टि से प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। ये तीन अङ्क का नाटक है—प्रत्येक अङ्क में एक-एक दृश्य। संकलनत्रय का इसमें सबसे अधिक निर्वाह हुआ है। इसमें कार्य-व्यापार तीव्र है, कथा-प्रवाह संबद्ध-संगठित है। इसका दृश्य-विधान अत्यन्त सरल है। तीन परदों से काम चल जाता है। घटनाएं बड़ी तीव्रता से घटती हैं। संघर्ष—विचारों और घटनाओं का—बड़ी तीव्रता से होता चलता है। इस नाटक के अभिनय में पाठक की जिज्ञासा, कौतूहल, तन्मयता और रुचिपूर्ण आकर्षण अन्त तक बने रहते हैं और वे अन्त में ही शान्त होते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में 'प्रसाद' ने अभिनेयता का बहुत ध्यान रखा है। नाटक कहीं भी शिथिल नहीं, कहीं भी निर्बल नहीं, कहीं भी नीरस नहीं। नाटक में केवल तीन अङ्क ही, तीन दृश्य ही होने के कारण इनके निर्माण में तनिक भी कठिनता नहीं होती। अङ्कान्त में यवनिका का पतन होता है और जो समय यवनिका उठने तक मिलता है, उसमें विशाल-से-विशाल दृश्य की रचना हो सकती है।

'स्कन्दगुप्त' 'प्रसाद' जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। कार्य-व्यापार, चरित्र-चित्रण, कथानक, गति, वातावरण, नाटकीय-शैली आदि सभी दृष्टियों से यह सभी नाटकों से अच्छा है। 'प्रसाद' जी स्वयं इससे सन्तुष्ट थे। इसका अभिनय समष्टि रूप में बहुत ही प्रभावशाली, रसपूर्ण और रंजनकारी हो सकता है। पर इसके दृश्य-विधान को 'ध्रुव-स्वामिनी' के समान सफल नहीं कहा जा सकता। इसमें मंच-निर्देशक को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ेगा। प्रथम अङ्क का दृश्य-विधान है— १—उज्जयिनी में स्कन्धावार, २—कुसुमपुर में कुमारगुप्त की परिषद्, ३—अनन्त देवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ, ४—अन्तःपुर का द्वार; ५—पथ और ६—अवन्ती का दुर्ग। इसमें पहले दो दृश्यों का आगे-पीछे निर्माण करना बहुत कठिन है। दोनों विशाल दृश्य हैं। दोनों के बीच कोई दृश्य होना चाहिए था, जिससे पहले दृश्य का सामान हटाने और दूसरे दृश्य को सजाने का समय मिल जाता। तीसरा, चौथा, पाँचवाँ छठा—सभी दृश्य ठीक हैं। पहला दृश्य केवल कुछ सैनिकों और पहरेदारों को खड़ा करके स्कन्धावार बनाया जा सकता है। शेष सभी दृश्य बहुत ही सरल हैं। दूसरे अङ्क में कोई कठिनता नहीं। तीसरा अङ्क भी ठीक है—१—सिप्रा-तट २—बन्दी-गृह, ३—अवन्तिका का एक भाग, ४—पथ और ५—राज-सभा। तीसरे और पाँचवें दृश्य के बीच में पर्दा डालकर दृश्य निर्माण का समय मिल जाता

है। चौथा अङ्क कठिन है। उसके दृश्य इस प्रकार हैं १—प्रकोष्ठ में विजया और अनन्त देवी, २—भटार्क का शिविर, ३—न्यायाधिकरण (कश्मीर), ४—पथ, ५—चतुष्पद, ६—पथ और ७—कुटी। दूसरा और तीसरा दृश्य आगे पीछे होने से गड़बड़ पैदा करेंगे। इनको इधर-उधर किया जा सकता है। शेष ठीक हैं। पाँचवाँ अङ्क भी अभिनय की दृष्टि से ठीक लिखा गया है। 'स्कन्द-गुप्त' को अभिनीत किया जा सकता है, इससे ऐसी कठिनाई उपस्थित नहीं होगी, जो रंग-मंच-निर्माण करने में गड़बड़ पैदा करे।

अभिनय की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नाटक सबसे निराशाजनक और असफल है। दूसरा—अन्तिम नाटक होते हुए भी 'प्रसाद' जी ने इसमें अभिनेयता का तनिक भी ध्यान नहीं रखा। लम्बाई में भी सबसे बड़ा, कथोपकथन भी लम्बे और गाने भी ११—सभी दोषों से पूर्ण। इसका दृश्य-विधान सभी नाटकों से अधिक त्रुटिपूर्ण और असफल है। पहले अङ्क में पहला दृश्य है तक्षशिला का गुरुकुल, दूसरा है मगध के सम्राट् का विलास-भवन, तीसरा है पाटलिपुत्र का एक भग्न कुटीर और चौथा पथ, पाँचवाँ नन्द की राज-सभा। गुरुकुल का पहला दृश्य भव्य और विशाल दिखाना पड़ेगा। वातावरण उत्पन्न करने के लिए भारतीय संस्कृति का चित्र इसमें उपस्थित करना पड़ेगा, स्थान चाहिए। इसके बाद ही मगध का विलास-भवन भी विशाल दृश्य है। श्रृङ्गार-सजावट भी अपेक्षित है। पहले दृश्य का पर्दा गिरते ही तुरन्त खुलना चाहिए। इतनी देर में सामान हटाना कठिन है। गुरुकुल के पीछे विलास-भवन बनाना पड़ेगा और उसके पीछे भग्न कुटीर। विलास-भवन का पट बन्द करके फिर पीछे का दृश्य—कुटीर-शीघ्र ही दिखाना है। दोनों दृश्यों के बीच इतना समय नहीं कि विलास-भवन की सामग्री हटाई जा सके। इसके अतिरिक्त मंच पर इतना स्थान कहाँ कि तीनों दृश्यों का साथ निर्माण किया जा सके। दूसरे अङ्क का भी यही हाल है। उसमें युद्ध-क्षेत्र का दिखाया जाना भरत मुनि की भी शक्ति से बाहर है। मंच पर ससैन्य सेल्यूकस और पर्वतेश्वर का प्रवेश, युद्ध आदि दिखाया जाना असम्भव है।

'प्रसाद'के अन्य नाटकों में जो नाटकीय गुण—कार्य-व्यापार, नाटकीय घटनाओं की पकड़, कौतूहल, रसानुभूति, संघर्ष, नाटकों का आरम्भ और अन्त—'चन्द्रगुप्त' में भी हैं; पर दृश्य-विधान-त्रुटिपूर्ण है—इसका अभिनय असम्भव है। अन्य नाटकों की अभिनेयता का विवेचन करते हुए प्रसाद के नाटकीय गुण भी अवश्य सहायक होंगे।

समाज की समस्या

'प्रसाद' के नाटकों में अनेक बातें हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन करना आवश्यक है। संस्कृति-प्रधान नाटक होते हुए भी 'प्रसाद' जी की दृष्टि जीवन की समस्याओं की ओर भी थी। सम्भव है, असमय ही उसका देहावसान न हुआ होता, तो वे जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेते। 'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक नाटक होते भी समस्या-नाटक है। मानव ने जब से विवाह नाम की संस्था का प्रवर्तन किया है, तब से आज तक यह जीवन की उलझनभरी सर्वव्यापक समस्या बना है। समय-समय पर अनेक युग-द्रष्टाओं ने इसमें संशोधन किए हैं, आगे भविष्य में भी ये होते रहेंगे।

'ध्रुवस्वामिनी' में इसी गम्भीर समस्या को लिया गया है। ध्रुवस्वामिनी गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी है और उसका पति है रामगुप्त—एक भीरु, कायर, क्लीव और अयोग्य उस पति के साथ वह विवाह-धर्म का कब तक पालन करे, यह उसके सामने एक दुविधा भरा प्रश्न है। ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का विवाह असम और राक्षस-विवाह है। वह समाज और व्यक्ति के मंगल का विनाशक और कल्याण का घातक है। रामगुप्त की क्लीवता और भीरुता सीमा को लाँघ जाती है। वह आज्ञा देता है, "जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी को देना चाहता हूँ।" जो मनुष्य इतना पतित हो कि अपनी पत्नी को भी शकराज खिंगिल को भेंट कर दे, उसको पति रहने का अधिकार नहीं। ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए अपने कुल की मर्यादा के लिए चन्द्रगुप्त खिंगिल के डेरे में जाकर उसका वध करता है। इससे पूर्व परिस्थितियों के वश ध्रुवस्वामिनी देवी और चन्द्रगुप्त का प्रेम विकसित हो चुका था। नाटक में दोनों का विवाह कराया गया है और धर्माधिकारी व्यवस्था देता है —"मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।"

इस नाटक में दूसरी समस्या है राजा की। यदि वह अयोग्य हो तो उसे राज्य-सिंहासन से उतार देना चाहिए।

हास्य

'प्रसाद' के नाटकों में हास्य का प्रायः अभाव ही है। कारण है, उस युग का वातावरण। गम्भीर, सांस्कृतिक, युद्ध-सम्बन्धी वातावरण में हास्य को कम स्थान रहता है। 'प्रसाद' जी के नाटक उथल-पुथल और सांस्कृतिक, संघर्ष के युग के हैं। ऐसे युग में हास-परिहास के लिए कम ही अवसर आते

हैं। इसके अतिरिक्त, वैसा हास्य जैसा कि पारसी-मण्डलियों के नाटकों में चलता था, हास्यास्पद है। तो भी 'प्रसाद' जी ने कहीं-कहीं विनोद-स्थल जुटाने का प्रयत्न किया है। कहीं तो 'प्रसाद'जी ने हास्य की योजना किसी पात्र के द्वारा ही कर दी है। जैसे महापिंगल, ('विशाख' में) काश्यप ('जन्मेजय का नाग यज्ञ' में) मधुक ('राज्यश्री'में) और कहीं नया पात्र-निर्माण करके अर्थात् विदूषक के द्वारा जैसे बसन्तक ('अजात शत्रु'में) और मुद्‌गल ('स्कन्दगुप्त'में) के द्वारा। कहीं-कहीं पारस्परिक विनोद के रूप में जैसे कुमार-गुप्त, धातुसेन, पृथ्वीसेन का वार्तालाप। पर प्रसाद में हास्य न के बराबर है।

वर्तमान का चित्रण

'प्रसाद' के नाटकों में वर्तमान युग के भी चमकते चित्र मिलते हैं। नाटक वे ही अमर होते हैं, जो भूत और भविष्य की शृङ्खला को वर्तमान की कड़ी से जोड़ दें। 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटकों में यह गुण है। 'ध्रुव-स्वामिनी' तो सम्पूर्ण रूप में वर्तमान का चित्र है। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्द-गुप्त' तो आधुनिकता से भरे पड़े हैं। अलका का अलख जगाना, वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन में नारियों के भाग को स्पष्ट करता है : "आक्रमणकारी ब्राह्मण, और बौद्ध का भेद न रखेंगे" में हिन्दू मुसलमान-एकता की झलक है। "मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह आत्म-सम्मान मिलेगा।" ये हमारी प्रान्तीयता का चित्र है। 'स्कन्द-गुप्त' भी राष्ट्रीय भारत का ही रूप है। "मेरा देश मालवती नहीं तक्षशिला भी है, समस्त आर्यावर्त है।" में अखण्ड भारत की भावना है। "अन्न पर अधिकार है भूखों का और धन पर अधिकार है देश का।" समाजवादी विचार-धारा का प्रकाशक है।

'स्कन्द गुप्त' में चैत्य के पास जो बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष है वह नाटकीय आवश्यकताओं को इतना पूरा नहीं करता, जितना हिन्दू-मुसलिम झगड़ों का रूप सामने रखता है। 'मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है।' विदेशी शासकों द्वारा बरती गई भेद-नीति का भण्डा-फोड़ करता है। हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाकर अंग्रेज अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं।

कल्पना का योग

यद्यपि 'प्रसाद' जी के नाटक ऐतिहासिक हैं, तो भी उनमें कल्पना का पर्याप्त भाग पाया जाता है। अपनी तीक्ष्ण कल्पना-शक्ति से 'प्रसाद' जी ने

कहीं तो नाटकों की कथा की टूटी शृङ्खला जोड़ी है और कहीं रसानुभूति को तीव्र किया है। इन्हीं दो रूपों में 'प्रसाद' जी ने अपनी कल्पना से काम लिया है। 'अजातशत्रु' में मागधी और श्यामावती एक कर दी गई हैं। शैलेन्द्र और विरुद्धक को भी एक पात्र बना दिया गया है। भटार्क और अनन्त देवी का सम्बन्ध इसकी दृष्टि से ही किया गया है। मालव में उज्जयिनी को स्कन्दगुप्त की राजधानी बनाना भी काल्पनिक है। भीमवर्मा तथा बन्धुवर्मा का भाई होना भी अभी तक इतिहास नहीं मानता। शर्वनाग, चक्रपालित भी काल्पनिक पात्र हैं। 'चन्द्रगुप्त' में तक्षशिला में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का सम्बन्ध भी इतिहास-सम्मत नहीं। चन्द्रगुप्त मालवों और क्षुद्रकों का सम्मिलित सेनापति बना था, इतिहास में यह बात नहीं मिलती। मालविका विजया, देवसेना, जयमाला, मंदाकिनी, अलका आदि सभी काल्पनिक पात्र हैं। चाणक्य का कारावास फिलिप्स चन्द्रगुप्त का द्वन्द्व युद्ध, दाण्ड्यायन की भविष्य-वाणी आदि कल्पित ही हैं।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि प्रसाद जी की कल्पना ने इतिहास के ढाँचे में मधुर स्पन्दमय प्राण ही डाले हैं उसका रूप बिगाड़ा नहीं। कोई ऐसी कल्पना भी नहीं कि जिससे इतिहास का कोई अनर्थ हो जाय।

: ३ :

गोविन्दवल्लभ पन्त

पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त हिन्दी के पुराने खेवे के प्रतिभाशाली और सफल नाटककार हैं। पन्तजी प्रसाद-युग में अपने कई सफल और सुन्दर नाटक लेकर हिन्दी में आये। आपने सुन्दर कहानियाँ भी लिखीं; पर आपकी प्रतिभा नाटककार के रूप में ही अधिक विकसित हुई और चमकी भी। ऐसा नहीं लगता कि पन्तजी के नाटकों में प्रेरणा की कोई एक विशेष धारा बह रही है। 'प्रसाद' ने जिस प्रकार भारतीय संस्कृति की महानता से अनुप्राणित होकर भारतीय राष्ट्रीयता का सशक्त और उन्नत रूप अपने नाटकों में रखा, या 'प्रेमी' ने जिस प्रकार वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष से प्रेरित होकर अपने नाटकों के द्वारा भारतीय एकता की मशाल जलाई और बलिदान का पथ प्रकाशित किया, पन्तजी के नाटकों में उस प्रकार की किसी विशेष प्रेरणा का आग्रह दिखाई नहीं देता। पन्तजी के नाटकों की प्रेरणा है कला का अनुरोध या नाटक-निर्माण-कामना का आग्रह।

पन्तजी ने अपने नाटकों के लिए कथानकों का चुनाव किसी एक ही क्षेत्र से नहीं किया। पुराण-इतिहास और वर्तमान-जीवन—सभी क्षेत्रों से उन्होंने अपने कथानक और पात्र लिये। 'वरमाला' पौराणिक कथा लेकर लिखा गया है। 'राजमुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र' ऐतिहासिक नाटक है। 'अङ्गूर की बेटी' वर्तमान जीवन की कहानी है। इसमें मदिरा-पान करने से जिन सामाजिक और मानवी अपराधों का जन्म होता है, वे भली प्रकार दिखाये गए हैं। इससे प्रकट होता है कि पन्तजी में विभिन्न जीवन की कथाओं को नाटकीय रूप देने की पूर्ण क्षमता है।

घटनाओं को नाटकीय रूप देने में पन्तजी अत्यन्त सफल कलाकार हैं। उनके नाटकों में कौतूहल, आकस्मिकता, जिज्ञासा आदि के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। वातावरण उपस्थित करने में भी वह पटु हैं। पन्तजी के नाटक अभिनेयता की दृष्टि से भी सफल रहते हैं। कथा में उलझन प्रायः नहीं

रहती—वह सीधे और सरल मार्ग पर तीव्र गति से बहती चलती है। पन्त जी पर हिन्दी-नाटककारों का प्रभाव भले ही न पड़ा हो, पर पारसी-कम्पनियों के रंगमंची नाटकों का थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा मालूम होता है। फिर भी उनके नाटकों में उनकी अपनी मौलिकता है और अपने ढंग पर उनका विकास हुआ है। उनके नाटकों का रचना-क्रम इस प्रकार है:—

रचनाओं का काल-क्रम

कंजूस की खोपड़ी	१६२३
वरमाला	१६२५
राज-मुकुट	१६३५
अंगूर की बेटी	१६३७
अन्तःपुर का छिद्र	१६४०
सिन्दूर-बिन्दी	अज्ञात
ययाति	१६५१

इतिहास और कल्पना

'राज-मुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र' दोनों नाटक ऐतिहासिक नाटक हैं। 'राज-मुकुट' में महाराणा साँगा के पुत्र मेवाड़ के होने वाले राणा उदयसिंह की धाय पन्ना के त्याग की कहानी है। पन्ना धाय ने बनवीर के हिंसक हाथों से अपने एक-मात्र पुत्र का वध करा लिया और उदयसिंह की रक्षा की। यह कहानी राजस्थानियों ही नहीं समस्त भारतीयों की वाणी पर है— भारत-प्रसिद्ध है : 'टाड का राजस्थान' में भी यही कथा दी गई है। बनवीर के अत्याचार और उसकी हत्यारी महत्त्वाकांक्षा, उसके अनाचार और प्रजा-पीड़न की कहानियाँ भी राजस्थान जानता है। पन्ना, विक्रम, बनवीर और उदयसिंह—सभी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र हैं। विक्रम और उदयसिंह भाई थे, विक्रम साँगा की छोटी रानी जवाहरबाई से उत्पन्न हुए थे और उदयसिंह बड़ी रानी कर्मवती से। उदयसिंह बालक था, इसलिए विक्रम-सिंह को ही राणा बना दिया गया था। उसका विलास और कायरता भी इतिहास की जानकारी में है। 'प्रेमी'जी के 'रक्षा-बन्धन' में भी विक्रम और उदयसिंह—दोनों हैं। विक्रम के सिंहासन-च्युत होने की घटना भी 'रक्षा-बन्धन' में है

पर विक्रम तथा कर्मचन्द्र का बनवीर द्वारा वध, उदयसिंह का बहादुरसिंह द्वारा पकड़ा जाना, बलिदान कर काली को भेंट करने

की कोशिश, आदि काल्पनिक घटनाएं लगती हैं। इनमें नाटकीयता लाने, चरित्र तथा कथा के विकास के लिए ही रखा गया है, इनसे इतिहास की बहुत बड़ी हानि भी नहीं होती। एक बात इस बड़े नाटक में खटकती है—उदयसिंह की माँ कर्मवती का अभाव। शीतल सेनी के विषय में भी इतिहास मौन है, पर इससे नाटक में बहुत जान आ गई है—नारी-चरित्र का यह बहुत सबल रूप है। कल्पित घटनाएं या चरित्र इतिहास का अधिक विरोध नहीं करते।

'अन्तःपुर का छिद्र' में पूर्ण ऐतिहासिकता का निर्वाह किया गया है। वत्सराज उदयन की दो रानियाँ थीं—पद्मावती और मागंधी या मागंधिनि। दोनों में परस्पर बड़ी स्पर्धा थी। बौद्ध-इतिहास उन दोनों के संघर्ष का साक्षी है। देवदत्त गौतम का प्रतिस्पर्धी था। वह काशी, कौशाम्बी, मगध आदि में गौतम के प्रभाव को कम करने का जी-जान से प्रयत्न करता रहता था। पद्मावती बुद्ध की उपासिका थी और मागंधी देवदत्त की। मागंधी राजमहल में भी गौतम का प्रभाव कम करने, पद्मावती को नीचा दिखाने और उसे हानि पहुँचाने की सतत चेष्टा करती रहती थी। वत्सराज उदयन पद्मावती को अधिक प्रेम करता था। वह अपने समय का बहुत प्रभावशाली राजा और प्रसिद्ध कलाकार था। मागंधी ने पद्मावती के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्र रचे, पर वे सभी निष्फल गये। एक बार देवदत्त जब कौशाम्बी की ओर आ रहा था, एक तालाब में पानी पीने के लिए घुसते हुए उसकी मृत्यु हो गई। मागंधी अपने षड्यन्त्रों में निष्फल रही और देवदत्त की मृत्यु से वह निराश हो गई।

वत्सराज को लेकर हिन्दी में कई नाटक लिखे गए। सभी में पद्मावती और मागंधी के संघर्ष की ओर थोड़ा-बहुत संकेत है। 'अजातशत्रु' (प्रसाद) 'वत्सराज' (लक्ष्मीनारायण मिश्र) में वत्सराज उदयन के चरित्र और प्रभाव का चित्र उपस्थित किया गया है। 'अन्तःपुर का छिद्र' के पात्र—उदयन पद्मावती, मागंधिनी, अमिताभ—ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अंत में उदयन भी बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था, यह भी प्राचीय इतिहास में मिलता है, जो इस नाटक में दिखाया गया है। हाँ, मागंधिनी की मृत्यु कैसे हुई, इसका कम पता चलता है।

समाज की समस्या

पन्तजी ने विस्तृत जीवन-क्षेत्र और विभिन्न ऐतिहासिक काल के नाटक लिखे। वर्तमान जीवन-क्षेत्र से जो कथानक और चरित्र पन्त जी ने लिये

उनके द्वारा उन्होंने सामाजिक समस्याओं का हल उपस्थित करने का भी प्रयास किया—भले ही उनके नाटकों में जीवन की अत्यन्त उलझन भरी, गहन और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सुलझाव न हो, जैसा लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाटकों या 'प्रेमी' के 'छाया' नाटक में है। उन्होंने ऐसी सामाजिक समस्याओं को अवश्य छुआ है, जिनसे समाज में अनेक अपराध अनैतिक कर्म और दाम्पत्य जीवन की सुख-शान्ति के विनाश की सृष्टि होती है। ऐसे दुर्व्यसनों की तस्वीर उन्होंने खींची है, जिनसे घर उजड़ जाते हैं, जीवन नष्ट हो जाते हैं, स्वास्थ्य का नाश हो जाता है।

'अंगूर की बेटी' में मदिरा-पान से खण्डहर बने एक सुखी जीवन का घायल चित्र उपस्थित किया गया है। मोहनदास शराब पीने के दुर्व्यसन का शिकार हो चुका है। वह अपनी समस्त सम्पत्ति नष्ट कर देता है और अपनी पत्नी कामिनी के आभूषण भी छीन-छीन कर बेच देता है। घर में कंगाली का आतंक है, अशान्ति का राज्य, कलह का दौर-दौरा और दुख-दरिद्रता का प्रकोप रात-दिन रहता है। "और शायद उस पत्नी से अधिक दुःखिनी कोई नहीं, जिसका पति शराबी है।" शराब का अभिशाप कामिनी के कथित शब्दों में बोल रहा है और हरिहर भी एक अखबार की रिपोर्ट पढ़कर सुनाता है, "संसार में जितने पागल हैं, उनमें से पिछत्तर फ़ी सदी लोग शराब आदि नशीली चीज़ों के इस्तेमाल से हुए हैं।"

मोहनदास अपनी औरत के सिर पर बोतल मारकर उसे बे-सुध करके उसके आभूषण छीनकर चला जाता है। घर में आग लग जाती है। नशे में चूर मोहनदास की जेब से माधव आभूषण चुरा लेता है और इसी घटना को लेकर मोहनदास और माधव में पिस्तौल चल जाती है। वह पकड़ लिया जाता है। घटना-क्रम से भी लेखक ने शराब की बुराइयाँ दिखाने का प्रयत्न किया है और साथ ही मदिरा पीने की बुरी आदत छुड़ाने का ढंग भी बता दिया है। मोहनदास को बनवारी बाबा एक होटल में नौकर करा देता है। बिन्दु उसकी मैनेजर है और विनोदचन्द्र (कामिनी) उसकी मालिक। मोहन-दास को प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी शराब दी जाती है और उसमें भी अनुपात के हिसाब से प्रतिदिन पानी मिलाया जाता है। इस प्रकार उससे शराब पीने की आदत छुड़ा दी जाती है। जो व्यक्ति इतने अबल मन के हैं कि एकदम शराब नहीं छोड़ सकते, धीरे-धीरे वे भी इस बुरी आफ़त से बच सकते हैं।

इसी नाटक में फ़िल्मी जीवन के ऊपर भी एक संकेतात्मक प्रकाश डाला गया है। किस प्रकार फ़िल्मी चकाचौंध से पथ-भ्रष्ट होकर आधुनिक महिलाएं

उधर पागल हुई दौड़ रही है, यह भी इसमें स्पष्ट है। बिन्दु पर, आधुनिक शिक्षा पाकर, फिल्मी अभिनेत्री बनने का ख़ब्त बुरी तरह सवार है। माधव किस प्रकार आशाएं दिलाता है, वह जीवन कितना गन्दा है—शराब पीना जहाँ आवश्यक है, लाज-शर्म को धता बताना अनिवार्य—यह भी 'अक्रूर की बेटी' में दिखाया गया है। इस फिल्मी चकाचौंध में पड़कर आज भी अनेक महिलाएं वहाँ जाकर रुपया कमाने की धुन में अपना घर उजाड़ लेती हैं। वैसे यह कोई इतनी बड़ी समस्या न सही, पर अनेक जीवनों के लिए उसने भी तबाही लाई है।

'राजमुकुट' यद्यपि ऐतिहासिक नाटक है, तो भी उसमें एक गम्भीर समस्या की ओर ध्यान दिलाया गया है। यदि राजा नीति-हीन, दुराचारी, अनाचारी, प्रजा-पीड़क और अशक्त हो तो उसे हटा देना चाहिए। उसके विरुद्ध विद्रोह करना अपराध नहीं, शुभ कार्य है—धर्म है। विक्रम मेवाड़ का अनाचारी और विलासी राजा है उसे राज्य-सिंहासन से उतारने के लिए माँग करते हुए एक सरदार कहता है, "विक्रम सिंहासन से उतार दिया जाय" और कर्मचन्द्र, जयसिंह तथा अन्य सरदार उसे गद्दी से उतार कर कारागार में डाल देते हैं। ऐसे देश में, जहाँ राजा को परमेश्वर का अंश समझा जाता है, वहाँ उसे-राज्य-च्युत करके कारागार में डाल देना बहुत बड़ी बात है और इसका महत्त्व तो आज और भी बढ़ गया है, जब आज़ाद भारत में अनाचार और भ्रष्टाचार का बोल-बाला है; जनता अन्न को तरसती है, जीवन को केवल थामे भर रखने की वस्तुएं इतनी महंगी होती जाती हैं कि आगे क्या होगा, कुछ भी पता नहीं।

'सिन्दूर-बिन्दी' में भी दाम्पत्य जीवन की बहुत ज्वलन्त समस्या ली गई है। हम हिन्दू-समाज में रात-दिन ऐसी घटनाएं देखते हैं कि एक हिन्दू लड़की कहीं किसी की धूर्तता का शिकार हुई, समाज से वह बहिष्कृत कर दी गई और उसके लिए न पति, न भाई और न पिता के दिल में स्थान है, और न घर में ही। परिणाम होता है, वह या तो बाजारों की शोभा बढ़ाती है या किसी अन्य सम्प्रदाय की शरण में जाती है। आज भी पाकिस्तान से आई अनेक लड़कियाँ कैंपों में पड़ी हैं, पर उनसे विवाह करके समाज में स्वस्थ जीवन बिताने को बहुत कम लोग तैयार हैं। कुमार और विजय का मिलन इस समस्या का सुलझाव उपस्थित करता है।

पात्र——चरित्र-चित्रण

जीवन के जितने विस्तृत और विभिन्न क्षेत्रों से नाटकों के कथानक लिये

जायंगे, पात्रों और उनके चरित्रों में भी उतनी ही विभिन्नता मिलेगी। पंत जी ने भी अपने नाटकों के कथानक विभिन्न क्षेत्रों और कालों से लिये हैं। 'राज-मुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र' ऐतिहासिक नाटक हैं, 'अंगूर की बेटी' और 'सिन्दूर-बिन्दी' सामाजिक और 'वरमाला' पौराणिक। इनके पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में पात्र भारतीय नाट्य-शास्त्र की कसौटी पर कसकर परखे जाने उचित हैं और सामाजिक नाटकों के पात्र आधुनिक समीक्षा-शैली की कसौटी पर कसे जाने चाहिएं।

'वरमाला' के नायक-नायिका—अवीक्षित और वैशालिनी भारतीय दृष्टिकोण से एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके चरित्र से इसका साधारणीकरण हो जाता है। अवीक्षित धीरोदात्त नायक है। वह वीर योद्धा, सुन्दर, आखेटप्रिय, निर्भय, विजयी, सदाचारी एकनिष्ठ है। वैशालिनी को उड़ाकर ले जाना और विशाल शत्रु-सेना से युद्ध करना उसकी वीरता और निर्भयता का प्रमाण है। वैशालिनी के अतिरिक्त किसी अन्य नारी की उसने कभी कामना ही न की। वैशालिनी भी एकनिष्ठ प्रेमिका है। सुन्दर शीलवती, पति-परायण, तपस्विनी, कष्ट-सहिष्णु, मुग्धमना और स्वप्न में भी अवीक्षित की ही कामना करने वाली नारी है। दोनों ही चरित्रों में उतार-चढ़ाव अधिक नहीं पाया जाता। चरित्र के विचित्र गुण, जो आधुनिक समीक्षा के आधारभूत मापदण्ड हैं, इनमें मिलने असम्भव हैं। भारतीय परिभाषा के अनुसार गुण-ही-गुण इनमें मिलते हैं, हाँ, घृणा प्रेम में किस प्रकार बदल जाती है, यह दोनों में ही देखा जा सकता है।

यही एकरूपता उदयन और पद्मावती के चरित्रों में मिलती है। उदयन धीर ललित नायक है। पद्मावती पतिव्रता धर्मपरायणा, सुन्दर, शीलवती आदर्श पत्नी है। उदयन के चरित्र में थोड़ा-सा सन्देह तनिक परिवर्तन ला देता है, वह भी बहुत अल्प समय के लिए। इन दोनों का ही चरित्र आदर्श है। भारतीय नायक-नायिका के पारिभाषिक साँचे में ढला हुआ। वीणा-वादन, ऐश्वर्य, विलास, प्रेम—यही इन दोनों के जीवन का आदर्श है। और अन्त में दोनों ही बुद्ध की शरण में शांति पाते हैं। इनके चरित्र में भी विशेष परिवर्तन या अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। हाँ, मागंधिनी अवश्य एक सबल ईर्ष्यालु चरित्र है। उसका विकास बहुत ही अच्छा हुआ है। 'राज-मुकुट' में पन्ना यद्यपि राजकुलोत्पन्न नहीं; फिर भी उसका चरित्र आदर्श की श्रेणी में ही आयगा। 'अंगूर की बेटी' की बिन्दु और कामिनी आधुनिक जीवन के पात्र होते हुए भी आदर्श ही हैं—एकनिष्ठ पति-परायण।

शठनायकों के चरित्र की दुर्जनता, धूर्तता और पाप के दूसरे छोर को जिस प्रकार नायक सद्गुणों की खान है, उसी प्रकार शठनायक दुर्गुणों की कीचड़ भरे नाले। 'वरमाला' में राक्षस को शठनायक के रूप में समझना चाहिए। नायिका को उत्पीड़ित करने के प्रयत्न में वह नायक के द्वारा मार दिया जाता है। 'राज-मुकुट' में बनबीर शठनायक है। वह नीच, धूर्त, विश्वास-घाती, प्रबल, अत्याचारी, हत्यारा, हृदय-हीन, निर्दय, पापी—सभी कुछ है। 'अङ्गूर की बेटी' का शठनायक माधव भी छल-कपट, विश्वास-घात, धोखा, धूर्तता, असत्य-भाषण, जालसाज़ी—सभी प्रकार के नीच कर्म करता है। मोहनदास की जेब से हार चुराना, प्रतिभा को धोखा देते रहना, कितने ही लोगों का धन हड़प कर जाना—यही उसका काम है। सामाजिक नाटकों में भी, पात्र प्रायः एक रंगे हैं—उनके चरित्र में विकास के लक्षण अधिक नहीं।

जैसा कि कहा गया, पंतजी के नाटकों के पात्रों में चरित्र की विचित्रता, घुटन, परिवर्तनशीलता, अन्तर्वेदना—आत्म-मंथन और संघर्ष अधिक मात्रा में नहीं मिलेंगे। अभिनय का बहुत अधिक ध्यान रखने के कारण यह चरित्र-चित्रण गहन न हो सका। पर ऐसी बात नहीं कि वे सभी कम सबल, अस्वाभाविक या व्यक्तित्व-हीन हैं। उनमें स्वाभाविकता का पर्याप्त विकास है, वे जानदार हैं, निजी व्यक्तित्व भी लिये हुए हैं और राग-द्वेष की उथल-पुथल से प्रभावित और गतिशील भी हैं। लेखक ने ऐसी परिस्थिति भी उपस्थित कर दी है जिससे चरित्रों में परिवर्तन आया है उनका विकास हुआ है और वे अधिक वास्तविक मनुष्य बन गए हैं।

'वरमाला' की वैशालिनी अपने उपवन में आये अवीक्षित से कहती है "तुम तीनों लोक जीत सकते हो, पर मेरे हृदय का शतांश भी नहीं" और वह उससे घृणा भी करती है। "तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं?" अवीक्षित ने पूछा। "प्रेम करती हूं, लेकिन तुमसे नहीं, तुम्हारी घृणा से।" वैशालिनी बोली। वैशालिनी अपने प्रेमी अवीक्षित से घृणा करती है। पर जब शत्रु-सेना अकेला पाकर अवीक्षित पर आक्रमण करती है, तो वह अपनी कटार उसे देते हुए कहती है, "उठो, लो यह कटार लो, अब मुझे आत्म-हत्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। जाओ, शत्रुओं का संहार करो। मेरा प्रेम तुम्हारा सहायक हो।" घृणा का प्रेम में बदल जाना परिस्थिति के अनुसार बहुत ही स्वाभाविक हुआ है।

इसी का प्रकार परिवर्तन अवीक्षित के चरित्र में भी आता है। पहले वह वैशालिनी को प्यार करता है, उसका हरण करता है। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वैशालिनी में उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए प्रेम का विकास होता जाता है, उसमें एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होता जाता है और अंत में जब उसका पिता करंधम, वैशालिनी के पिता विशाल की सेना को परास्त करके उसके साथ अवीक्षित के पास आता है, तो उसके हृदय में अपनी कायरता की दैन्य भावना जोर पकड़ जाती है। वह कहता है, "नहीं पिताजी, धृष्टता क्षमा हो। मैं वीर कुल-कलंक हूँ—स्वयं स्त्री हूँ। स्त्री का स्त्री के साथ कैसे विवाह हो सकता है? जो प्रतिज्ञा वैशालिनी के ग्रहण से आरम्भ हुई थी, वह आज मेरे आजन्म अविवाहित रहने पर समाप्त हुई। यही मेरी कायरता का प्रायश्चित्त है।"

इसी प्रकार का चारित्रिक परिवर्तन उदयन के चरित्र में भी पाया जाता है। उदयन पद्मावती को अपने हृदय में प्रतिष्ठित किये हैं। पद्मावती के चरण तक की गति उसके सबसे प्रिय गीत के साथ मिलकर स्मृति-मंदिर में हर समय उपस्थित रहती है। मागंधिनी जब उदयन को पद्मावती के विरुद्ध भड़काती है तो वह कह देता है, "मेरे इस मधुर गीत में तुम्हारे मैं सभी स्वर विवादी हैं।" पर धीरे-धीरे उसके हृदय में सन्देह का साँप वास करने लगता है। मागंधिनी की धूर्तता से उसका हृदय बदल जाता है। उसे पद्मावती के चरित्र पर भी सन्देह होने लगता है। हस्तीस्कंध वीणा से जब साँप निकलता है, मागंधिनी उसे बहका देती है कि यह पद्मावती ने रखा है और उसके हृदय में उसके तथा अमिताभ के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। वह पद्मावती का वध करने के लिए बाण छोड़ता है। बाण चूक जाता है तो पद्मावती समझती है, उसे क्षमा कर दिया गया। तब उदयन अपने हृदय की घृणा प्रकट करता है, "यह तीर छुटने के पश्चात् यदि मेरे हृदय की ज्वाला शीतल पड़ जायगी।" और वह पद्मावती को फिर लक्ष्य करके तीर छोड़ता है। इतने ही में मात्तिन आकर सारा रहस्य खोल देती है। अमिताभ भी तीर लिये उपस्थित होते हैं और दोनों उसके चरणों में नत मस्तक हो जाते हैं।

चरित्र-विकास की दृष्टि से 'राजमुकुट' सबसे कमजोर नाटक है। तलवारों की झनझनाहट में, सामन्ती शौर्य के जोश में, मारो-मारो की पुकार और उछल-कूद में चरित्र का विकास हो ही नहीं पाया। हाँ, शीतल सेना का चरित्र उल्लेखनीय है।

पन्त जी के नाटकों के नारी-पात्रों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो कोमल और दूसरे कठोर। कोमल या सुकुमार हृदय की नारी हैं वैशालिनी, बिन्दु, कामिनी, पद्मा; और कठोर हृदय की शीतल सेनी तथा मागंधिनी। कोमल नारी भारतीय नारीत्व के सभी आदर्श गुणों से पूर्ण है। प्रेम, ममता, दया, एकनिष्ठता, पतिपरायणता, आत्म-समर्पण, निष्काम भावना, सेवा, त्याग और करुणा की वह पावन प्रतिमा है। कठोर नारी विनाश, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, महत्त्वाकांक्षा, निर्दयता, षड्यन्त्रकारी, बुद्धि, छल-कपट, धूर्तता आदि वृत्तियों से धधकती हुई है। सुकुमारता नारीत्व का एक पहलू है और कठोरता दूसरा पहलू। दोनों ही पन्तजी के नारी चरित्रों में मिलेंगे। कोमल नारी शीतल, मृदुल, मन्द प्रवाह में बहने वाली नदी है और कठोर नारी तीव्र गति, प्राणवान, बाढ़ में उबलती सशक्त प्रवाह में दौड़ती नदी।

वैशालिनी अजीक्षित के प्रति कितनी उपेक्षापूर्ण है, उससे घृणा तक करती है, पर जब नक्र अजीक्षित पर आक्रमण करता है, तो उसका सजग नारीत्व शिथिल नहीं रहता, वह तुरन्त करुणा से पिघलकर और वीर भाव से उत्साहित होकर नक्र का एक तीर से वध कर डालती है और जब वैशालिनी के पिता की सेना उस पर आक्रमण करती है, तो उसकी दया प्रेम में बदल जाती है। वैशालिनी अपने शब्दों में ही जैसे प्रेम और दया की परिभाषा कर देती है, "नारी जिसे प्यार करती है, उस पर दया भी करती है। जिस पर दया करती है, उसे प्यार भी करती है।"

वैशालिनी के चरित्र में एकनिष्ठता और आत्म-समर्पण की भावना परा-काष्ठा तक पहुँची हुई है। उसमें वे सभी गुण हैं, जो भारतीय पौराणिक नारी में रहे हैं। न अजीक्षित की घृणा से उसे सन्ताप है, न उसकी उपेक्षा से अपमान की भावना उसमें जगती है। न वह अपने पथ से डाँवाडोल होती है और न उसके चरित्र में कोई प्रतिक्रिया ही उत्पन्न होती है। वह अपनी दासी से कहती है, "यदि इस जीवन में उसे न पा सकूँगी तो उसकी पाषाण-प्रतिमा का ही आजन्म पूजन करूँगी।" इन शब्दों में जैसे उसने नारीत्व की व्याख्या कर दी है।

'अंगूर की बेटी' की बिन्दु और कामिनी भी इसी कोटि की हैं। बिन्दु के यह गुण यद्यपि उसके चरित्र से प्रकट नहीं होते तो भी वह विनायक की एकनिष्ठ प्रेमिका और पत्नी है। कामिनी के चरित्र से तो स्पष्ट ही है। उसे उसका पति मोहनदास पीटता और कष्ट देता है, तो भी वह अनिष्ट नहीं

सोचती । अन्त में विनोदचन्द्र के रूप में उसकी रक्षा करती है, उसे मुकदमे से बचाती है और उसकी मदिरा-पान की आदत भी धीरे-धीरे छुड़ा देती है। मोहनदास के प्रति उसके हृदय में न कभी रोष होता है, न घृणा। सदा उसके सुख की कामना और रक्षा की चेष्टा वह करती है। पद्मावती भी इस दिशा में आदर्श है। उदयन की इच्छा ही उसकी इच्छा है, उसकी प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता। "स्वामी की इच्छा और उसकी पूर्णता के बीच में मेरा कुछ भी अस्तित्व न हो।" में उसका आत्म-विसर्जन बज रहा है। जब मागंधिनी के षड्यन्त्र के कारण उदयन उससे रुष्ट होकर उसका वध कर डालना चाहता है, तो वह स्वेच्छा से मरने को प्रस्तुत होते हुए कहती है, "मैं प्रति मावत् अचल होकर इस छिद्र को अपने अंग से ढक लूँगी कि लक्ष्य-भ्रष्ट न हो।"

'राजमुकुट' की शीतल सेनी और 'अन्तःपुर का छिद्र' की मागंधिनी कठोर नारी के सबल और अत्यन्त प्राणवान चरित्र हैं। लेखक ने उनके ऐसे होने का कारण भी बता दिया है। विक्रम द्वारा शीतल सेनी की उपेक्षा और अमिताभ द्वारा मागंधिनी का तिरस्कार—उससे विवाह न करना। "अपने वंश को याद कर नीच दासी" विक्रम के ये शब्द शीतल सेनी को प्रतिशोध के पथ पर पहुँचा देते हैं। और अमिताभ का बढ़ता हुआ प्रभाव पद्मावती द्वारा उसकी प्रशंसा मागंधिनी के हृदय में दबी आग को दहका देता है। दोनों ही विनाश और प्रतिशोध के पथ पर बढ़ चलती हैं।

शीतल सेनी में राज माता बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग जाती है। वह षड्यन्त्र रचती है। रणजीत से मिलकर बनवीर की हत्या करने का अभिनय करा, उसे विक्रम के विरुद्ध कर देती है। बनवीर को भड़काते हुए कहती है, "तुम पर माता का कुछ भी ऋण न रहे, जाओ इसी प्रकार विक्रम की खोज करो। उसी ने तुम्हारी माता को वेश्या कहा है। उस अभिमान-भरे मस्तक को धड़ से अलग करो।" शीतल सेनी के हृदय में रक्त की प्यास और हत्या की कामना इतनी बढ़ जाती है कि वह पागल-सी रहती है, वध और विनाश देखने के लिए। "न्याय और नाते का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। विक्रम का वध करो और रक्त सूखने से पहले उसी कटार से उदय—।" शीतल सेनी की आकांक्षा विक्रम और पन्ना के लड़के की हत्या और मेवाड़ में विनाश का खेल खेलने से तृप्त होती है। एक नारी कैसे हत्या, अपराध, विनाश की सृष्टि करती है, यह शीतल सेनी के चरित्र से स्पष्ट है।

मागंधिनी का चरित्र भी शीतलसेनी के समान ही द्वेष-प्रज्वलित, ईर्ष्या-उत्तेजित, घृणा से जर्जर है। एक नारी अपने तिरस्कार का प्रतिशोध लेने के लिए क्या कुछ कर सकती है, यह मागंधिनी बताती है। मागंधिनी अपने तिरस्कार को स्मरण करके कहती है, "इस निर्धन की कन्या को वत्सराज के भवन में स्थान इसीलिए मिला कि रूप की पहली हार भूल सकूँ। पद्मावती, तुम न भूलने दोगी! इस संन्यासी से जितना दूर जाना चाहती हूँ, वह उतना ही निकट खड़ा दिखाई देता है·········सिद्धार्थ के साथ पद्मावती भी है·········तब एक ही उपाय से ये दोनों बाधाएं दूर हों।" और मागंधिनी ने अभिताभ तथा पद्मावती दोनों के विरुद्ध ही उदयन को भड़काया। दोनों को ही उदयन द्वारा दण्ड दिलाने—मृत्यु-दण्ड दिलाने का प्रयत्न किया।

मागंधिनी प्रतिशोध के नशे में नारीत्व के पवित्र कर्तव्य को भूल गई। उसने षड्यन्त्र रचने आरम्भ किये। उसने यह प्रकट किया कि छिद्र से पद्मावती अभिताभ को देखा करती है—वह अभिताभ को इस भवन में भी लाना चाहती है। उस पर आकर्षित है। उसने मालिन को अपना हार उत्कोच में दे, उसके साथ मिलकर षड्यन्त्र किया। एक सर्प मँगाया और उसे हस्तीस्कंध वीणा में रख दिया। जब वह सर्प उदयन द्वारा वीणा बजाये जाते हुए बाहर निकला तो उदयन को बताया कि किस प्रकार पद्मावती उसे मारना चाहती है। मागंधिनी ऐसे समय प्रेम का कैसा अभिनय करती है, "मुझे अपने जीवन की चिन्ता नहीं, उसका त्याग करके भी आपकी रक्षा करूँगी, इसे वह नहीं जानती। शिला दूर होगी, तो मैं अपनी मुष्टिका से इसका विष भरा माथा कुचल दूँगी।"

अपने कृत्रिम चरित्र से उदयन को प्रभावित करके मागंधिनी ने अपनी इच्छा प्रकट की "तो अभी कुछ भी क्षति नहीं हुई। राज-पथ के अपराधी (अभिताभ) को भी दण्ड मिले और राज-भवन का दोष भी न छूटे।" इसी एक कामना-पूर्ति के लिए मागंधिनी ने क्या कुछ नहीं किया; पर वह पूर्ण न हो सकी, सर्प द्वारा उसी की मृत्यु हो गई। मागंधिनी इतिहास की गोद में एक नारी का अंगार भरा विनाशक चरित्र छोड़ गई।

कला का विकास

पन्त जी की नाटक लिखने की कला अपने रूप में विकसित हुई। संस्कृत-नाट्य-कला का प्रभाव उनकी कला पर स्पष्ट है। पश्चिमी शैली और टेकनीक को उन्होंने बहुत स्वस्थ रूप में अपनाया है। पारसी-रंगमंच का भी प्रभाव

उनके नाटकों पर दिखाई देता है—सब कलाओं को मिलाकर उन्होंने नाट्य-रचना की। उनकी कला में सबसे अधिक तत्त्व है अभिनेयता का। रंगमंच का पन्तजी ने बहुत अधिक ध्यान रखा है। वातावरण उपस्थित करने में भी वह खूब पटु हैं। अभिनेयता की अधिकता के कारण 'चरित्र-चित्रण' तत्त्व कुछ निर्बल पड़ गया है।

संस्कृत-नाटकों के समान उनके अधिकतर नाटकों में मंगलाचरण है। 'वरमाला' के प्रथम दृश्य में वैशालिनी रंगमंच पर गाती हुए आती है। यह गीत मंगलाचरण का ही रूप है:

"हों शूल पग के कोमल कुसुम-राशि,
करके सुमन को सफल प्रभु बनाओ।"

विश्व-मंगल की कामना का ही रूप है। 'राजमुकुट' में भी "मंगलमय मंगल कर" कहकर मंगलाचरण किया गया है। 'अन्तपुर का छिद्र' में भी नाटक आरम्भ होने से पहले नाटक के सब पात्र मिलकर ईश-वंदना करते हैं:

"कर्म-वश होवे चंचल काल,
दिशा का मिट जावे भ्रम-जाल।
विदु में विराट का लय हो,
विजय में छिपी पराजय हो।"

'अंगूर की बेटी' आधुनिक सामाजिक जीवन का समस्या-नाटक होते भी मंगलाचरण से नहीं बचा। कामिनी सन्ध्या को घर में प्रकाश करते हुए जो गीत गाती है, वह मंगलाचरण ही है। वह गाती है—

श्याम चरण कमल-चरण शरण हूँ तुम्हारी
तुम दयालु मैं अनाथ,
पकड़ गहो आज हाथ,
तारी तुमने अहिल्या, द्रोपदी उबारी।

मंगलाचरण के अतिरिक्त कहीं-कहीं भारत-वाक्य के भी दर्शन हो जाते हैं। 'राज-मुकुट' के अन्त में उदयसिंह का राज-तिलक होते समय बालिकाएँ नृत्य करती हुई गाती हैं:

"चिरजीवी राज रहे राजन्।
प्रजा सुखी होवे सुदेश में,
फैले कविता-कथा देश में,

सज्जन पड़ें न कभी क्लेश में,
निर्मल औ' निर्भय होवे मन।"

इस भरत-वाक्य से नाटक समाप्त होता है। संस्कृत-नाटकों के समान ही इनके नाटक स्वगत-भाषणों से भरपूर हैं। 'वरमाला' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में वैशालिनी गाती हुई आती है और लगभग डेढ़ पृष्ठ का स्वगत-भाषण कर डालती है। तीसरे दृश्य में अवीक्षित के नदी तट पर जाने पर वह स्वगत-भाषण करती है। तीसरे अंक का प्रथम दृश्य भी वैशालिनी के गाने और स्वगत से आरम्भ होता है। इस स्वगत का भद्दा रूप तो 'वरमाला' के तीसरे अंक के पृष्ठ ११ में मिलता है। वैशालिनी भाड़ी में छिपी है और अवीक्षित विस्मय से इधर-उधर देख रहा है, उसे खोजने के लिए।

वैशालिनी [स्वगत]—वही हैं, यह तो वही हैं। क्या आज तपस्या सफल हुई ?

अवीक्षित—कोई उत्तर नहीं। कौन हो तुम ? यदि इस लोक की नहीं हो, मेरी भाषा नहीं समझतीं, तो मेरे संकेत को समझो, और अपने संकेत से मुझे समझाओ कि तुम कौन हो ? प्रकट होओ देवी !

वैशालिनी [स्वगत]—नहीं अभी न प्रकट होऊँगी। किन्तु कैसे इस उमड़ती हुई आकांक्षा को दबाऊँ ?

अवीक्षित—यदि मुझसे भय करती हो, तो समझो, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। यदि पर पुरुष जानकर लज्जा करती हो, तो आड़ से ही अपना परिचय दो। कोई उत्तर नहीं देना, क्या सुन्दरी सचमुच कहीं चली गई ?

वैशालिनी [स्वगत]—अब नहीं रहा जाता। [आड़ से ही उच्च स्वर से] तुम किसे खोज रहे हो ?"

'राज-मुकुट' में स्वगत बहुत-कुछ कम हो गया है, तो भी एक-दो स्थलों पर वह अपने अस्वाभाविक और भद्दे रूप में ही आया है।

"रणजीत—मैं जयसिंह को मंत्री पद देने के बिलकुल ही विरुद्ध हूँ, क्योंकि उनकी संवेदना महाराना बनवीर के साथ अब कुछ भी नहीं। उन्हें यह आसन न दिया जाना चाहिए, वह स्वयं भी इसे न लेंगे।

शीतल सेनी—उनके न लेने पर अवश्य ही यह किसी दूसरे अधिकारी का हो।

रणजीत [स्वगत]—वह अधिकारी श्रीमान् रणजीत हैं।"

'अंगूर की बेटी' में स्वगत की यह प्रवृत्ति प्रायः लुप्त हो गई है। पूरे नाटक में एक दो स्वगत ही हैं। 'अंतःपुर का छिद्र' में स्वगत के रोग का

और फिर जोर पकड़ता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि इसमें ऐसे स्वगत नहीं हैं कि प्रतिपक्षी के सम्मुख ही स्वगत के द्वारा प्रकट न करने वाले विचार प्रकट कर दिये जायं, जैसे 'वरमाला' और 'राजमुकुट' में। तो भी स्वगतों की कम भरमार इसमें नहीं। प्रथम अङ्क का प्रथम दृश्य पद्मावती, दूसरा मागंधिनी, दूसरे अङ्क का पहला दृश्य उदयन, दूसरा सम्पूर्ण दृश्य पद्मावती, तीसरे अङ्क का पहला दृश्य मागंधिनी, दूसरा पद्मावती, तीसरा उदयन तथा चौथा पद्मावती के स्वगत-भाषण से आरम्भ होता है। इस नाटक में कुल ९ दृश्य हैं, जिनमें ८ दृश्यों का आरम्भ स्वगत से ही होता है। यह नाटक पन्त की काफी प्रौढ़ अवस्था का है, फिर भी स्वगत की अस्वाभाविकता उनकी समझ में न आ सकी।

कार्य-व्यापार और नाटकीय आकस्मिकता उत्पन्न करके पंतजी दर्शकों को रोमांचित करने की विलक्षण शक्ति रखते हैं। नाटकों की कथा-वस्तु सीधी-सादी सरल गति से चलते हुए भी अत्यन्त तीव्र होती है। इनके कथानकों में उलझन भरी घटनाएं नहीं होतीं, तो भी विस्मयजनक अप्रत्याशित घटनाएं उत्पन्न करके पंतजी बहुत ही गहरा प्रभाव दर्शकों या पाठकों पर डालते हैं। नाटकीय घटनाओं की परख और पकड़ करने में पंतजी ने अपने प्रत्येक नाटक में प्रशंसनीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

'वरमाला' के प्रथम अंक का दूसरा दृश्य दर्शकों को आश्चर्य में डाल देता है। सहसा अवीक्षित द्वारा वैशालिनी का हरण। तीसरा दृश्य तो कार्य-व्यापार कौतूहल और आकस्मिकता में अभूतपूर्व है। नदी-तट पर नक्र द्वारा अवीक्षित को निगलने की चेष्टा और क्षिप्रता से वैशालिनी द्वारा उसका वध नाटकीय रोमांच की सृष्टि करता है। अवीक्षित के लौटने पर कुछ वार्तालाप के बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि वैशालिनी अपनी छाती में कटार भोंकने को उद्यत होती है, अवीक्षित रोकने के लिए आगे बढ़ता है और अचानक अवीक्षित को एक तीर आकर लगता है। इसके बाद ही क्षिप्रता से कई तीर अवीक्षित को लगते हैं। वह घायल होकर गिर जाता है। वह समस्त दृश्य विस्मय, भय, आशा-निराशा से सामाजिकों का हृदय भर देता है। यह समस्त दृश्य कार्य-व्यापार की दृष्टि से अद्वितीय है।

तीसरे अंक का तीसरा दृश्य भी इसी प्रकार की रोमांचकारी घटनावली से पूर्ण है। राक्षस का वैशालिनी की ओर बढ़ना और ठीक अवसर पर अवीक्षित के तीर से आहत होकर धराशायी होना भयाकुल धड़कन और सफलता की शान्ति से पूर्ण है।

'राजमुकुट' के प्रथम अंक का प्रथम दृश्य भी इसी प्रकार कार्य-व्यापार और नाटकीय कौतूहल से पूर्ण है। विक्रम की सभा में सहसा प्रजाजनों का प्रवेश रंग में भंग कर देता है। कर्मचन्द का प्रवेश, विक्रम द्वारा उस पर वार; क्षिप्रता से जयसिंह का विक्रम पर आक्रमण और तुरन्त बनवीर का अपनी तलवार पर उसका वार रोकना—यह सब नाटक के उपयुक्त वातावरण और कार्य-व्यापार को उपस्थित करता है। दूसरे और तीसरे अंक का पाँचवाँ दृश्य भी बहुत सबल है। 'अङ्गूर की बेटी' में कार्य-व्यापार 'राजमुकुट'-जैसा भले ही न हो, पर उसकी कथा या घटनाएं शिथिल नहीं हैं। उनमें भी स्फूर्ति है और नाटककार ने उनमें काफी गतिशीलता भर दी है। बनवारी बाबा का नाचते-गाते प्रवेश, प्रतिमा का नृत्य-चंचल चाल और संगीत-विह्वल वाणी से प्रकट होना, दूसरे अंक के दूसरे दृश्य के अन्त में माधव और मोहन का संघर्ष—मोहनदास माधव की जेब से पिस्तौल निकालता है। माधव पर निशाना लगाता है। माधव उसके हाथ को घुमाता है। मोहनदास के सिर पर कुर्सी मारता है। पिस्तौल छूटता है। पुलिस आती है। कार्य-व्यापार में इससे बहुत अधिक गति आ जाती है। 'अन्तःपुर का छिद्र' में घटनाओं में अधिक कार्य-व्यापार नहीं, पर चरित्रों में अवश्य है। उसमें अधिक उछल-कूद की आवश्यकता भी नहीं। वह चरित्र-प्रधान नाटक होने से मानसिक कार्य-व्यापार उसमें काफी है।

पंतजी अपने नाटकों में रहस्य-ग्रन्थि भी रखते हैं। यह कथानक, पात्र तथा चरित्र सभी में होती है। इससे कथा में दर्शक आकर्षक बना रहता है, पात्रों में जिज्ञासा रहती है और चरित्रों के प्रति कौतूहल जागृत रहता है। यह कभी तो पात्रों के बीच रहता है और कभी पात्रों और सामाजिकों के बीच। इस 'रहस्य-सृजन' का पन्तजी ने अपने सभी नाटकों उपयोग किया है। यह रहस्य 'वरमाला' के तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में है। वैशालिनी और अवीक्षित परस्पर एक दूसरे को नहीं पहचानते। सामाजिक उन्हें पहचानते हैं। अन्त में दोनों एक-दूसरे को जान जाते हैं। 'राज-मुकुट' में उदयसिंह को भी सामाजिक तो पहचानते हैं—पर नाटक के अन्य पात्र नहीं पहचानते। यह रहस्य-ग्रन्थि 'अंगूर की बेटी' में सबसे अच्छे रूप में आई है। विनोद-चन्द्र को विनायक और मोहनदास नहीं पहचान पाते। पाठक और दर्शक भी भ्रम में पड़ सकते हैं, यदि उसका रूप (मेकप) सफलतापूर्वक भरा जाय। रहस्य खुलने पर निश्चय ही दर्शक आनन्द-चंचल हो तालियाँ बजायंगे।

'अन्तःपुर का छिद्र' में यह रहस्य-ग्रन्थि घटना के रूप में आई है। हस्ती-स्कन्ध वीणा में सर्प रखती है मागंधिनी, पर वह इसका दोष मढ़ती है पद्मावती के सिर। उदयन भी पद्मावती को ही दोषी समझता है। यह रहस्य दर्शकों और पात्रों के बीच नहीं, पात्रों के बीच है। उदयन के लिए है। अन्त में मालिन के द्वारा सूचना दिये जाने पर रहस्योद्घाटन हो जाता है। इसी प्रकार की रहस्य-ग्रंथियाँ नाटकीय कला की अनिवार्य तत्त्व हैं। यह तत्त्व पंतजी के नाटकों में पर्याप्त मात्रा में है।

पात्रों का चरित्र-विकास नाटक का सबसे आवश्यक तत्त्व है। यहाँ चरित्र-विकास की आलोचना न करके, चरित्र-चित्रण की शैली या उसकी कला पर ही विचार हो सकता है। चरित्र-प्रकाशन का ढंग भी लेखक का अपना होता है। चरित्र-चित्रण कई प्रकार से किया जा सकता है—अन्य पात्रों के द्वारा, क्रिया या कर्म के द्वारा, घटना के द्वारा और स्वगत के द्वारा। पंत जी ने स्वगत की ही शैली अपनाई है। इनके नाटकों के प्रायः सभी पात्र अपने दुःख और दुविधा, घृणा और प्रेम, राग और विरक्ति, विनाशकारी और उपकारी गुणों का प्रकाशन प्रायः स्वगत के द्वारा ही करते हैं। यह शैली चरित्र-चित्रण की श्रेष्ठ शैली नहीं कहलाती। कर्म या अन्य पात्रों द्वारा चरित्र-चित्रण श्रेष्ठ होता है, इस ढंग को पंतजी ने अपने नाटकों में बहुत कम अपनाया है। 'वरमाला' में अवीक्षित और वैशालिनी दोनों ही अपने मन की स्थिति प्रायः स्वगतों के द्वारा ही रखते हैं। 'राज-मुकुट' में शीतल रानी एक अंगार-भरा चरित्र है। वह भी स्वगत के द्वारा ही अपने को प्रकट करती है—

"संग्रामसिंह का वंश मिटा दिया—किसने बनवीर ने। बनवीर किसका साधन है? मेरा। मुझे यह कौन नचा रही है? मेरे मनोराज्य में रहने वाली आकांक्षा! आकांक्षा, तेरी तृप्ति न होगी क्या?"

'अन्तःपुर का छिद्र' में पद्मावती की अमिताभ के प्रति भक्ति और मागंधिनी की ईर्ष्या स्वतः ही प्रकट है।

पंत जी की नाट्य-कला पर, जैसा कि कहा गया है, पारसी-रंगमंच का प्रभाव भी है। फिल्मी-प्रभाव भी लक्षित होता है। 'वरमाला' के तीसरे अंक के प्रथम दृश्य के तीनों उपदृश्य फिल्मी-कला के द्योतक हैं। स्वप्न रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता, फिल्म में बड़ी सरलता से दिखाया जा सकता है।

'राजमुकुट' में बारह गाने हैं। गानों की यह भरमार पारसी-स्टेज की ही देन है।

पहले अंक, दूसरे दृश्य में शीतलसेनी का गाना—

"अपमान की आग
मेरे मन में जाग री जाग"

बाल खुले, बे-सुध-बे-सुध पन्ना का अपने पुत्र का शव लेकर गाते हुए आना—

"तुम जागो लाल निशा बीती
तुम जीवन दे जीते रण को
मैं विष के घूंट पिये जीती।"

विजय-गर्विता शीतलसेनी गाती हुई आती है—

"तू नाच मधुर मति से
प्रति हिंसे, हे रक्त-रंगिनी
चपले चंचल पग से यति से।"

आदि पारसी-रंगमंच का ही प्रेम है। पारसी-रंगमंच पर मरण, युद्ध, रसोई, हाथापाई, सड़क, जंगल—सभी जगह जो गानों की अस्वाभाविक भरमार की, वही 'राजमुकुट' में प्रकट होती है। बच्चे की लाश गोद में है और गलेबाजी हो रही है।

पंतजी के नाटकों में उद्देश्य की दृष्टि से ईश्वरीय न्याय (Poetic justice) की प्रतिष्ठा भी मिलती है। इसलिए उनके नाटक सुखान्त हैं। 'वरमाला' में अवीक्षित-वैशालिनी-मिलन, 'राजमुकुट' में बनवीर की पराजय और उदयसिंह का राज्यारोहण, 'अंगूर की बेटी' में माधव का नदी में गिर कर मरना और मोहनदास-कामिनी और विनायक-विन्दु-मिलन, 'अन्तः पुर का छिद्र' में मागंधिनी की मृत्यु और उदयन-पद्मा का पुनः प्रेम-सम्बन्ध, 'सिन्दूर बिन्दी' कुमार-विजया का पुनर्मिलन आदि नाटकों को सुखांत बना देते हैं और ईश्वरीय न्याय का प्रमाण भी दे देते हैं।

पंतजी के नाटकों की भाषा सरल, सुबोध गतिशील भावपूर्ण और अवसरोचित है। संवाद प्रायः संक्षिप्त हैं। पूरे नाटक में एक-दो स्थल ही ऐसे आये हैं, जहाँ संवाद लम्बे हो गए हैं, शेष सभी स्थलों पर स्फूर्तिमय और छोटे-छोटे वाक्यों में संक्षिप्त संवाद है। 'अंगूर की बेटी' में एक-दो स्थलों पर अंग्रेजी वाक्यों का भी प्रयोग है। नाटकीय निर्देश भी बहुत समझदारी और चरित्र तथा अभिनय को ध्यान में रखकर दिये गए हैं।

भाषा और चरित्रों पर कहीं-कहीं रोमांटिक प्रभाव भी लक्षित होता है। 'वरमाला' में वैशालिनी और अवीक्षित और 'अन्तःपुर का छिद्र' में पद्मावती के चरित्र और संवाद दोनों ही रोमांटिक प्रभाव से युक्त हैं।

अभिनेयता

पंतजी के प्रायः सभी नाटक बड़ी सफलता से अभिनीत किये जा सकते हैं। अभिनय की दृष्टि से यदि विचार करें तो सम्भवतः आपके नाटक हिन्दी के अन्य सभी नाटकों से अधिक अभिनय-गुण-सम्पन्न हैं। रंगमंच का आपके नाटकों में पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है—यद्यपि एक-दो स्थलों पर अभिनय असम्भव भी है, वे स्थल नाटकीय कला से पूर्ण न होकर फिल्मी प्रभाव से अधिक प्रेरित हैं।

वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी, अन्तःपुर का छिद्र आदि सभी नाटकों में तीन-तीन अंक हैं। आकार में भी वे अभिनयोचित हैं। पंतजी के किसी भी नाटक के अभिनय में ढाई घण्टे से अधिक समय नहीं लग सकता। नाटकों का दृश्य-विधान भी पंतजी की अभिनय-कला-सम्पन्न प्रतिभा का परिचय देता है। बहुत कम स्थल ऐसे मिलेंगे, जहाँ दृश्य-निर्माण में कठिनता उपस्थित हो। 'वरमाला' का दृश्य-विधान बड़ा सरल है। दो दृश्य लगातार साथ-साथ ऐसे नहीं आये, जिनके बनाने में बहुत-सा समय लगे या जो इतना स्थान घेर लें कि तीसरा दृश्य बनाने में कठिनता उपस्थित हो। पहले अंक का पहला दृश्य है वाटिका का, जिसमें वैशालिनी और अवीक्षित—दोनों का परिचय करा दिया गया है। दूसरा दृश्य है स्वयंवर-मण्डप का, जिसमें अवीक्षित शीघ्रता से वैशालिनी का हरण करता है। इस दृश्य में केवल कार्य-व्यापार है। तीसरा दृश्य है वन का, और चौथा राज-प्रासाद का। मण्डप और राज-प्रासाद के बीच में वन का दृश्य डालकर दोनों के बनाने का समय मिल जाता है।

'राजमुकुट' में प्रथम अङ्क का प्रथम दृश्य है—महाराणा विक्रम का विलास-भवन, दूसरा बनवीर का महल, तीसरा चित्तौड़ का मंदिर, चौथा बनवीर का महल। पहले दृश्य को ही कुछ परिवर्तित करके दूसरा बनाया जा सकता है और तीसरा दृश्य इनके पीछे के पर्दे में बनाया जा सकता है। दूसरे दृश्य का पर्दा गिराकर सामान हटाने में दो मिनट से अधिक नहीं लगेंगे।

'राजमुकुट' में दो विशाल दृश्यों के बीच में समय का अन्तर रखा गया है। दूसरे अङ्क का अन्तिम दृश्य गुफा में काली के मंदिर का है और

तीसरे अङ्क का प्रथम दृश्य कमल मीर का दरबार। दोनों ही दृश्य आगे-पीछे हैं और वातावरण की दृष्टि से बड़े भी। पर अंक परिवर्तन के कारण इनके निर्माण के लिए काफी समय मिल जाता है।

'अंगूर की बेटी' में तो कोई कठिनाई उपस्थित ही नहीं हो सकती। सभी दृश्य साधारण और सरल हैं। होटल का कमरा, मैनेजर का आफिस, बैठक, पार्क आदि के दृश्य इसमें हैं। अधिकतर दृश्य चार-पाँच कुर्सियाँ और एक मेज डालकर बनाये जा सकते हैं।

'अन्त:पुर का छिद्र' अभिनय की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जा सकता है। इसका दृश्य-विधान पंतजी के सभी नाटकों से सरल है। पहले अंक का पहला दृश्य है—महारानी पद्मावती का सुसज्जित कक्ष, दूसरा-उदयन के महल का प्रांगण पहला दृश्य दूसरे पर्दे के पीछे बनाया जायगा और वह समाप्त होते ही पर्दा गिराकर उसके आगे मागंधिनी गाते हुए प्रवेश करेगी। दूसरा दृश्य उपस्थित हो जायगा। दूसरा अंक; प्रथम दृश्य—उदयन का विलास-भवन, दूसरा—पद्मावती का कक्ष, तीसरा—पद्मावती के कक्ष का बाहरी भाग। पहले कुछ परिवर्तन करके शीघ्र दूसरा बनाया जा सकता है। तीसरे में कुछ भी करना नहीं है। तीसरा अंक; पहला दृश्य—राज-भवन के पास का उद्यान, दूसरा राज-भवन का बाह्य देश, तीसरा—उदयन का विलास-भवन, चौथा—पद्मावती का कक्ष सभी दृश्य अत्यन्त सरल हैं।

सभी नाटकों की दृश्यावली निर्माण और अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सरल और नाटकोचित होते हुए भी कहीं-कहीं फिल्मी ढङ्ग के दृश्य भी पन्त जी ने रच डाले हैं। 'वरमाला' के तीसरे अङ्क के प्रथम दृश्य में तीन उपदृश्य दिये गए हैं। ये तीनों दृश्य स्वप्नावस्था के हैं। इनमें वैशालिनी और अवीक्षित सशरीर उपस्थित होकर वार्तालाप करते हैं। अन्त में निराश होकर वैशालिनी आत्म-हत्या करना चाहती है, अवीक्षित उसे रोकता है। अन्त में एक राक्षस आता है। वैशालिनी जागती है।

फिल्म में तो ये उपदृश्य दिखाए जा सकते हैं, पर नाटक में इनका दिखाया जाना असम्भव है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तो ये बड़े उपयोगी हैं, नाटकीय या अभिनय की दृष्टि से असम्भव।

इसी प्रकार 'अंगूर की बेटी' के दूसरे अङ्क का सातवाँ दृश्य भी असंभव है। निर्जन वन में एक सड़क जो एक नदी के ऊपर बने पुल से होकर जाती है। पुल टूटा है। सड़क का रास्ता एक लट्ठे से रोक दिया गया है। एक

लालटेन भी टँगी है। एक गधा आकर लट्ठे से कमर रगड़ता है। लालटेन बुझ जाती है। माधव और प्रतिमा मोटर पर चढ़े आते हैं और मोटर लट्ठे को तोड़कर पुल के नीचे नदी में गिर जाती है—यह दृश्य इतना विस्तृत और विशाल है कि इसका निर्माण असम्भव है। साथ ही रंगमंच पर सड़क-नदी पुल दिखाना और मोटर दौड़ते आना और उसका नदी में गिरना क्या किसी भी अवस्था में दिखाया जा सकता है? इन एक दो त्रुटियों को छोड़कर शेष दृश्य-विधान अभिनयोपयुक्त है।

आकस्मिकता भी अभिनय के लिए एक अनिवार्य तत्व है। अकस्मात् या अप्रत्याशित किसी घटना का होना अभिनय में जान डाल देता है। दर्शकों में एक विलक्षण कौतूहल की सृष्टि करता है। पन्त जी के नाटकों में आकस्मिकता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं। 'वरमाला' के प्रथम अङ्क का दूसरा दृश्य दर्शकों को आश्चर्य-चकित कर देता है, जब अवीक्षित सहसा वैशालिनी का हरण करके ले जाता है। इसी अङ्क के तीसरे दृश्य में नेपथ्य में अवीक्षित का नाके द्वारा पकड़ा जाना और वैशालिनी द्वारा शीघ्रता से उसका वध करना भी नाटकीकता से पूर्ण घटना है। इसी दृश्य में आगे शत्रु-सेना का आक्रमण भी सामाजिकों के हृदय की धड़कन को बढ़ा देता है।

तीसरे अङ्क का तीसरा दृश्य भी कौतूहल, आकस्मिकता, अकस्मात् और अनाशंकितता का प्रौढ़ उदाहरण है। वैशालिनी को एक राक्षस पकड़ना चाहता है। सामाजिक धड़कते हृदय से यह सब देखते हैं। वह आगे बढ़ता जाता है, दर्शकों की हृदय-धड़कन भी बढ़ती जाती है। और ज्यों ही वह वैशालिनी को आलिंगन करने के लिए आगे बढ़ता है, अवीक्षित का तीर उसका काम तमाम कर देता है। निश्चय ही इस समय दर्शक उल्लास से उछल पड़ते हैं और उनके आनन्द के सागर में बाढ़ आ जाती है।

'राज-मुकुट' का तो प्रथम दृश्य ही नाटकीयता से पूर्ण है। पर्दा खुलते ही प्रथम दृश्य कार्य-व्यापार और अप्रत्याशित घटनाओं से पूर्ण है। विक्रम मदिरा-पान में मस्त है। नेपथ्य में रक्षा-रक्षा की पुकार होती है। एक दुःखिनी का प्रवेश, उसे धक्के देकर बाहर निकालना और प्रजाजनों का दरबार में घुस आना। तलवारें निकल आती हैं। जयसिंह का आकर अपने पिता की रक्षा के लिए विक्रम पर वार करना और शीघ्रता से बनवीर का आकर उसका वार अपनी तलवार पर रोकना—पूरा दृश्य रोमांचकारी है। दर्शक सहमी-सहमी धड़कन से देखते रहते हैं। दूसरे अंक के तीसरे दृश्य का अन्तिम भाग भी रोमांच कर देने वाला है। इसी अंक का पांचवाँ

दृश्य भी अपूर्व है। बहादुरसिंह उदयसिंह की बलि देना चाहता है और उसी का दिया तावीज उदय के प्राण बचाता है।

'अंगूर की बेटी' में भी यह नाटकीय तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। पहले अङ्क का तीसरा दृश्य रंगमंच की दृष्टि से बहुत अच्छा है। रायल होटल में माधव का कमरा—माधव प्रतिभा का परिचय मोहनदास और बिन्दु से कराता है। प्रतिभा को एक पर्दे के पीछे छिपा रखता है और एक-दो-तीन कहकर ताली बजाते हुए पर्दे की डोरी पैर से खींचता है। पर्दा हटता है, प्रतिभा नाचती-गाती सामने आती है। दर्शकों के लिए, ऐसे दृश्य अत्यन्त आकर्षण के कारण होते हैं। दूसरे अंक का दूसरा दृश्य भी अत्यन्त रोमांच-कारी और कौतूहल-वर्धक है। मोहनदास और माधव में हाथापाई होती है, पिस्तौल तन जाता है। नाटकीय दृष्टि से यह दृश्य भी बहुत तीव्र गतिवान और कार्य-व्यापार पूर्ण है।

'अन्तःपुर का छिद्र' में नाटकीय तत्त्व की कमी नहीं। आकस्मिकता, कौतूहल, अप्रत्याशित घटनाओं का इसमें पर्याप्त समावेश है। उदयन का वीणा बजाना और पद्मावती का नृत्य-चंचल चरणों से दर्शकों के सामने आना, मागंधिनी द्वारा वीणा में सर्प रखना, सर्प का बाहर आकर उदयन द्वारा बजाई जाती वीणा सुनना, मागंधिनी का सर्प द्वारा काटा जाना, अमिताभ का सहसा उदयन का त्राण लिये प्रविष्ट होना नाटकीय घटनाएं हैं।

कौतूहल का सृजन और उसकी शांति भी अभिनय के लिए आवश्यक है। पन्तजी कौतूहल उत्पन्न करने में पटु हैं। कौतूहल जनक गाँठ कथानक या चरित्रों में लगाना और अन्त में उसे खोलना, अभिनय में चार चाँद लगा देता है। इनके सभी नाटकों में कौतूहलपरक ऐसी ग्रन्थियाँ मिलेंगी। 'राज-मुकुट' में उदयसिंह बहुत समय तक पन्ना का लड़का चन्दन बना रहता है। 'अंगूर की बेटी' में पात्रों में यह भूल बहुत ही कौतूहलवर्धक है। कामिनी की जलकर मृत्यु हो गई, ऐसा समझ लिया जाता है। बिन्दु का प्रेम विनोद से हो गया है, यह भ्रम विनायक को बिन्दु से नाराज रखता है। अन्त में भेद खुलता है कि विनोद और कामिनी एक ही हैं, तो विलक्षण अद्भुत रस की अनुभूति होती है—कौतूहल की शांति हो जाती है। 'अंतःपुर का छिद्र' में मागंधिनी की मृत्यु से मालूम होता है कि सर्प उसी ने रखा था वीणा में तो उदयन का भ्रम दूर हो जाता है। 'वरमाला' के अन्त में भी वैशालिनी का अवीक्षित पहचान लेता है। ऐसे नाटकीय रहस्य पन्त जी के प्रायः सभी नाटकों में हैं।

पात्रों की कम संख्या होना या पात्रों की भीड़ न होना भी अभिनय में बड़ा सहायक होता है। इस दृष्टि से भी पन्तजी के सभी नाटक अभिनय के उपयुक्त ठहरते हैं। 'वरमाला' में ४-५, राजमुकुट में कुल छोटे-बड़े १६-१७ 'अंगूर की बेटी' में ६-१०, 'अन्तपुर का छिद्र' में ५ पात्र हैं। 'राजमुकुट' में अधिक पात्र हैं, पर प्रमुख उनमें भी १०-१२ से अधिक नहीं।

चरित्र की स्वाभाविकता और उत्थान-पतन भी अभिनय में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। यद्यपि पन्तजी के नाटकों में चरित्रों में 'प्रसाद' और 'प्रेमी' के चरित्रों के समान बेबसी, आकुलता, शक्ति और गहनता नहीं और न लक्ष्मीनारायण मिश्र के चरित्रों-जैसा व्यक्ति-वैचित्र्य है, तो भी अभिनय के लिए उनमें काफी जान है। 'राज-मुकुट' के सभी चरित्र प्राणवान और जीवित हैं। 'अन्त:पुर का छिद्र' में मागंधिनी में भी नारी-द्वेष का बहुत विकास देखा जा सकता है। 'वरमाला' में वैशालिनी और अवीक्षित के चरित्रों में नाटकीय परिवर्तन मिलता है।

पन्त जी की भाषा भी अभिनय के अत्यन्त उपयुक्त है। भाषा सरल, सुबोध भावुकता भरी सशक्त और पात्रोचित है। पन्तजी के सम्वादों की सबसे बड़ी विशेषता है—उनकी संक्षिप्तता और गतिशीलता। संवादों का छोटा होना अभिनय के लिए बहुत बड़ा गुण समझा जाना चाहिए। 'अन्तःपुर का छिद्र' से एक उदाहरण देना उचित होगा—

"उदयन (साश्चर्य)—रहस्य और विष ?

मागंधिनी—हाँ, बल्कि दोनों मिलकर विषाक्त रहस्य।

उदयन (मागंधिनी की ओर बढ़कर)—कहाँ ?

मांगधिनी—राजरानी पद्मावती के कक्ष में

उदयन—तुमने अपनी आँखों से देखा।

मांगधिनी—हाँ, मैं उसे सूर्य के आलोक में दिखा भी सकती हूँ।

उदयन—मुझे भी

मांगधिनी—हाँ महाराज केवल आप ही को तो, नित्य सन्ध्या-समय।

उदयन—मेरा धैर्य छूट गया है। आज ही दिखा सकती हो ? अभी समझा सकती हो ?"

हर एक नाटक में एक-दो स्थलों को छोड़कर, सभी अवसरों पर संवाद संक्षिप्त और उपयुक्त हैं। अभिनेयता का पन्तजी ने इतना ध्यान रखा है कि, उनके नाटकों पर पारसी-रंगमंच का प्रभाव भी पड़ा है। पन्त जी में

नाटकीय घटना की पकड़ की अपूर्व प्रतिभा है, कौतूहल जगाने की अनुपम क्षमता है और रोमांचकारी वातावरण को उपस्थित करने की कला है। घटनाओं को गतिशीलता देने की शक्ति है—अभिनय-कला की उन्हें खूब परख है। अभिनय की दृष्टि से उनके सभी नाटक सफल हैं।

: ४ :

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

'प्रेमी' का साहित्यिक और भौतिक व्यक्तित्व अत्यन्त भोला, मधुर, आकर्षक और स्वच्छ है। उसके व्यक्तित्व में मूर्तिमान कवि का दर्शन होता है। प्रेमी ने व्यक्ति और कलाकार, दोनों के रूप में विश्व को प्यार किया है— उससे मिलने वाले कटु-मधु रस के घूँट वह भावुकता-भरी पुतलियों और मुसकाते ओठों से पी गया है। प्रेमी के कवि की नाड़ियों में प्रेम की मधुर वेदना की कम्पन बजती है, उसके हृदय में मानवता की धड़कन बोलती है। कवि के रूप में—एक मुग्ध-मन शिशु के समान समस्त सृष्टि के फूल-पत्तों को आकुल होकर चूम लेने के लिए—वह साहित्य में आया। उसके नाटकों में उसका भोला कवि जहाँ-तहाँ झाँकता मिलेगा। पर कहीं भी अनधिकार आतंक स्थापित नहीं करता।

प्रेमी ने जीवन की जलती चट्टान पर बैठकर समाज की उपेक्षा की लपटों में खेलते हुए अभावों का विष भी पिया है—बेबसी की वेदना का गरल भी वह पचा गया है और प्यार की मदिरा भी उसने पी है—ममता के पालने में भी वह झूलता रहा है। इन्हीं विपरीतताओं और विषमताओं के सम्मिलन से ही 'प्रेमी' के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। गरल पीकर वह और भी अमर हुआ है—अभावों ने उसे और शक्तिशाली बनाया है।

पत्रकार के रूप में प्रेमी ने साहित्य-जगत् में आँखें खोलीं, कवि के रूप में वह किशोर हुआ और नाटककार के रूप में उसमें जवानी आई। कवि के रूप में 'आँखों में', 'अनन्त के पथ पर', 'प्रतिमा', 'अग्नि-गान', 'रूप-दर्शन' 'वन्दना के बोल' आदि प्रेमी की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। नाटककार के रूप में उसने एक दर्जन नाटक लिखे हैं। एक ओर तो उसके स्वरों में प्यास की छटपटाहट है और तृप्ति का सन्तोष है और दूसरी ओर उसकी वाणी के एक-एक कम्पन में चिनगारियाँ हैं—उसके स्वर-स्वर में विश्व के अशिव, असंगत

और असुन्दर को राख कर देने के लिए बेताबी से लपलपाती ज्वाला की लपटें हैं।

गांधी-युग के साहित्य में 'प्रेमी' की रचनाओं को विशिष्ट स्थान है। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को इतिहास-सम्मत साहित्यिक प्रेरणा देने में 'प्रेमी' के नाटकों का कार्य किसी भी राष्ट्रीय नेता से कम नहीं। साहित्य की वाणी कभी मूक नहीं होती, नेताओं की भौतिक वाणी मूक हो जाती है। भारतीय राष्ट्रीय एकता और सबलता के लिए हमें 'प्रेमी' के नाटक सदा मार्ग दिखाते रहेंगे।

रचनाओं का काल-क्रम

स्वर्ण-विहान	·······
पाताल-विजय	······
रक्षा-बन्धन	१९३४
शिवा-साधना	१९३७
प्रतिशोध	१९३७
आहुति	१९४०
स्वप्न-भंग	१९४०
छाया	१९४१
बन्धन	१९४१
मंदिर (एकांकी)	१९४२
मित्र	१९४५
विष-पान	१९४५
उद्धार	१९४६
शपथ	१९५१

प्रेरणा की पृष्ठभूमि

जब 'प्रेमी' की लेखनी कला-सृजन के लिए सजग हुई तब भारतीय महान् राष्ट्र दासता की शृङ्खला तोड़ने के लिए संघर्ष कर रहा था। उसकी कल्पना ने ज्यों ही जीवन के रंग पहचानने की चेष्टा की, उसने देखा देश के दीवाने सिर पर कफन बाँधकर खून की रंगीनी से राष्ट्र के आँगन में बलिदान के महान् यज्ञ के लिए चौक पूर रहे हैं। देश का आकाश राष्ट्रीय आन्दोलन के उमंग-भरे कोलाहल से गूँज रहा है। गाँधी जी के नेतृत्व में भारत का दृढ़ा और

जवान रक्त अपने जन्म-सिद्ध अधिकार के लिए आकुल हो रहा है। अधिकार की माँग में अपने को अधिकारी प्रमाणित करने का निर्माणकारी कार्य देश को करना है—सम्मिलित संघर्ष। और हिन्दू-मुसलिम-एकता उस सम्मिलित संघर्ष की शक्ति है। जिस देश-भक्ति ने हिन्दुत्व का रूप धारण करके भारतेन्दु को प्रेरित किया; जो आर्य-सांस्कृतिक चेतना के रूप में प्रसाद की राष्ट्रीय प्रेरणा बनी, उसी राष्ट्रीय उत्थान की भावना ने 'प्रेमी' को हिन्दू-मुसलिम-एकता का चोला पहनकर प्रकाश दिखाया। पर केवल हिन्दू-मुसलिम एकता ही, 'प्रेमी' के नाटकों में नहीं, उनमें वह सब-कुछ भी है, जो राष्ट्रीय, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

एक ओर तो युग की माँग ने 'प्रेमी' को प्रेरित किया, दूसरी ओर उसके जीवन की अपनी परिस्थितियों ने भी उसको इधर मोड़ा। 'प्रेमी' का व्यक्तिगत जीवन अनेक विषम परिस्थितियों की दम घोटने वाली तंग घाटियों से होकर कभी समतल में आया है, कभी अचानक फिर बहुत नीचे ढाल पर ढुलक पड़ा है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में, जहाँ निश्चय का अवलम्ब न हो, समतल पर चलते रहने का भरोसा न हो, और न हो जीवन-यात्रा से थके मन को क्षण-भर विश्राम; वहाँ या तो मनुष्य घोर शृङ्गारिकता की शरण में आता है या आदर्शों की छाया में शान्ति पाता है। प्रेमी की अपनी परिस्थितियों ने भी उसको एक आदर्श की ओर मोड़ दिया। वह राष्ट्रीय आदर्श उसके लिए अवलम्ब बन गया। अपने जीवन की बेबसी में प्रेमी ने समस्त राष्ट्र की बेबसी और पीड़ा की झाँकी पाई। अपने को उसने सम्पूर्ण समाज का सजग, स्पष्ट और सम्पूर्ण प्रतिनिधि मानकर उन भीषण अभावों और विवशताओं, आर्थिक विषमताओं और किसी विशेष वर्ग को दी गई शोषण की रियायतों का निराकरण राष्ट्रीय स्वाधीनता में पाने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह निराकरण एक छलना ही है, तो भी प्रेमी के घायल मन को एक आदर्श का अवलम्ब मिल गया। उसी अवलम्ब को लेकर वह नाटकीय क्षेत्र में बहुत स्वस्थ लेखनी लेकर आगे बढ़े।

प्रेमी जी की नाटकीय प्रेरणा की पृष्ठभूमि है—राष्ट्रीय आदर्श : एक नैतिकता। प्रेमी जी के सभी नाटकों में सामन्ती युग, जब मुगल साम्राज्य भारत में स्थापित था, बलिदान और देश-भक्ति का संगीत बनकर बोल रहा है। ऐतिहासिक कथाओं में प्रेमी ने गांधीवादी राष्ट्रीय आदर्शों की प्राण-प्रतिष्ठा की है। गांधीवाद का प्रभाव प्रायः उनके सभी नाटकों में स्पष्ट है—यही गांधीवादी राष्ट्रीयता का आदर्श प्रेमी के नाटकों की प्रेरणा है। उसके युग

और जीवन की आकुल सजगता उसकी प्रेरणा की पृष्ठभूमि है।

इतिहास और कल्पना

'स्वर्ण-विहान', 'छाया' और 'बन्धन' को छोड़कर प्रेमी जी के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। सभी नाटकों की कथावस्तु भारतीय मुस्लिम-काल के इतिहास पर आधारित है। ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से लें तो 'मित्र', 'उद्धार', 'रक्षा-बन्धन', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग', तथा 'शिवा-साधना' की माला बनेगी। कल्पना का उपयोग करते हुए भी प्रेमीजी ने अपने नाटकों में इतिहास की मर्यादा की पूरी रक्षा की है। कलाकार के अधिकार के उपभोग के अहं में आकर उन्होंने इतिहास का न तो गला ही दबाया है, और न कल्पना के आतंक को ही इतिहास पर छाने दिया है। इतिहास के सत्य की रक्षा करते हुए प्रेमी जी ने नवीन जीवन-निर्माण का मार्ग दिखाया है और अपनी बात सफलता पूर्वक कह दी है।

यदि हम केवल विदेशियों द्वारा स्वार्थ-प्रेरित मनगढ़न्त इतिहास की गवाही में प्रेमी जी के नाटकों की परीक्षा करेंगे तो भारी भूल होगी। इतिहास केवल वह ही नहीं है, इतिहास राजस्थान की जन-वाणी में भी अपने यथार्थ रूप में बोल रहा है। जन-वाणी और ऐतिहासिक पाण्डित्य दोनों के आधार पर प्रेमी जी ने अपने नाटकों के लिए कथा-सामग्री और पात्र चुने हैं। 'रक्षा-बन्धन' की कथा—चित्तौड़ पर बहादुरशाह का आक्रमण इतिहास की आँखों देखी घटना है। कर्मवती द्वारा हुमायूँ को राखी भेजना और उसका चित्तौड़ की रक्षा के लिए पहुँचना 'टाड के राजस्थान' में भी अत्यन्त सम्मान के साथ वर्णित है। कर्मवती, जवाहरबाई, श्यामा, उदयसिंह, हुमायूँ, बहादुर शाह, विक्रमादित्य आदि सभी इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। चित्तौड़ के जौहर की कहानी जन-मन में आज भी जीवित है।

'शिवा-साधना' की सभी प्रमुख घटनाएं इतिहास के प्रकाश में चमकती हैं। अफजलखाँ का शिवाजी के द्वारा मारा जाना, पूना पर शिवाजी का आक्रमण—शाइस्ताखाँ का खिड़की के रास्ते से भागना, जयसिंह द्वारा शिवाजी को दिल्ली लाया जाना, और मिठाई के टोकरे में बैठकर शिवाजी का बचकर निकल जाना—सभी घटनाएं इतिहास के छोटे-से-छोटे विद्यार्थी की भी बाल-सखाओं के समान परिचित हैं। सिंहगढ़ की विजय के समय तानाजी मालसुरे का बलिदान आज भी महाराष्ट्र में कहावत बन गया है—"सिंह गेला, गढ़ आला।" समर्थ गुरु रामदास और माता जीजाबाई के चरित्र महा-

राष्ट्र की प्रेरणा रहे हैं। शिवाजी द्वारा की गई शासन-व्यवस्था भी इतिहास-सम्मत है। पर यदि महाकवि भूषण का सम्बन्ध भी शिवाजी से नाटक में दिखा दिया जाता तो लेखक की 'कवि-कल्पना की ऐतिहासिक देन' बड़ी महत्वपूर्ण हो जाती।

'मित्र' की प्रमुख घटना, जैसलमेर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई, भी इतिहास की सचाई है। पर रत्नसिंह द्वारा अपने पुत्र गिरिसिंह का महबूब खाँ (दिल्ली का सेनापति—रत्नसिंह का मित्र) को दिया जाना, जिससे वह सुरक्षित रहे, कहाँ तक इतिहास की बात है, कहना कठिन है। 'उद्धार' की कथा और चरित्र भी ऐतिहासिक हैं। हमीर की वीरता, चित्तौड़ का उद्धार राजस्थान के इतिहास की विख्यात घटना है।

'स्वप्न-भङ्ग' की कथा तथा चरित्र, कुछ को छोड़कर, पूर्व इतिहास-प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ, औरङ्गजेब, दारा, नादिर, जसवन्तसिंह, जयसिंह, रोशनआरा, जहाँआरा—सभी के चरित्र और व्यक्तित्व चिर-परिचित हैं। दारा और उसके पुत्र सिपर शिकोह का वध इतिहास की आँसू और वेदना में डूबी घटनाएं हैं। छत्रसाल हाड़ा का दारा की ओर से युद्ध करते हुए मरना भी प्रसिद्ध है। रोशनारा का औरङ्गजेब के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है ही। ये दोनों बहनें अपने भाइयों की प्रेरणा हैं। प्रेमी जी ने जिस इतिहास-युग को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है, वह न तो प्राचीन इतिहास के समान अलिखित और काल्पनिक ही है, और न धुँधला। मुस्लिम-काल का इतिहास अनेक लेखकों द्वारा लिखा गया है। अन्तर इतना हो सकता है कि किसी मुस्लिम शासक के किसी कार्य को एक लेखक एक रङ्ग में देखे, दूसरा अन्य रङ्ग में, पर घटनावली का जोड़-तोड़ या तोड़-मरोड़ नहीं पाया जायगा।

इतिहास की आत्मा की रक्षा करते हुए भी प्रेमी जी ने अपनी कल्पना के उपयोग का अधिकार नहीं छोड़ा। इतिहास के कठोर और नीरस बन्धन उन्होंने प्रायः तोड़ दिए हैं। बन्धन तोड़ने की तीव्रता में एक दो आघात भी यदि इतिहास को लग गए हों, तो भी असम्भव नहीं। प्रेमी जी ने रस को सबल और व्यापक बनाने के लिए ही कल्पना से काम लिया है। इसका उपयोग नवीन अनैतिहासिक पात्रों तथा घटनाओं का निर्माण करने में किया गया है। 'रक्षा-बन्धन' के धनदास, मौजीराम, चारणी, माया, शाहशेख औलिया ऐसे ही पात्र हैं। इन सभी पात्रों के चरित्रों और संवादों से इनके निर्माण का महत्व स्पष्ट हो जाता है। धनदास, मौजीराम, माया तो हास्य उत्पन्न करने के लिए और औलिया नैतिकता का उपदेश देने के लिए ही

नाटक में उपस्थित किये गए हैं। 'शिवा-साधना' की अकाबाई 'रक्षा-बन्धन' की चारणी ही है। 'मित्र' में ताण्डवी का भी यही स्थान है। हाँ, वह अधिक सशक्त होकर अवश्य आई है। 'मित्र' का महाकाल भी कल्पित पात्र है।

'शिवा-साधना' में उनकी कल्पना सम्भवतः इतिहास का अधिकार छीनने के लिए मचल पड़ी है। इसमें 'प्रेमी' ने काल्पनिक घटनाओं का भी निर्माण कर लिया है। अफज़लखाँ अपनी पत्नियों का वध करके शिवाजी से भेंट करने गया, यह घटना हमने इतिहास में नहीं पढ़ी। अफज़लखाँ अपने समय का बहुत बड़ा वीर और तलवार का खिलाड़ी था। उसने अनेक युद्ध भी जीते थे; पर वह इतना जालिम और मूर्ख भी था यह लेखक की कल्पना ही जान पड़ती है। शिवाजी के पिता शाहजी का बीजापुर के बादशाह द्वारा दीवार में चुनवाया जाना भी ऐसी ही कल्पित घटना है। शिवाजी के प्रति जेबुन्निसा का प्रेम पराजित मनोवृत्ति की तुष्टि-मात्र ही है। हमारे विचार में ऐसी दुरूह कल्पनाएं ऐतिहासिक नाटकों में उचित नहीं। 'स्वप्न-भंग' के वीणा और प्रकाश भी निर्मित पात्र हैं, पर उनसे नाटक में वृद्धि अवश्य हुई है। वे अनैतिहासिक होते हुए भी नाटकीय महत्त्व को बढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं।

देश-प्रेम का स्वरूप

'स्वप्न-भंग' की भूमिका में प्रेमी जी लिखते हैं : "मैंने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है। मेरे इन लघु यत्नों को राष्ट्रीय यज्ञ में क्या स्थान मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।"

प्रेमी जी के नाटकों में देश-प्रेम सर्वोपरि तत्त्व है। सभी नाटकों में देश-प्रेम सब भावों से अधिक सजग और गतिशील है। यह देश-प्रेम सार्वदेशिक प्रेम तो सच्चे अर्थों नहीं कहा जा सकता, पर उसका प्रतीक यह अवश्य है। हर एक नाटक की आत्मा में देश-प्रेम की धारा बलिदान के सागर की ओर बढ़ती संकल्प-जैसी सुदृढ़ गति से दौड़ती चली जा रही है। 'प्रेमी' के नाटकों की पुकार है, आततायियों—आक्रमणकारियों से अपनी जन्म-भूमि की प्राण देकर भी रक्षा करो। लगता है, जैसे अपनी जन्म-धरा के चारों ओर शत्रुओं की सेनाएं हिंसक जीभ लपलपाती हुई टिड्डी-दल के समान घिर आई हैं—शान्ति और सुख के छोटे-से धरा-खण्ड को निगलने के लिए लोलुप तूफान बढ़ा चला आ रहा है और मचान पर चढ़कर जैसे खतरे का ढोल बजाकर सबको एकत्र किया जा रहा है।

'रक्षा-बंधन' की श्यामा, जो मेवाड़ के राज-वंश से घृणा करती थी, चारणी के द्वारा प्रबोधन पाकर कहती है, "तुम सच कहती हो, देश सर्वोपरि है, सर्वश्रेष्ठ है। हमारे दुःखों की क्षुद्र सरिताएं उसके कष्ट और संकट के महा-समुद्र में डूब जानी चाहिएं।" मेवाड़ की रक्षा के लिए कर्मवती, जवाहरबाई, बाघसिंह, अर्जुनसिंह सभी तत्पर हैं—सभी बलिदान-पथ की ओर पागल परवानों के समान बढ़ते जा रहे हैं। श्यामा, माया, चारणी गाँव-गाँव में घूम-कर देश-भक्ति का अलख जगा रही हैं। मेवाड़ के कण-कण में गूंज रहा है—'जय जय जय मेवाड़ महान्।' और 'वीरो समर-भूमि में जाओ।'

और तब तक न समर-भूमि में ही कोई जा सकता है, न मेवाड़ को ही महान् बना सकता है, जब तक कि कर्मवती के इन शब्दों को न समझ ले, "जब तक हम अपने व्यक्तित्व को, सुख-दुःख और मानापमान को, देश के मानापमान में निमग्न न कर देंगे, तब तक उसके गौरव की रक्षा असम्भव है, तब तक हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हो सकते।"

'शिवा-साधना' शिवाजी की स्वाधीनता की साधना का ही मूर्त रूप है। महाराष्ट्र को वह परदेसियों की फौलादी दासता से मुक्त करता है। रामसिंह जब उसे समझाता है कि मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लो तो वह कहता है, "तुम ही कहो, देश के साथ विश्वास-घात कैसे करूंगा?" महाराष्ट्र को स्वाधीन करना ही नहीं, उसे भविष्य में भी स्वाधीन और सुरक्षित रखने की चिन्ता उसे लगी रहती है, "जब तक पुण्य-भूमि शत्रुओं के अस्तित्व से शून्य न हो जाय, तब तक स्वराज्य की सीमा का विस्तार व्यर्थ है।"

महाराष्ट्र की स्वाधीनता के लिए बाजी प्रभु, तानाजी मालसुरे तथा बाजी पासलकर-जैसे वीरों ने बलिदान दिया है। उन्होंने देश को सर्वोपरि समझा है।

'मित्र' और 'उद्धार' में भी देश के लिए हृदय में पागलपन लिये, मस्तक में मर मिटने की साध लिये, और कर्मों में बलिदान की चमक लिये अनेक पात्र मिलते हैं।

सुजानसिंह को विलासी, अयोग्य और आलसी होने के कारण उसी का पिता अजयसिंह युवराज पद से वंचित कर देता है। सुजान भी मेवाड़ के गौरव के लिए, चित्तौड़ के उद्धार के लिए हमीर को वह पद सहर्ष प्रदान कर देता है। दुर्गा और सुधीरा मेवाड़ के गाँव-गाँव में घूमकर सैनिक-प्रेरणा प्रदान करती हैं। हमीर अपनी वीरता और पौरुष से चित्तौड़ का उद्धार कर

लेता है—'उद्धार' में भी देश-भक्ति के मस्ताने और गौरवपूर्ण स्वर सुनाई दे रहे हैं—

"हर जुबाँ पर एक नारा,
है हमारा देश प्यारा।
आग की संतान, हम डरते नहीं,
जान देते हैं, मगर मरते नहीं,
इस गुलामी से सुलह करते नहीं,
हम कदम हँस-हँस बढ़ाते—
मृत्यु का पाकर इशारा।"

'उद्धार' में भी वही सन्देश है, वही प्रेरणा है, वही प्रकाश है। राजपूत इतने वीर, निर्भय, सशक्त और योद्धा होते हुए भी अपने दम्भपूर्ण वंशाभिमान और कुल-गौरव की शान में मारे गए। देश को भी उन्होंने पीछे डाल दिया। 'उद्धार' ने उनको नया जीवन-प्रकाश दिया है। हमीर कहता है, "आपको वंशाभिमान के अतिरेक ने पथ-भ्रष्ट कर दिया था, किन्तु हमें जानना चाहिए देश तो जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊँचा है। उसकी मान-रक्षा के लिए हमें समस्त का बलिदान करना चाहिए।"

देश का यथार्थ अर्थ समझाने की स्थान-स्थान पर लेखक ने चेष्टा की है। शुद्ध व्यक्तिगत पौरुष और वीरता का प्रदर्शन देश-सेवा नहीं है, जैसा कि राजपूतों ने समझ रखा था, बल्कि उसे सर्वोपरि समझकर अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का लय ही देश की सच्ची भक्ति है। यही यथार्थ देश-भक्ति जब हमारे प्राणों में जागेगी, तभी अखण्ड भारतीयता का ज्ञान हमें हो सकेगा।

प्रेमी जी की देश-भक्ति या राष्ट्रीयता का दूसरा पक्ष है—समस्त भारतीयता की भावना और इसका स्वरूप है, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य। प्रेमी ने अपनी सामंजस्य-कुशल प्रतिभा, इतिहास-सम्मत ज्ञान और मानव-हितैषी कल्पना के द्वारा साम्प्रदायिक एकता का महान् चित्रण किया है। यह प्रेमी के ही विशाल हृदय और उदार मस्तिष्क का काम है कि उसने हिन्दू-मुस्लिम-विरोध के तूफानी समुद्र में से मानव-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता, साम्प्रदायिक सहयोग और बन्धुत्व के अमर रत्न निकालकर भारतीय समाज को प्रकाश दिखाया।

चित्तौड़ का नाम ही हिन्दू-मुस्लिम-विरोध का प्रतीक समझा जाता रहा है। उसी चित्तौड़ को प्रेमी ने दोनों के प्रेम की गाँठ बना दिया। क्या यह महान् उद्भावना नहीं ? सचमुच, यह कार्य राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास में अद्वितीय है। राजनीतिक स्वार्थ को साम्राज्य-लोलुपता को,

व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को प्रेमी ने उसके नंगे रूप में रखा—उसे धर्म की चादर ओढ़कर न आने दिया। धर्म को धर्म के पवित्र आसन पर ही प्रतिष्ठित रहने दिया। छल-कपट को धर्म का रूप धारण न करने दिया। यह कार्य वास्तव में विशाल निर्माण कारी है।

'रक्षा-बन्धन' में कर्मवती—साँगा की पत्नी कर्मवती का चित्तौड़ के शत्रु बाबर के पुत्र हुमायूँ को भाई बनाना और राखी भेजना, विश्व-इतिहास में दिव्य घटना है। यह घटना ही दोनों सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए पर्याप्त है। हुमायूँ ने भी यह प्रमाणित कर दिया कि वह एक सच्चा इन्सान है। धार्मिक एकता या सहिष्णुता के लिए पारस्परिक सहयोग और मानवता का प्रदर्शन जादू के समान है। शरणागत को शरण देना, भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ही नहीं मानवता का महान् आदर्श भी है। विक्रमादित्य मेवाड़ में चाँदखाँ को शरण देता है और यही बहाना बहादुर-शाह को मेवाड़ पर आक्रमण करने का मिल जाता है।

एकता के लिए धर्म की सहिष्णुता आवश्यक है। हुमायूँ अपने सेनापति से कहता है, "हिन्दुओं के अवतारों ने और तुम्हारे पैगम्बर ने एक ही रास्ता दिखाया है। कुरान शरीफ में साफ लिखा है कि हमने हर गिरोह के लिए इबादत का एक खास रास्ता मुकर्रर कर दिया है, जिस पर वह अमल करता है, इसलिए इस पर झगड़ा न करो।" शाह शेख औलिया भी बहादुरशाह को समय-समय पर धर्म का वास्तविक प्रकाश दिखाता रहता है। वह भी दोनों धर्मों का समान सम्मान करने का उपदेश देता है।

चित्तौड़ से अधिक शिवाजी का नाम मुसलमानों को भड़काने वाला है। दुर्भाग्य से ऐसे चरित्रों को स्वार्थियों ने साम्प्रदायिक रंग में भी खूब रंगा है। ऐसे नायक को लेकर नाटक लिखना और धार्मिक कट्टरता, विद्वेष और विरोध को बचा जाना ही एक बहुत बड़ी सफलता समझी जानी चाहिए, साम्प्रदायिक सद्भावना की प्रतिष्ठा करना तो और भी दुरूह कार्य है। फिर भी प्रेमी जी की कलम ने दृढ़ता से अपनी बात की आन रखी और कहीं भी साम्प्रदायिक गंध नाटक में न आने दी। शिवाजी को इतिहास का महान् इन्सान चित्रित किया—साम्प्रदायिक द्वेष से अछूता। ऐसे निर्मल और चमकीले चरित्रों को पाकर ही हम आँधी-तूफान से भरी धार्मिक कट्टरता की काली रात में प्रकाश मिल सकता है। किसी भी मुस्लिम नारी के सम्मान का रोम भी शिवाजी के राज में कोई नहीं छू पाया। जब भी कुरान शरीफ हाथ लगी, उसे आदर पूर्वक किसी मुसलमान के पास पहुँचा दिया गया। किसी ने भी

मसजिद की एक ईंट तक भी न हिलाई।

शिवाजी अपनी साधना के विषय में कहता है, "किन्तु स्वराज्य यदि हिन्दुओं तक ही सीमित रह गया, तो मेरी साधना अधूरी रह जायगी। मैं बीजापुर और दिल्ली की बादशाहत की जड़ उखाड़ फेंकना चाहता हूँ, वह इसलिए नहीं कि वे मुस्लिम राज्य हैं, बल्कि इसलिए कि वे आततायी हैं, एकतंत्र हैं, लोकमत को कुचलकर चलने वाले हैं।" शिवाजी एक अन्य स्थान पर कहता है, "सर्व साधारण की स्वतंत्रता की साधना करने वाले के हृदय में धार्मिक असहिष्णुता क्यों ?"

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए 'स्वप्न-भंग' में दारा की मृत्यु महान् बलिदान है। 'स्वप्न-भंग' में आदि से अंत तक शैतान और खुदा का युद्ध है—मानवता और दानवता का संघर्ष है और भारत के भविष्य के लिए यह अभिशाप कितना घातक है कि दारा का स्वप्न पूरा न हो सका। दारा का चरित्र एक दिव्य आलोक-जगमग मानव-प्रेम और उदारता का चित्र है। राज्य उसे नहीं चाहिए, ताज उसे नहीं चाहिए, वैभव उसे नहीं चाहिए।

वह तो चाहता है केवल भारतीय राष्ट्र की एकता—बन्धुत्व की प्रतिष्ठा। पर स्वप्न तो स्वप्न ही रहता है। करोड़ों भारतीयों के आँसुओं की पावस-झड़ी के बीच यह मनोहर स्वप्न भंग हो गया—गांधी का भी बलिदान दारा के बलिदान का सहपंथी बना :

"आज एक महान् स्वप्न भंग हो गया। क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा का बलिदान व्यर्थ जायगा ? क्या दारा का स्वप्न सदा स्वप्न ही बना रहेगा ? क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान् बलिदान को भूल जायंगी ?" प्रकाश द्वारा किया गया यह प्रश्न आज समस्त राष्ट्र के सामने है।

पात्र—चरित्र-चित्रण

प्रेमी जी के नाटकों का निर्माण ऐसे युग में हुआ जब सामाजिक और राजनीतिक रूप में भारतीय जनता विनाशक रूढ़ियों और विदेशी शासन से संघर्ष कर रही थी। यह युग नीति और आदर्श की आस्था का था। संघर्ष के समय आदर्श और नीति का कठोर पालन करना आवश्यक-सा हो जाता है। साथ ही जिस युग के यह नाटक हैं, वह युग भी हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष का था। वह भारतीय इतिहास का सामन्ती युग था। आवश्यक और उपयोगी शौर्य के साथ ही शौर्य-प्रदर्शन भी उस युग की विशेषता है। यह युग व्यक्ति-प्रधान था। व्यक्ति-पूजा की भावना होना अनिवार्य हो जाता है। व्यक्ति-पूजा होगी, तो व्यक्ति में आदर्श की स्थापना हो ही जायगी। इन्हीं

परिस्थितियों के प्रकाश में प्रेमी जी के नाटकों के पात्रों का अध्ययन करना पड़ेगा।

सभी नाटकों—'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना', 'मित्र', 'प्रतिशोध' 'उद्धार'—के नायक भारतीय नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से धीरोदात्त हैं। सभी अपने-अपने भू-खण्ड के निवासियों के आदर्श हैं। प्राय: उन सभी नायकों में समान गुण पाये जाते हैं। जन्म-भूमि की भक्ति, वीरतापूर्ण अहं, कुल-वंश का अभिमान, सामन्ती गर्व, बलिदान की भावना निर्भयता और क्षमा आदि गुण किसी-न-किसी रूप में सभी में पाये जाते हैं। हिन्दू नायकों में धर्म का भी गर्व मिलता है और मुसलमान पात्रों में इस्लाम का अभिमान भी पाया जाता है। पर लेखक की प्रतिभा ने धर्म का उज्ज्वल रूप भी उपस्थित किया है। 'मित्र' में रत्नसिंह कहता है, "कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के वंशज जैसलमेर का राज-वंश भविष्य के प्रति आँखें मूँदकर नहीं रह सकता। वह विनाश के साथ लोहा लेने को प्रत्येक क्षण प्रस्तुत रहेगा।" इसी सामन्ती कुलाभिमान को श्यामा प्रकट करती है, "वह (विजयसिंह) सीसोदिया-वंश में उत्पन्न होकर भी मेवाड़ के राज-महलों को छोड़कर जंगलों में रह रहा है। किसलिए ? जानती हो ? आपके थोथे वंशाभिमान और समाज के अन्याय के कारण।"

"वीरता, साहस, त्याग, और बलिदानों की गौरव-गाथाओं से परिपूर्ण मेवाड़-राजवंश के वंशज होने का ज्ञान हमारे को क्या हानि पहुँचाता ?"—दुर्गा पूछती है।

"राजकुमारत्व का मान हमारे में उच्चता की भावना भर देता और उसे प्रत्येक देहाती स्त्री-पुरुष को आत्मीय मानना कठिन हो जाता।" सुधीरा कहती है। 'उद्धार' के इस कथोपकथन से भी सामन्ती कुलीनता के अभिमान का चित्र सामने आ जाता है। 'उद्धार' प्रेमी जी का बहुत बाद का नाटक है, इसलिए इसमें यह सामन्ती वंशाभिमान कम हो गया है। जन-मत का मान बढ़ता गया है। सामन्तशाही किसानों-निर्धनों आदि के निकट आती गई है और प्रजातंत्र की भावना भी स्पष्ट होती गई है।

सभी ऐतिहासिक नाटकों के नायकों में आदर्श गुण हैं। वे असाधारण मनुष्य हैं। 'रक्षा-बन्धन' का नायक हुमायूँ आदर्श पुरुष है। नीति, धर्म, मानवता, दया, उदारता का वह अवतार है। अपने राज्य और व्यक्तिगत सुरक्षा को खतरे में डालकर भी वह कर्मवती की राखी स्वीकार कर लेता है। "हमें दुनिया की हर किस्म की तंगदिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए।

हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं; भाई को गले लगाना है, भाई को ही नहीं दुश्मन का भी गले लगाना है।" हुमायूँ के यह शब्द एक उदार-मना, सच्चे मानव के भावोद्‌गार हैं।

'शिवा-साधना' के शिवाजी भी अपने गुणों के कारण आदर्श चरित्रवान, पर-धर्म-सहिष्णु और धीर-वीर-गम्भीर व्यक्ति हैं, उन्हें न रूप की चकाचौंध आकर्षित करती है न सौन्दर्य-भोग की कामना पथ-भ्रष्ट। मौलाना अहमद की पुत्र-वधू को देखकर वह कहते हैं, "तुम्हारे रूप की चकाचौंध से मेरी आँखों ने नया प्रकाश पाया है। कितना भला कितना दिव्य! यह सौन्दर्य तो पूजने की वस्तु है माँ!"

उसको भौतिक रूप तो मोहित करता ही नहीं, रामसिंह के द्वारा दिया गया राजनीतिक प्रलोभन भी नहीं डिगा सकता। नैतिकता शिवाजी के जीवन की परम आस्था है, "नेता मृत्यु के बाद भी देश का नेतृत्व करता है, किन्तु उसका नैतिक पतन उसके आन्दोलन का सर्वनाश कर देता है। नैतिक पतन के आगे मृत्यु की कोई हस्ती नहीं।"

वीरता, निर्भयता, शौर्य, धीरता, चातुरी, नेतृत्व की शक्ति आदि गुणों से पूर्ण 'उद्धार' का नायक हमीर भी है। उसके चरित्र में लेखक के वर्तमान विचारों का भी प्रभाव स्पष्ट है। 'विधवा-विवाह' का व्यावहारिक समर्थन उसके चरित्र में नया रंग है। मुञ्ज का सिर काट लाना, कमला से विवाह, चित्तौड़ का उद्धार उसके उदात्त गुणों का परिचायक है।

नैतिक आदर्शों का अपने चरित्रों में लेखक ने इतना अधिक ध्यान रखा है कि नाटक में नैतिकता के उपदेश देने वाले पात्रों का निर्माण किया है—चरित्रों पर पहरेदार बैठा दिए हैं। 'शिवा-साधना' में गुरु रामदास, 'रक्षा-बंधन' में शाह शेख औलिया, 'उद्धार' में सुधीरा नीति-धर्म और सच्चरित्रता का प्रत्यक्ष उपदेश देते पाए जाते हैं। 'स्वप्न-भंग' में परोक्ष रूप से पीर मियाँ मीर दारा के पथ-प्रदर्शक हैं।

नायकों के समान नायिकाएं भी आदर्श नारी हैं। कर्मवती, वीरांगना, निर्भय, आत्म-त्यागी, दूरदर्शी, उच्च-कुलोत्पन्न क्षत्राणी है। मानवीय त्रुटियाँ उसमें नहीं हैं। 'उद्धार' की कमला भी मुग्ध, देश-भक्त, दूरदर्शी, सरल चित्त वीर नारी है; 'स्वप्न-भंग' की नादिरा आदर्श पत्नी है। सीता के समान अपने पति दारा के सुख-दुःख में साथ देने वाली। उदारमना, सहिष्णु, सेवा-परायण, एकनिष्ठ—सभी कुछ है। किरणमयी ('मित्र' में) भी कर्मवती की ही प्रतिछाया है। विश्व-विश्रुत क्षत्रिय-नारी के सभी गुणों से युक्त।

नायक तथा खलनायक सभी एक विशेष वर्ग के पात्र हैं। शठनायक अधिकतर उन्हीं सब गुणों से युक्त हैं, जो भारतीय साहित्य-शास्त्र में माने गए हैं। शठ नायिकाओं के विषय में भी यही समझना चाहिए। यह बात केवल नायक और प्रतिनायक के विषय में ही नहीं; सभी सद् और असद् पात्रों के विषय में लागू होती है। पात्र केवल विशेष वर्ग के होने के कारण मानवीय मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व से शून्य हैं। संघर्ष की तीव्रता और कार्य की व्यस्तता में अन्तर्द्वन्द्व को समय भी नहीं मिलता, यह ठीक है; तो भी मानवीय हृदय में स्पन्दन तो होना आवश्यक है। 'प्रेमी' जी ने अवसर मिलने पर विभिन्न पात्रों के हृदय की धड़कन को भी पाठक के सामने रखने का प्रयत्न किया है :

"औरंगजेब, तू किधर जा रहा है। अज़ाब के काले समुन्दर में जिन्दगी की नाव बह पड़ी है। जहाँआरा तूने क्या कहा—दिल्ली की सल्तनत में भी आग लगा दूँ, यह भी शाहजहाँ की निशानी है। सच है, मेरे अज़ाब दर-असल इस सल्तनत को ले डूबेंगे।" हत्याओं और निर्भयताओं से खेलने वाला पाषाण-हृदय औरंगजेब भी 'शिवा-साधना' में अपने कर्मों पर समय मिलने पर सोचता है; पर जो पग विनाश की तरफ बढ़ चला, वह रुका नहीं। और जो शिवाजी, मौत से खेलता था, काल की कराल मूर्ति देखकर मुसकाता था, भयंकर-से-भयंकर परिस्थिति का कसकर आलिंगन करता था, वही जीजाबाई की मृत्यु पर कितना हताश हो गया : "आज माँ के स्वर्गवास को पूरे चार मास हो गए। फिर भी मेरे हृदय का घाव जरा भी नहीं भरा। मुझे राज्य जंजाल जान पड़ता है और ऐश्वर्य अभिशाप। मुझसे अब यह सहन नहीं होगा।"

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'रक्षा-बन्धन' का विक्रमादित्य और 'उद्धार' का सुजानसिंह प्रेमी के पुरुष चरित्र-चित्रण के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं, इन दोनों में मानवीय कमियाँ हैं और मानवीय दिव्य गुण भी हैं। दोनों का चरित्र प्रायः समान-सा है। दोनों ही नूपुरों की रुनुन-झुनुन और प्यालियों में डूबे सामने आते हैं। दोनों ही जन-सम्मति के सामने सिर झुकाकर राज-मुकुट त्याग देते हैं और दोनों ही आदर्श वीरता, त्याग, देश-भक्ति, शौर्य और निर्भयता का परिचय देते हैं, "वे गोरा-बादल की आत्माएं मुझे शाप दे रही हैं। स्वर्ग में देवी पद्मिनी हँस रही है, उनकी व्यंगमयी मुसकान मानो कह रही है, इससे स्त्रियाँ ही अच्छी। अभिशाप, ग्लानि, घृणा और अपयश के बोझ से दबा हुआ जीवन में कब तक ढो सकूँगा ? मैं मेवाड़ का महाराणा था—अब

तो राह का भिखारी हूँ—पर उससे भी अधिक दुखी हूँ। अब तो चला नहीं जाता। (एक पेड़ के नीचे बैठता है) हाय चित्तौड़ का न जाने क्या हुआ ?"—विक्रम की मानस-कथा स्पष्ट है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि मे 'स्वप्न-भंग' प्रेमी जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें सभी चरित्रों का विकास स्वाभाविक और विस्तृत हुआ है। प्रेमी के किसी भी अन्य नाटक में चरित्रों का उद्घाटन इतना सुन्दर नहीं। औरंगजेब, रोशनारा, जहाँनारा, दारा, नादिरा, प्रकाश—सभी में चरित्र-विकास उत्तम है। इस नाटक में प्रेमी ने चरित्रों के बाहरी चोले को त्यागकर उनके अन्तर से प्रवेश किया है।

औरंगजेब कट्टर, निरंकुश, निर्दय, निर्मल, कठोर, वीर, धूर्त, निर्भय योद्धा है। सहृदयता या भावुकता की धड़कन उसके हृदय में कभी बजती नहीं। सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा उससे उसके भाइयों का वध करा देती है। पिता को वह पानी तक के लिए तरसाता है। वह दानव है—एक दुर्दमनीय शैतान ईमान का चोला पहनकर उसके हृदय में जड़ जमाए है। फिर भी जब वह महत्त्वाकांक्षा के घटाटोप से मुक्त क्षणों में आता है, जब कपट की ओड़-आड़ से वह निकलता है, तब उसके हृदय की दुविधापूर्ण स्थिति का चित्र सामने आ जाता है, "संसार में सब प्राणियों के स्नेह से वंचित औरंगजेब ! तुझे बहन रोशनारा के अतिरिक्त और भी कोई प्यार करता है ? नहीं ! रोशनारा का स्नेह मरुभूमि में जलते हुए मेरे जल-हीन जीवन का एक-मात्र सरोवर है। वह कयामत से भी तेज लड़की—वह तलवार से भी अधिक तीखी धार वाली लड़की—वह बिजली से भी अधिक ज्योतित आखों वाली लड़की—आज औरंगजेब को सर्वनाश की आग लगाने को कह रही है। मैं मंत्र-मुग्ध सांप की तरह उस सपेरिन के इशारे पर नाचूंगा। जो वह कहेगी, वही करूंगा।"

क़यामत से ज्यादा तेज लड़की, वह तलवार से भी ज्यादा तीखी धारवाली लड़की, वह बिजली से भी अधिक ज्योतित आँखों वाली लड़की—जो आगरा में बैठी हुई राजनैतिक तूफान का संचालन करती रहती है, विनाश से खेलती है चिनगारियों से क्रीड़ा करती है, राजनीतिक षड्यंत्रों के जाल बुनती है, वह भी कभी-कभी अपने कोमल नारीत्व को पहचानती है—अपने हृदय की सुकुमार भावना को समझने का यत्न करती है। उसके हृदय का चित्र उसके ही शब्दों में स्पष्ट होता है —"ईर्ष्या की आंधी में उड़कर मैं कहाँ आ गई हूँ। मैं नारी हूँ। नारी का अस्तित्व प्रेम

करने के लिए है, संसार को स्नेह के निर्मल झरने में स्नान कराने के लिए है। मैं अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर हिंसा का खेल खेलने चली हूँ। कोई दिल में बार-बार कहता है, 'रोशनआरा जरा सोच! आगे कदम बढ़ाने के पहले उसके परिणामों पर विचार कर'।"

नारी-पात्रों में 'रक्षा-बन्धन' की श्यामा एक दिव्य चरित्र है। इसका चित्रण करने में प्रेमी जी ने अत्यन्त कौशल प्रदर्शित किया है। श्यामा मेवाड़ी वंशाभिमान की शिकार, सामंती न्याय के पैरों तले कुचली हुई अबला और समाज-बहिष्कृत एक व्यथा-विह्वल नारी है। श्यामा के ये शब्द उसके रोषभरे नारीत्व को प्रगट करते हैं, "देश-भक्ति के अंध उन्माद ने, न्याय के निष्ठुर अभिमान ने, एक दिल की हरी-भरी बस्ती को जलता हुआ मरु-प्रदेश बना दिया। इच्छा होती है, चोट खाई हुई नागिन की भाँति फुफकार-कर सम्पूर्ण मेवाड़ को डस लूँ।"

श्यामा के हृदय की घृणा, रोष और क्रोध सामने आई हुई चारणी पर भी बरस पड़ते हैं और वह कहती है, "चारणी तुम मेरी आँखों के सामने से हट जाओ।" और वह फिर मेवाड़ के दम्भ और हृदयहीन वीरता के अभि-मान पर व्यंग्य करती है। पर वह अपने हृदय का रोष दबाकर अपने पुत्र को मेवाड़ के लिए युद्ध करने की प्रेरणा देती है। सदा अपने को एकान्त स्वाभिमान के साथ मेवाड़ के राज-महलों से अलग रखती है। उसके चरित्र का यह गुण स्पर्द्धा के योग्य है। वह अपने स्वाभिमान को जवाहरबाई पर प्रगट करती है, "चलो बेटा, मेवाड़ के महलों के गद्दों पर नहीं, मेवाड़ की धूल पर ही तुम्हारा वास्तविक आसन है।" श्यामा के चरित्र में तीखा व्यंग्य व्यक्तित्व का अहं, रोष, घृणा, निष्काम भक्त का-सा अभिमान सजग है।

दारा, शाहजहाँ और नादिरा दुविधापूर्ण स्थिति, मानसिक हलचल, आशा-निराशा, अन्धकार और प्रकाश के यथार्थ मूर्तिमान रूप हैं। 'छाया' में भी 'प्रेमी' जी ने चरित्र-चित्रण का अच्छा कौशल दिखाया है। कई नाटकों में समानान्तर चरित्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'रक्षा-बन्धन' की चारणी और 'शिवा-साधना' की अक्काबाई एक ही हैं। गुरु रामदास और शाह शेख औलिया भी समान चरित्र हैं। सुजान और विक्रमादित्य में भी विशेष अन्तर नजर नहीं आता।

ऐतिहासिक नाटकों के चरित्रों में रंग भरते हुए 'प्रेमी'जी ने भारतीय रस-सिद्धान्त का बहुत ध्यान रखा है। 'साधारणीकरण' के अनुसार ही अधिक-तर चरित्रों का निर्माण किया है, यद्यपि जीवन के उत्थान-पतन, मानस का

द्वन्द्व और भाव-संघर्ष भी समान और उचित अनुपात में मिलता है। पर वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों के चरित्र-निर्माण में 'व्यक्ति-वैचित्र्य' का स्वरूप स्पष्ट है। 'बन्धन' में प्रकाश का चरित्र इसका उदाहरण कहा जा सकता है। वह शराबी है—शिकारी है; पर उसके हृदय में मानवता का सागर उमड़ता हुआ दिखाई देता है। लक्ष्मण को दस रुपये दे जाता है, उसे अपने बाप की तिजोरी की चाबी दे देता है कि वहाँ से रुपया चुरा लावे। लक्ष्मण जब पिस्तौल दागकर भाग जाता है और रायबहादुर खजान्चीराम घायल होकर गिरता है तो वह उस आक्रमण का अपराध अपने ऊपर ले लेता है।

प्रकाश का चरित्र विस्मयजनक उलझन और अभूतपूर्व विलक्षणता से भरा है। 'प्रेमी' ने प्रकाश के निर्माण में प्रशंसनीय कला का परिचय दिया है। इसमें सबसे बड़ी विलक्षण मनोवैज्ञानिक बात प्रेमी ने रखी है। अधिकतर लोग अपने कष्टों, अपराधों या असफलताओं को भूलने के लिए शराब पीना आरम्भ कर देते हैं, पर प्रकाश अपनी मानवता को दबाने के लिए—मानव-प्रेम, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि को भूलने के लिए शराब पीने लगता है। यदि वह इन सब भावनाओं को जागृत रखता है तो अपने पिता के शोषण का विरोध उसे करना पड़ता है। होश में रहकर विरोध नहीं करता तो मानवता से गिरता है—स्वयं ही अपराधी बनता है। विरोध करता है तो पिता के मार्ग में काँटा बनता है। इसीलिए शराब और शिकार का नशा उसने अपने सिर चढ़ाया। पर अन्त में मानवता की विजय हुई। उसे शराब छोड़नी पड़ी। पिता के घातक का रूप भी धारण करना पड़ा। प्रकाश हिन्दी के नाटकों का दिव्य और विलक्षण चरित्र है।

'छाया' भी वर्तमान जीवन का चित्र है। उसके सभी चरित्र वर्तमान समाज के जीवित प्राणी हैं। छाया, माया, रजनी, प्रकाश आदि सभी यथार्थवादी चरित्र हैं। माया रात को नसीब बनकर अपने रूप का बाजार लगाती है, पर उसके हृदय में मानवीय गुणों की बहुत बड़ी निधि जमा है। छाया एक गौरवशालिनी आस्थावान पत्नी है, जो अपने पति प्रकाश की मानसिक दुर्बलता का भी मान करती है। रजनी अनेकों लांछनों से युक्त होते हुए भी एक ज्योति है। 'छाया' और 'बन्धन' दोनों नाटकों में चरित्र-चित्रण में प्रेमी जी ने 'व्यक्ति-वैचित्र्य' के यूरोपीय सिद्धान्त को सफलतापूर्वक साकार रूप में उपस्थित कर दिया है।

कला का विकास

प्रेमीजी प्रतिभाशाली नाटककार हैं। उनके पास सजग कला, गतिशील कल्पना और एक सुघर सुरुचिपूर्ण रचना-कौशल है। नाटक के क्षेत्र में हिन्दी का मस्तक उन्होंने ऊँचा किया है। प्रेमीजी की प्रारम्भिक रचना देखकर ही उनकी कला पर भरोसा होता है। उनकी कृतियों के रचना-क्रम को देखकर उनकी नाट्य-कला का सहज स्वाभाविक विकास का लेखा-जोखा सामने आ जाता है। 'स्वर्ण-विहान' उनकी सर्व प्रथम रचना है। यह पद्य-नाटिका है। इसमें उनकी कला की विकास की ओर आकुलता दिखाई देती है। इसे हम गद्य-नाटकों की भाँति कला की कसौटी पर नहीं कसेंगे। इस दिशा में 'पाताल-विजय' को प्रथम मानकर ही प्रेमी की कला और उसके उज्ज्वल विकास की बात कहेंगे।

प्रेमी ने जब नाटक लिखने आरम्भ किए, प्रसाद के कई नाटक निकल चुके थे। इधर नाटक-मण्डलियाँ भी उत्तर भारत में अभिनय करती घूम रही थीं। अभिनय-नाटकों की खासी धूम थी। प्रेमी जी के सामने अनेक नाटकों त्रुटियाँ भी थीं और गुण भी थे। नाटकों का अभिनय नगर के रहने वाले अनेक बार देख चुके थे। इन्हीं सब परिस्थितियों से प्रेमी ने, अपनी कला का शृङ्गार करते समय, पूरा लाभ उठाया। साहित्य, कला और अभिनय का मधुर सामंजस्य प्रेमी की कला में स्वतः हो गया। प्रेमी जी किसी से भी प्रभावित नहीं हुए, पर लाभ सबसे उठा लिया। उन्होंने अपनी स्वाधीन कला का निर्माण किया। प्रेमी की कला संस्कृत नाट्य-कला के सभी बन्धनों से मुक्त है, वर्तमान स्वाभाविक और स्वस्थ कला के सभी गुणों से युक्त है।

स्वगत-भाषण का भद्दा प्रदर्शन प्रेमी जी ने कहीं नहीं किया। ज्यों-ज्यों उनकी कला का विकास होता गया वे स्वगत कम-से-कम करते चले गए। 'रक्षा-बन्धन' उनका दूसरा नाटक होते हुए भी अत्यन्त विकसित कला का नमूना है। पूरे नाटक में केवल चार स्वगत हैं। श्यामा का एक, कर्मवती के दो, विक्रमादित्य का एक—और सभी अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक हैं। उनके हृदय की घुमड़ती व्यथा को प्रकट करने वाले और उनके चारित्रिक गुण का उद्‌घाटन करने वाले। 'शिवा-साधना' में भी केवल पाँच स्वगत हैं। औरंगजेब, जेबुन्निसा, जयसिंह और गुरु रामदास के। जेबुन्निसा का प्रेम केवल स्वगतोच्छ्वास द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है। औरंगजेब के चरित्र के लिए भी स्वगत आवश्यक है—उसका अन्तर्द्वन्द्व प्रकट करने के लिए 'छाया' में भी केवल चार और 'उद्धार' तक आते-आते 'स्वगत' समाप्त

ही कर दिया गया। 'उद्धार' में एक भी स्वगत नहीं है। 'मित्र' में भी न के बराबर ही समझिए। 'स्वप्न-भंग' को छोड़कर विचार करें तो बहुत अच्छा विकास इसमें लेखक का रहा। पर 'स्वप्न-भंग' प्रेमी का छठा नाटक है—बीच की कड़ी। तो भी इसमें स्वगत की अरुचिकर, अस्वाभाविक और अनावश्यक भरमार है। यह नाटक भावोच्छ्वास से पूर्ण है, शायद इसीलिए भी स्वगतों की भीड़ लग गई, या जिन दिनों वह लिखा गया, लेखक की मानसिक अवस्था ठीक नहीं थी। इस नाटक में लगभग डेढ़ दर्जन स्वगत हैं और यह भी नहीं कि बहुत आवेश या उत्तेजना की अवस्था में—चाँद, ताज, बादल, तारे आदि को देखकर स्वगत चल रहा है। औरंगजेब, दारा, शाहजहाँ, रोशनारा, जहाँआरा, प्रकाश ही नहीं मालिन और सैनिक तक स्वगत-प्रलाप का अधिकार नहीं छोड़ना चाहते।

कार्य-व्यापार की दृष्टि से प्रेमी के सभी नाटक श्रेष्ठ हैं—'स्वप्न-भंग' को छोड़कर। 'रक्षा-बन्धन' का प्रथम दृश्य ही बड़ा रोमांचकारी नाटकीय, और अकस्मात् का नमूना है। शृङ्गार में रौद्र का शानदार मिश्रण! दूसरे अंक का सातवाँ दृश्य कार्य-व्यापार और गतिशीलता में आदर्श है। प्रभाव की दृष्टि से इसमें वीरता, शौर्य, वात्सल्य का मनोहर चित्र है। अनेक दृश्य स्फूर्तिमय और गतिशीलता से पूर्ण हैं। 'शिवा-साधना' कार्य-व्यापार और घटनावली में अन्य सभी नाटकों से आगे है। कहानी घटनाओं की सीढ़ियों पर तीव्रता से चरण रखकर भागी चली जाती है। सभी घटनाएं स्टेज पर ही घटती हैं। शाइस्ता का भागना, अफजलखाँ का वध, शाहजी का दीवार में चुना जाना, कई एक युद्ध—सभी में रोमांचकारी प्रभाव और गतिशीलता है। इसमें छोटे-छोटे दृश्यों में भी बड़ी तीव्रता है जैसे जहाँआरा कटार का लेकर औरङ्गजेब को मारने जाना। 'उद्धार' में भी प्रशंसनीय कार्य-व्यापार पाया जाता है। सुजानसिंह की नृत्य-सभा में अजयसिंह का प्रवेश 'रक्षा-बन्धन' के प्रथम दृश्य का रोमांचक वातावरण उपस्थित कर देता है। हमीर का भरे दरबार में मुञ्ज का कटा सिर लिये प्रवेश, अजयसिंह का विष द्वारा वध, तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में कमला का प्रवेश विशेष नाटकीय महत्त्व रखते हैं। सभी नाटकों में अकस्मात् कौतूहल, रोमांच, अनाशितता का उचित समावेश है। कार्य-व्यापार की दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' सबसे शिथिल नाटक है। इसमें घटनाएं केवल पात्रों के मुँह से सूचित की जाती हैं सामने रंगमंच पर नहीं घटतीं, यह नाटक का सबसे बड़ा दोष है। केवल एक दो दृश्य में ही कुछ गति-शीलता मिलती है, जैसे पहले अंक के छठे दृश्य में सहसा जहाँआरा का प्रवेश।

पात्रों की संख्या और उनके चरित्र का विकास भी नाट्य-कला का महत्त्वपूर्ण अंग है। रचना-क्रम से ज्यों-ज्यों प्रेमी जी आगे बढ़े हैं, पात्रों की संख्या तो कम होती गई है, उनका चारित्रिक विकास अधिक होता गया है। 'रक्षा-बन्धन' में १९ पुरुष तथा ९ स्त्रियाँ हैं। 'शिवा-साधना' में ३४ पुरुष ६ स्त्रियाँ। 'स्वप्न-भंग' में ७-८ पुरुष और ९ स्त्रियाँ। 'छाया' में ६ पुरुष और ३ स्त्रियाँ। 'मित्र' में ८ पुरुष और २ स्त्रियाँ तथा 'उद्धार' में ६ पुरुष और ३ स्त्रियाँ। पात्रों की संख्या की दृष्टि से 'शिवा-साधना' में ही अधिक भीड़-भाड़ है। यह दृश्य-विधान की दृष्टि से भी दोषपूर्ण है। शेष सभी नाटक पात्रों की संख्या की दृष्टि से ठीक हैं। चरित्रों का विकास 'रक्षा-बन्धन' में बहुत अच्छा है। आश्चर्य होता है कि प्रेमी जी का यह प्रारम्भिक नाटक होते हुए भी हर दृष्टि से इतना उच्चकोटि का है। विक्रमादित्य श्यामा—दोनों चरित्र-विकास की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं। भारतीय दृष्टिकोण से कर्मवती, बाघसिंह, जवाहरबाई, हुमायूँ महान् चरित्र हैं।

प्रेमी जी का चरित्र-विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता गया है। बाहरी लपक-झपक, दौड़-धूप कम होती गई और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों का चित्रण बढ़ता गया है। यदि इसका ग्राफ बनाया जाय तो चरित्र-विकास की पहली ऊँची मीनार होगी 'रक्षा बन्धन', दूसरी 'स्वप्न-भंग', तीसरी 'छाया'। इन सबसे ऊँची होगी 'स्वप्न-भंग' की मीनार। 'रक्षा-बन्धन' और 'स्वप्न-भंग' के बीच की रेखा ढीली पड़ी-सी दीखेगी। इसी प्रकार 'स्वप्न-भंग' और 'छाया' के बीच की रेखा भी कुछ ढीली मालूम होगी।

'रक्षा-बन्धन' का उच्चकोटि का चरित्र-चित्रण 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' में निर्बल पड़ गया है और 'मित्र' तथा 'उद्धार' का चरित्र-चित्रण भी नीचे उतर आया है। 'छाया' में नारी और पुरुष दोनों ही अपने-अपने यथार्थ रूप में आये हैं। रूप-तृप्ति, जो कि काम की भूख का ही एक पहलू है, इस नाटक में जीवन के घाव पर मरहम बनकर आई है। 'स्वप्न-भंग' चरित्र-विकास की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नाटक है। ऐतिहासिक होते हुए भी इसमें प्रेमी जी ने चरित्र का उद्‌घाटन करने में कमाल की सफलता पाई है। रोशनारा एक तूफानी नारी; शाहजहाँ एक अस्थिर चित्त दुविधा की भँवर में फँसा पिता, दारा आशा-निराशा, भाग्य और पौरुष, आँसू और ऐश्वर्य का देवता, जहाँआरा एक व्यथित उच्छ्वास को घायल

कम्पन—सबका चरित्र रंगीन चित्रों के समान स्पष्ट है। औरंगजेब का चरित्रोद्घाटन करने में भी लेखक ने सूक्ष्म कल्पना और अन्तर्भेदी दृष्टि का प्रशंसनीय परिचय दिया है।

प्रेमी जी ने अपने सभी नाटकों में वातावरण का भी पूरा ध्यान रखा है—वातावरण सम्बन्धी दृश्यों से नाटकीय लाभ उठाया है।—'रक्षा-बन्धन' में पहले अंक का छठा दृश्य राजपूती संस्कृति का सही वातावरण उपस्थित करता है। राखी का पर्व क्षत्रियों का बलिदान-पर्व है। 'शिवा-साधना' का प्रथम दृश्य भवानी के मंदिर का है, यह भी वातावरण की दृष्टि से बहुत सफल और आवश्यक है। 'स्वप्न-भंग' में ताज के पास का दृश्य वातावरण ही नहीं उपस्थित करता, नाटक का उद्देश्य भी घोषित कर देता है। भावना और कला का अवतार ताज हिन्दू-मुसलिम-एकता और कला का प्रतीक है। 'उद्धार' के तीसरे अंक के चौथे दृश्य में भी दुर्गा की मूर्ति के सामने चित्तौड़ के उद्धार की प्रतिज्ञा की जाती है। ऐसे दृश्यों का उपयोग नाटकीय दृष्टि से बहुत है। 'छाया' में स्थान और समय का चुनाव बहुत ही अच्छा हुआ है।

प्रेमी जी की कला के विषय में एक बात और बड़े उभरे हुए रूप में सामने आती है। वह है गीतों का प्रयोग। अधिकतर नाटकों में दृश्य का आरम्भ ही गीत से होता है। 'रक्षा-बन्धन' के पहले अंक का दूसरा, तथा छठा और तीसरे अंक का चौथा, 'शिवा-साधना' के पहले अंक का छठा, दूसरे अंक का पहला, तीसरे अंक का दूसरा, चौथे अंक का पहला, चौथा और पाँचवाँ; 'उद्धार' के पहले अंक का दूसरा, दूसरे अंक का पहला, आठवाँ, और तीसरे अंक का दूसरा दृश्य गीत से ही आरम्भ होते हैं। यह प्रवृत्ति 'स्वप्न-भंग' में चरम सीमा को पहुँच गई है। पहले अंक का पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ; दूसरे अंक का पहला, पाँचवाँ, छठा; तीसरे अंक का पहला और सातवाँ दृश्य गीत से ही आरम्भ होता है। इसमें वीणा का काम केवल गीत गाकर दृश्य को आरम्भ करना ही मालूम होता है। इस नाटक में कुल तेरह गीत हैं, जिनमें ६ गीत केवल दृश्य प्रारम्भ करने के लिए ही हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि गीत से दृश्य आरम्भ करना कहीं-कहीं बहुत अच्छा होता है। इससे दर्शकों को आकर्षित किया जाता है; पर हर दृश्य के आरम्भ में गीत रखना बहुत ऊँची कला नहीं। गीतों में विभिन्न छन्द होने चाहिएं। पर 'शिवा-साधना' और 'स्वप्न-भंग' दोनों में छन्दों का परिवर्तन बहुत कम है।

भाषा की दृष्टि से कुछ भी कहना व्यर्थ है। प्रेमी की भाषा नाटकोचित, भावमयी, स्पष्ट, चुस्त, प्रभावशाली और स्वच्छ है। ऐसी निर्दोष और भली भाषा कम ही लोग लिख पाते हैं। सादगी और शक्ति दोनों गुण भाषा में होना लेखक की बहुत बड़ी सफलता है—यह प्रेमी में पूर्ण रूप से है।

प्रेमी जी के विकास की यात्रा का ही ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। अभी वे अनेक नाटक भेंट करेंगे, पूरा मूल्यांकन तो अभी किया ही नहीं जा सकता। पर जो-कुछ सामने हैं, उसी के आधार पर वे हिन्दी के गौरव-शाली कलाकार हैं।

प्रेमी जी अपने नाटकों की रचना करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि उनके नाटक अभिनीत हो सकें। 'स्वप्न-भंग' की भूमिका में वह लिखते हैं, "मैंने इन नाटकों में भाव दिये हैं, कला दी है या नहीं, यह कलाविद् देखें—मुझे देखने की फुर्सत नहीं। हाँ, इतना प्रयत्न तो मैं करता हूँ कि नाटक रंगमंच के उपयुक्त रहें, जन-साधारण की पहुँच के बाहर न हों और उनमें रसानुभूति का अभाव न हो।"

अभिनेयता

प्रेमी जी के नाटकों में साहित्य और अभिनय-कला—दोनों का प्रशंसनीय सामंजस्य है। हिन्दी के अन्य प्रतिभाशाली विख्यात नाटककारों की अपेक्षा प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अभिनय का अधिक ध्यान रखा है। प्रेमी जी के सभी श्रेष्ठ नाटकों का अनेक स्थानों पर अव्यवसायी नाट्य-मण्डलों द्वारा सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। 'रक्षा-बन्धन', 'स्वप्न-भंग', 'छाया', 'बन्धन' और 'उद्धार' अभिनय की दृष्टि से भी उतने ही श्रेष्ठ हैं जितने वे साहित्यिक दृष्टि से। 'रक्षा-बन्धन', 'छाया', 'स्वप्न-भंग', 'बन्धन', 'मित्र' तथा 'उद्धार'——सभी में तीन-तीन अंक हैं। केवल 'शिवा-साधना' चार अंकों का है। कोई भी नाटक अधिक लम्बा नहीं—किसी का भी अभिनय ढाई घंटे से अधिक देर तक नहीं जा सकता।

सभी नाटकों का दृश्य-विधान बहुत ही सरल और नाटकोचित है। 'रक्षा-बन्धन' के प्रथम अंक का दृश्य-विधान है—१. चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य का भवन, २. मेवाड़ के वन की पगडण्डी, ३. राज-भवन की वाटिका, ४. माण्डू का राजमहल—बहादुरशाह और मल्लखाँ, ५. महाराणा विक्रमादित्य का राजभवन तथा ६. चित्तौड़ का भीतरी भाग। इन दृश्यों में चौथा तथा पाँचवाँ ही बड़े दृश्य हैं, जो आगे-पीछे हैं। चौथे दृश्य का थोड़ा-सा सामान हटाकर तुरन्त पाँचवाँ बनाया जा सकता है या एक साथ ही चौथे

के पीछे पाँचवाँ बनाया जा सकता है और चौथा समाप्त होते ही उसका सामान हटाकर पाँचवें दृश्य का परदा उठा दिया जा सकता है।

दूसरा तथा तीसरा अंक तो इतने सरल हैं कि इनके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। तीसरे अंक का ५ वाँ तथा ७ वाँ दृश्य बड़े हैं और प्रभावशाली भी। वे दोनों एक ही दृश्य हैं। पाँचवें से ही सातवें का काम लिया जा सकता है।

'छाया' तथा 'बन्धन' के दृश्य-विधान तो रंगमंच की सरलता और सादगी के आदर्श उदाहरण हैं। दो सेट्स में नाटक पूरा हो जाता है। एक मध्यवर्गीय गृहस्थ का मकान तथा दूसरा एक गाँव की झोंपड़ी। शेष सभी दृश्य नदी, बाग, जंगल आदि के हैं, जिनके निर्माण की आवश्यकता नहीं, परदों से भी काम चल सकता है। 'बन्धन' में भी दो सेट चाहिएँ—एक 'धनी का गोष्ठी-भवन' तथा दूसरा 'गरीब का मकान।' शेष सभी दृश्य बाहरी हैं।

नाटकीय अभिनय-सम्पन्नता की दृष्टि से प्रेमी जी का 'उद्धार' बहुत ही उच्च कोटि का नाटक है। इसमें रंग सूचनाएं या निर्देश भी विस्तृत, श्रेष्ठ, अभिनयोपयुक्त, लाभप्रद और वातावरण को उपस्थित करने वाले हैं। 'उद्धार' के जैसे निर्देश किसी अन्य नाटक में नहीं। इन निर्देशों से वस्त्र, रूप-सम्पादन (Make-up) तथा अभिनेता के चुनाव में पूरी-पूरी सहायता मिलती है।

'उद्धार' का दृश्य-विधान भी अत्यन्त उपयुक्त, सरल तथा नाटकीय है। पहला अङ्क इस प्रकार है—१. एक खेत, २. राज-वाटिका, ३. राजमहल का एक कक्ष, ४. राज-वाटिका, ५. एक झोंपड़ी, ६. पहाड़ की तलहटी, ७. राज-दरबार। इन सातों दृश्यों में कोई भी दृश्य ऐसा नहीं जो अगले दृश्य के निर्माण में बाधक हो। छोटे-से-छोटे निर्माण योग्य दृश्य के पहले ऐसा दृश्य है, जिसे बनाने की आवश्यकता ही नहीं। दूसरा तथा तीसरा अंक भी इसी प्रकार है। राज-भवन से पहले जंगल या वाटिका के दृश्य हैं, जिससे राज-भवन के दृश्य बनाने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

अभिनय सफल बनाने में कार्य-व्यापार, कौतूहल, जिज्ञासा और अकस्मात या अनाशित घटनाओं का भी बड़ा महत्त्व है। आरम्भ और अन्त भी प्रभावोत्पादक होना चाहिए। 'रक्षा-बन्धन' का प्रथम दृश्य ही इसकी सफलता की घोषणा कर देता है। सहसा बाघसिंह का प्रवेश और धनदास की कमर पर लात लगाना, जवाहर बाई का आना और विक्रमादित्य को फटकार

बताना, कर्मवती और उदयसिंह का भी उपस्थित होना—नाटकीय कला की चरम सफलता है। यह कार्य-व्यापार, क्रमशिलता, अकस्मात् तथा प्रभाव की दृष्टि से महान् दृश्य है। पहले अंक का छठा दृश्य राजपूत संस्कृति का भव्य रूप उपस्थित करता है। दूसरे अंक का सातवाँ दृश्य कार्य-व्यापार और नाटकीय गतिशीलता का भव्य उदाहरण है।

'रक्षा-बन्धन' का अन्त भी बहुत ही प्रभावशाली है। वह एक ओर तो आँखों में बेबसी की बदली बरसाने वाला और दूसरी ओर मस्तक को गौरव से चमकाने वाला है।

'छाया' और 'बन्धन' अपने विषयानुकूल गतिशीलता और प्रवाह लेकर चले हैं। 'छाया' का अन्तिम दृश्य विद्युत् के समान सहसा पुतलियों के सामने मानव को प्रकाश देने वाली छाया को महान् रूप में उपस्थित करता है। कवि के जीवन का चित्र ही है 'छाया', इसलिए इसका आरम्भ काव्य और कला की चर्चा से होता है। छाया का पहले अंक का चौथा दृश्य, दूसरे अंक का तीसरा-पाँचवाँ और नाटक का अन्तिम दृश्य भव्य हैं।

'उद्धार' भी ऐसी प्रभावशाली और नाटक में सहसा रोमांच खड़े कर देने वाली घटनाओं से सम्पन्न है। पहले दृश्य में हमीर के हृदय में सुधीरा एक कौतूहल उत्पन्न कर देती है उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में। तीसरा दृश्य (अंक पहला) ठीक 'रक्षा-बन्धन' के प्रथम दृश्य के ही समान है। सुजान के रंग में भंग यहाँ अभयसिंह के द्वारा होता है। सातवें दृश्य में महाराणा के दरबार में हमीर के द्वारा मुन्ज का कटा सिर लेकर प्रवेश एक रोमांचकारी घटना है। 'उद्धार' का भी प्रथम और अन्तिम दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। 'उद्धार' प्रेमी जी के 'रक्षा-बन्धन' की जोड़ का नाटक है। 'उद्धार', 'छाया', 'बन्धन' और 'मित्र' आदि—सभी में १२-१३ से अधिक पात्र नहीं। 'रक्षा-बन्धन' में अवश्य लगभग बीस पात्र हैं पर कई का तो बहुत थोड़ा ही काम है।

भाषा आदि की दृष्टि से तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। प्रेमीजी की भाषा नाटकोचित, पात्रोचित और परिस्थिति के अनुकूल होती है। वह स्वच्छ प्रभावशाली, भावमयी, चलती हुई, चुस्त और चुभती हुई है—सर्वथा अभिनय के उपयुक्त।

अभिनय का ध्यान रखते हुए भी प्रेमीजी के कई नाटकों में रंगमंच-सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं। 'शिवा-साधना' को इसके प्रमाण में उपस्थित किया जा सकता है। 'शिवा-साधना' में पात्रों की खासी भीड़ है। पुरुष हैं चौंतीस और स्त्रियाँ हैं नौ। सिपाही सहेली की इनमें गिनती नहीं। इस

नाटक का दृश्य-विधान भी सदोष है। कहानी आगरा, दिल्ली, बीजापुर, रामगढ़, जंजीरा द्वीप, पूना, सितारा में फैली पड़ी है। प्रथम अङ्क का तीसरा दृश्य है बीजापुर का किला, जिसमें शाहजी को एक दीवार में चुना जा रहा है। चौथा दृश्य है—रामगढ़ में शिवाजी का मोरो पंत से परामर्श। पहले दृश्य का पट-परिवर्तन करते ही उसको ईंटें आदि हटाने के लिए समय नहीं मिल सकता। रामगढ़ में परामर्श के समय शिवाजी का कुछ तो प्रभावशाली ठाट दिखाना ही चाहिए। वातावरण उपस्थित करने के लिए दृश्य विशाल बनाना ही चाहिए। तीसरे अङ्क की दृश्यावली देखिए—दूसरा दृश्य, पूना के महल में शाइस्ताखाँ। तीसरा दृश्य, आगरा का दीवाने खास। ये दोनों दृश्य विशाल हैं। आगे पीछे इनका निर्माण कम कठिनाई उपस्थित नहीं करता। वैसे गतिशीलता की दृष्टि से 'शिवा-साधना' बहुत सफल है।

अभिनय की दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' भी निर्बल है। पहला अङ्क—पहला दृश्य दारा का महल, दूसरा दृश्य ताज के सामने का चबूतरा। दोनों दृश्यों का निर्माण असम्भव है। तीसरा दृश्य औरंगाबाद का राज-महल। इसमें स्वगतों की भी अरुचिकर भरमार है। मालिन, औरंगज़ेब, दारा, नादिरा, प्रकाश सभी को रोग है स्वगत-भाषण का और सो भी कोई उत्तेजित अवस्था में नहीं, चाँद, तारे, ताज का वर्णन तक करने में। कार्य-व्यापार की दृष्टि से कोई भी घटना रंगमंच पर नहीं होती, बल्कि कोई पात्र उसकी सूचना देता है। वर्णन करने से तो रसानुभूति नहीं हो सकती। न उसका रूपक ही खड़ा हो सकता है। घटनाएं घटती नहीं, केवल सूचित की जाती हैं, यह नाटक का दोष है।

समाज और मानव की समस्या

प्रेमीजी ने ऐतिहासिक नाटकों की ही विशेष प्रकार से रचना की—एक बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटकों की मणियों का जगमग हार बनाकर हिन्दी-वाणी को भेंट किया। उनमें अपनी लेखनी से जीवन के यथार्थवादी चित्र उतारे ही नहीं जा सकते। देश-प्रेम, बलिदान, किसी आदर्श के पीछे दीवाना रहना ही जीवन की पूर्ण तस्वीर नहीं है। ऐतिहासिक नाटकों में चरित्र के भीतरी परतों को खोलकर जीवन के अभावों का यथार्थ रूप उनमें रखा ही नहीं जा सकता। उनमें परम्परागत अनेक बन्धनों की तंग पगडण्डी पर ही प्रतिभा को चलना पड़ता है। समाज और मानव की यथार्थ तस्वीर देने के लिए भी प्रेमी जी ने सफल चेष्टा की है वह चेष्टा ही नहीं, गौरवशाली सिद्ध भी है। मानव और समाज के चरित्र का उद्घाटन करने के लिए प्रेमी

ने 'छाया' और 'बन्धन' दो नाटकों की रचना की।

प्रेमी ने 'छाया' में एक प्रसिद्ध कवि की समाज और राष्ट्र द्वारा उपेक्षित स्थिति का मर्मभेदी चित्र उपस्थित किया है। समाज और व्यक्ति के जीवन-विकास के घुन—शोषण—का इसमें नंगा रूप है। व्यक्ति के के अन्तर की बेबसी, जीवन के अभाव और बाहरी पाखण्ड एवं कृत्रिम रूप का इसमें हाहाकार करता हुआ चित्र है। कवि प्रकाश, जिसकी कविताओं की एक-एक कड़ी पर जनता उन्माद-चंचल हो तालियाँ बजाती है, जिसकी कविताएं राष्ट्र की नसों में प्राणों का रक्त संचालित कर देती हैं, उसकी पत्नी कहीं उससे दूर आगरा के किसी गाँव में पड़ी है—उसकी झोंपड़ी के दीपक में तेल भी नहीं है; पर किसे चिन्ता! प्रकाश से पैसा वसूल करने वाले कुर्कियाँ ला रहे हैं—"रुपये वालों के दिल नहीं होता। जिन लोगों के घर में लाखों रुपये पड़े हैं, वे भी दो दिन की मोहलत नहीं देते, एक पैसे की भी छूट नहीं देते।"

माया, जो रात को नसीम बनकर, अपने भाइयों को कालेज की शिक्षा और पिता के शानदार विलासी जीवन का क्रम जारी रखने के लिए अपना रूप बेचती है, रेशम की रामनामी से ढके समाज का यथार्थ रूप सामने रखती है—"उधर देखो, उस पलंग की सफेद चादर पर इस नगर के न जाने कितने रईस युवक और बूढ़े भो अपने हृदय की कालिमा बिखरा गए हैं।"

छाया, प्रकाश की पत्नी के ये प्रेरक और बड़े-से-बड़े शास्त्र से भी अधिक मानव-हितैषी शब्द, "रुपये को अपने सिर पर न चढ़ने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का सुख न छीनने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का अपमान न करने दो मनुष्यो!" साम्यवाद का सार निकालकर रख देते हैं। ये आर्थिक बुनियाद पर नये समाज का भवन-निर्माण करने का भव्य सन्देश देते हैं और वह पतित जीवन को उत्थान-मार्ग पर अग्रसर करने का भी दिव्य आदेश देती है, "पापी को हाथ पकड़ उठाना सीखो, उसके मुख पर अपयश की कालिमा पोतकर नीचे गिराना नहीं।"

'छाया' में मानव के आर्थिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन के उत्थान की चेष्टा है। इसमें प्रेमी जी ने 'मानव' को 'साध्य' या 'उद्देश्य' के रूप में देखा है, अन्य नाटकों में वह साधन-मात्र है। इसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा चरित्र-विकास भी अत्यन्त सफल और प्रशंसनीय है। 'छाया' में आहत उपेक्षित मानव को आश्रय देने के लिए 'काम' का आधार प्रदान करने की भी झाँकी है। इसमें काम-समस्या को लिया गया है, यह तो नहीं

कहा जा सकता, उसके जीवन में कितना महत्त्व है, इसका संकेत अवश्य है। माया एक रूप बेचने वाली युवती है, फिर भी उसके मानवीय गुणों पर मस्तक नत होता है। ज्योत्स्ना पति के आतंक की छाया में अपने रूप का लाभ उठाती है—ये दोनों नारी ही प्रकाश के बुझते दीपक में स्नेह डाल सकीं और उन्होंने उसकी रक्षा की। छाया आस्था, श्रद्धा और आत्म-विश्वास की प्रतिमा है। इस नाटक में प्रेमी जी परिस्थिति की चपेटों से आहत मनुष्य के घावों पर सहानुभूति का शीतल-अमृत आलेप लगाते हुए मिलते हैं।

'छाया' में आर्थिक शोषण और विषमता का जो घातक स्वरूप व्यक्ति के जीवन का रक्त चूसते हुए दिखाया गया है, 'बन्धन' में वह और भी अत्यन्त व्यापक बनकर आया है—वह सामाजिक अभिशाप बनकर उपस्थित हुआ है। विषमता का बहुत ही भयंकर रूप नाटक में उपस्थित किया गया है। पैसे के बल पर नारी का सतीत्व भी खरीदा जा सकता है, यह एक कैदी के वार्तालाप से स्पष्ट है। आर्थिक विषमता समाज की सबसे कठिन और उलझनभरी समस्या है। विश्व के बड़े-बड़े अर्थ-शास्त्र-विशारद इसे हल करने में सिर खपा रहे हैं—साम्यवाद का आविर्भाव भी इसी की देन है। प्रेमी जी ने 'बंधन' में इसी आर्थिक शोषण का चित्र उपस्थित किया है—इसी विषमता की चक्की में पिसते हुए समाज की कराहों को कला की बाँसुरी के सुरों में उन्होंने भरा है। सामाजिक जीवन की आर्थिक समस्या को सुलझाने का प्रयास ही 'बंधन' का प्रमुख उद्देश्य है। मिल-मालिक और मजूर का संघर्ष इस नाटक की कथावस्तु है।

खजांचीराम मिल का मालिक है। सभी शोषक मालिकों के समान वह भी मजूरों की माँग पूरी नहीं करना चाहता। युद्ध के कारण खर्च बढ़ गया है, वह न तो उनका वेतन बढ़ाता है, और न मँहगाई-भत्ता आदि ही देता है। मजूर विवश होकर हड़ताल कर देते हैं और लाठी-चार्ज आदि होता है। मोहन (मजूरों का नेता) की समझदारी से संघर्ष चलता रहता है। गाँधीवादी युग में यह नाटक लिखा गया है, इसलिए गांधी-दर्शन का आधार ही समस्या के हल करने का साधन बनाया गया है। सरला कहती है, "सत्याग्रह शत्रु का नाश या नुकसान नहीं करता। वह तो उसकी मरी हुई आत्मा को जीवित करता है। मजदूरों का कष्ट-सहन एक दिन रायसाहब (खजांचीराम) के हृदय में प्रेम का समुद्र लहरा देगा।"

समस्या का हल गांधीवादी तरीकों से किया गया है। मजूरों के कष्ट-सहन और अहिंसात्मक रहने तथा मोहन के आदर्श चरित्र, उसके अभूतपूर्व

आत्म-त्याग और अहिंसात्मक नेतृत्व के कारण रायसाहब खजांचीराम का हृदय परिवर्तित हो जाता है। साथ ही प्रकाश द्वारा पिता की जान लेने का प्रयत्न भी उसके दिमाग को बदलने में सहायक होता है। मजूरों की सभी माँगें मान ली जाती हैं। मालिक-मजूर में मेल हो जाता है। खजांचीराम कहता है, "आज मैं सब-कुछ दे डालना चाहता हूँ। लक्ष्मण, यह तुम लोगों का ही तो रुपया है, जो हमने अपनी तिजोरियों में कैद कर रखा है। लक्ष्मी को हमने कैद करना चाहा लेकिन वह हमारी कैद में खुश नहीं है। वह मुक्त होना चाहती है। जब तक वह मुक्त न होगी, संसार में मार-काट, हिंसा बनी रहेगी······मोहन बाबू ने मुझे नया जन्म दिया है।"

आर्थिक विषमता ही ऊँच-नीच की बुनियाद है। विषमता दूर हुई तो मानव सभी बराबर। यह बात लेखक ने मोहन और मालती (खजांचीराम की पुत्री) के विवाह से इङ्गित कर दी है।

वर्तमान का चित्रण

'छाया' और 'बन्धन' में तो वर्तमान जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक चित्र हैं ही, उनके अन्य ऐतिहासिक नाटकों में भी वर्तमान बोल रहा है। पुरातन और नवीन का स्वस्थ संगम, जिस रचना में नहीं होगा, भूत तथा वर्तमान का सामंजस्य जिसमें न होगा, वह हमारे भविष्य का भी निर्माण नहीं कर सकती, यह निर्विवाद है। प्रेमीजी के नाटकों की प्रेरणा है वर्तमान। वर्तमान का निर्माण ही उनका उद्देश्य है, वर्तमान साध्य है, भूत साधन।

उनमें वर्तमान अनेक रूपों में सजग और सक्रिय दिखाई देता है। राष्ट्रीयता—देश-भक्ति उनके सभी नाटकों में व्याप्त है। सामन्ती युग यद्यपि समस्त भारतीय भावना का युग नहीं; फिर भी अपनी जन्मभूमि, छोटा-सा देश भी प्रतीक रूप में समस्त भारत की भक्ति की प्रेरणा बनकर आया है। हिन्दू-मुसलिम-एकता भी वर्तमान राष्ट्रीय पुकार का ही सजग उत्तर है। साम्प्रदायिक सहिष्णुता गांधीजी के जीवन की विशेष साधना रही है। उसी साधना को प्रेमीजी ने अपने नाटकों में सिद्धि के रूप में उपस्थित कर दिया है। कर्मवती का हुमायूँ को राखी भेजना और उसे भाई बनाना और हुमायूँ का चित्तौड़ की रक्षा के लिए आना ही दोनों सम्प्रदायों की एकता की सफलता का द्योतक है। 'रक्षा-बन्धन' में साम्प्रदायिक एकता का स्वप्न साकार बन गया है। 'स्वप्न-भंग', 'शिवा-साधना', 'रक्षा-बन्धन' और 'मित्र' आदि सभी नाटकों में साम्प्रदायिकता के भाव हैं।

यह राष्ट्रीय आन्दोलन का ही प्रभाव है कि 'शिवा साधना' में स्थान-स्थान

पर 'क्रान्ति'-'क्रान्ति' की पुकार है। 'स्वराज्य'-'स्वराज्य' की गूँज है। शिवाजी कहता है, "मेरे शेष जीवन की एक-मात्र साधना होगी, भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अंत करना सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।"

'स्वप्न-भंग' में दारा कहता है, "मैं धनी-निर्धन विद्वान्-अविद्वान्, और छोटे-बड़े का भेद मिटाना चाहता हूँ कि संसार एक मजदूर के पुत्र की मृत्यु का दुःख भी उतना ही अनुभव करे, जितना कि वह शाहजहाँ की पत्नी की मृत्यु का करता है।" दारा के ये शब्द एक समाजवादी विचारों के युवक के ही जान पड़ते हैं।

वर्तमान का चित्रण सबसे अधिक हमें 'उद्धार' में मिलता है। "स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार है।" 'जिस' शासन में जनता की आवाज नहीं सुनी जाती, 'उसके' नियमों को भंग करना जनता का कर्तव्य हो जाता है।" "हमें किसी व्यक्ति, देश या संस्कृति के विरुद्ध भावना नहीं भरनी चाहिए।"—ये पंक्तियाँ गांधीजी के विचारों की ही प्रतिध्वनियाँ हैं। 'उद्धार' में सामाजिक आन्दोलनों का भी स्पष्ट प्रभाव है। विधवा-विवाह आर्यसमाज के प्रचार का विशेष अंग था। इस युग में विधवा-विवाह बुरा भी नहीं समझा जाता। इसी विधवा-विवाह का समर्थन हमीर के शब्दों में देखिये, "दुधमुँही बच्चियों का विवाह कर देना और उनके विधवा हो जाने पर उन्हें सभी सुखों से वंचित रखना, इसे तुम समाज की मर्यादा कहती हो? नहीं कमला, यह घोर अत्याचार है। हमें समाज के पाखण्डों के विरुद्ध विद्रोह करना है।"

वर्तमान युग में धर्म-सम्बन्धी विचारों में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। इन विचारों का आभास 'शिवा-साधना' में समर्थ गुरु रामदास के उपदेशों में देखा जा सकता है: "केवल करताल और मृदंग-ध्वनि से भूखे राष्ट्र का पेट नहीं भरा करता. केवल तुलसी की माला से शान्ति प्राप्त नहीं होती। देश की आर्थिक स्थिति सुधारना सर्वप्रथम कर्तव्य है और वह तब तक नहीं सुधरती जब तक देश पराधीन---परतंत्र है।"

प्रजातंत्रीय विचार भी बहुत-से नाटकों में बिखरे मिलते हैं। ऊँच-नीच की भावना का तिरस्कार, मानव-समानता, कृषक-मजूरों के प्रति प्रेम भी जहाँ-तहाँ पाया जाता है।

हास्य का समावेश

प्रेमी जी के नाटकों की पृष्ठ-भूमि युद्ध-काल की है—सभी में मुस्लिम-काल के भारत की स्थिति का चित्रण है। युद्ध के समय हास्य कम ही सूझता है, पर सैनिकों के रात-दिन के युद्ध और व्यस्तता के जीवन में हास्य होता अवश्य है—और काफी मस्तियों से भरा। हर नाटक में हास्य हो ही, यह आवश्यक नहीं; पर उससे नाटकीय महत्त्व बढ़ अवश्य जाता है।

प्रेमी जी ने हास्य या विनोद की सृष्टि विदूषक को अस्वाभाविक रूप में स्थान न देकर, किसी पात्र का निर्माण करके की है। 'रक्षा-बन्धन' में धनदास हास्य का अच्छा आलम्बन है। धन ही उसका सब-कुछ है, इसी को प्रकाशित करने में वह खासा हास्य उत्पन्न कर देता है। राजनीति और पेट का सम्बन्ध बताते हुए वह कहता है—

"अरे बड़ा पेट न हो तो गालियां, बदनामियां, अपमान और जूतियां और इन सबके साथ-साथ दुनिया-भर की सम्पत्ति और ज़माने-भर का प्रभुत्व कहां हज़म हो? जो इन्हें हज़म नहीं कर सकता, उसका बाप भी सात पीढ़ियों तक सफल राजनीतिज्ञ नहीं हो सकता।"

इसी दृश्य में धनदास की कमर पर बाघसिंह की लातें पड़ती हैं, यह घटना भी हास्य उत्पन्न करेगी, धनदास के प्रति करुणा नहीं। 'रक्षा-बन्धन' का दूसरे अंक का प्रथम दृश्य भी धनदास के लिए है—इसमें भी हास्योत्पादक वातावरण है। अपनी पत्नी से धनदास कहता है, "मैं क्या बेवकूफों की तरह मरूँगा! महीना दो महीना तुम्हारे इन कोमल हाथों से सेवा न कराई, हिरिणियों को शर्माने वाली इन बड़ी-बड़ी आंखों में आंसू न देखे तो मरने का मजा ही क्या आया? यह भी कोई मरना है कि तलवार लगी और सिर धड़ से अलग।"

तीसरे अङ्क का पहला और छठा दृश्य हास्य-विनोद से पूर्ण है।

'उद्धार' में भी जाल का चरित्र बहुत विनोदी है। वह अपने हँसोड़ स्वभाव से कमला के वैधव्यपूर्ण धुँधले जीवन में मुस्कान की किरणें बिखराता रहता है—

"कमला—कौन-सी बात काका जी?

जाल—पहले मुँह मीठा करा, पीछे बताऊँगा।

कमला—ऊहूँ, पहले बात बताइये।

जाल—ऊहूँ, पहले मुँह मीठा करा।

कमला—मीठा खाने से पेट में कीड़े पड़ जाते हैं।

जाल—मीठी बात सुनने से हँस-हँस कर पेट फट जाता है।"

ऊपर के प्रसंग में सुरुचिपूर्ण और सरल-विनोद है। जहाँ भी कमला और जाल मिलते हैं प्रसंग विनोद की ओर वह निकलता है। कमला का उदास जीवन क्षण-भर को मुसकान की ज्योति पाकर खिल उठता है।

'बन्धन' में भी हास्य के अच्छे छींटे फेंके गए हैं। छोटे-छोटे बालक रायबहादुर खजाञ्चीराम की नकलें उतारते हैं। हास्य का अच्छा मसाला जुट जाता है—

"चौथा—इतनी जगह यों ही घेर रखी है न।

पहला—नहीं, एक कमरे में सेठ-साहब की टाँगें रहती हैं, एक में सिर, एक में हाथ।

दूसरा—तो क्या इनके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और फिर जुड़ जाया करते हैं?

तीसरा—शायद उनका जादू का शरीर है।

चौथा—यह रावण की सन्तान है रावण की।"

एक अगले दृश्य में बालक सेठ जी का जन्म-दिवस मनाने की नकल करते हैं। वह एक गुड्डा बनाकर उसे सेठ बताते हैं और जन्म-दिवस पर एकत्र होने वाले रईस और कोतवाल बनकर नकल करते हैं। 'जन्म-दिवस गुड्डे का आज' इस गाने में भी हास्य की पर्याप्त सामग्री है।

'शपथ' में भी प्रेमी जी ने गुदगुदी भरे हास्य की स्थिति जुटाने में खूब सफलता पाई है। उज्जयिनी की एक मधुशाला का दृश्य है। शराबियों की बहक सदा से हास्य का आलम्बन रही है। 'शपथ' में भी मधुशाला का दृश्य दर्शकों को हास्य-विभोर कर देता है। शराबियों के ऊट-पटाँग तर्क-वितर्क, उनकी बे-सिर-पैर की बात-चीत, उनके शास्त्र-ज्ञान और साहित्य-चर्चा का हास्य-गद्‌गद् चित्र उपस्थित कर दिया गया है। आपसी बहस में दो मद्यप शोर करने लगते हैं। कोलाहल सुनकर मधुशाला का स्वामी आता है—

"मधुशाला का स्वामी—यह कोलाहल कैसा?

जयदेव—कोलाहल! कोलाहल! भैया कोलाहल किस वस्तु की संज्ञा है?

धर्मदास—कोलाहल हालाहल का भाई है।

मधु०—बस चुल्लू में उल्लू हो गए।

धर्मदास—तुम मनुष्यों को उल्लू बनाने का व्यवसाय करते हो। अच्छा तो सब प्रकाशित दीपों को बुझा दो।

जयदेव—हाँ, बुझा दो और आकाश से चन्द्रमा को भी हटा दो।

मधु०—क्यों ?

धर्मदास—अन्धकार होने पर तुम दिखाई पड़े तो हम समझेंगे कि हम उल्लू हैं और नहीं दिखे तो समझेंगे तुम उल्लू हो।

मधु०—अच्छा बाबा, उल्लू मैं ही हूँ। अब तो घर जाओ।"

इस पूरे दृश्य में हँसाते-हँसाते लोट-पोट कर देने की शक्ति है। हास्य के समावेश से 'प्रेमी' जी के नाटक बड़े जानदार बन गए हैं और उनसे दर्शकों को काफी रसानुभूति होती है।

: ५ :

लक्ष्मीनारायण मिश्र

बीसवीं शताब्दी जीवन की नई उलझनें लेकर आई। अतीत की अपेक्षा वर्तमान ने सजग साहित्यकों और विचारकों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित किया। फलस्वरूप यूरोप में प्राचीन ऐतिहासिक या काल्पनिक नाटकों की प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। अतीत के काल्पनिक प्रासादों में शरण लेने की अपेक्षा विचारक लेखकों ने वर्तमान के यथार्थ जीवन के जीर्ण-जर्जर भवनों की मरम्मत करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। यूरोप में इब्सन, स्ट्रंडबर्ग, शॉ आदि विचारकों ने नाटकों की प्रवृत्ति ही बदल दी। सामाजिक समस्या-नाटकों की रचना होने लगी। इन महान् कलाकार विचारकों का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी भी नये प्रकाश से मुँह कैसे फेर लेती। हिन्दी में भी समस्या-नाटक लिखे जाने आरम्भ होने लगे।

यों तो 'प्रसाद' जी ने ऐतिहासिक आधार लेकर 'ध्रुव स्वामिनी' लिखा था। वह भी नारी और शासन की समस्याओं का हल है। पर समाज की नवीन जीवन-सम्बन्धी समस्याओं को विशाल रूप में लिया श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र ने। हिन्दी में वर्तमान समाज के यथार्थ जीवन की उलझन-भरी समस्याओं को लेकर नाटक लिखने का सर्व-प्रथम श्रेय लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। मिश्र जी ने हिन्दी-नाटकों में एक नवीन विचार-पद्धति को जन्म दिया है। टैकनीक भी आपने नवीन दी है और भावुकता से बहुत-कुछ पीछा छुड़ाकर नाटक-साहित्य को विचार-प्राधान्य की ओर मोड़ा। 'प्रसाद' जिस प्रकार अतीत भारतीय गुण-गौरव के गायक हैं, प्रेमी मध्यकालीन सामन्ती युग के शौर्य और शक्ति के चितेरे हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करने वाले प्रथम विचारक हैं। यद्यपि मिश्र जी ने 'अशोक' और 'वत्सराज' दो ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं, पर आप हिन्दी में समस्या-नाटक-रचयिता के नाम से ही स्मरण किये जायंगे। शैली, प्रकार, (टैकनीक) उद्देश्य और कला-कुशलता—सभी

दृष्टियों से आप पश्चिम से प्रभावित ही नहीं, उसका अनुकरण करने वाले हैं।

रचनाओं का काल-क्रम

समाज के स्तम्भ	सन् १९०२ ई० (अनुवाद)
संन्यासी	,, १९३१ ,,
राक्षस का मंदिर	,, १९३१ ,,
मुक्ति का रहस्य	,, १९३२ ,,
राजयोग	,, १९३४ ,,
सिन्दूर की होली	,, १९३४ ,,
आधी रात	,, १९३७ ,,
अशोक	,, १९३९ ,,
गरुड़ ध्वज	......
नारद की वीणा	......
गुड़िया का घर	......
वत्सराज	,, १९५० ,,

बुद्धिवाद का प्रवर्तन

लक्ष्मीनारायण मिश्र बुद्धिवादी कलाकार हैं। अपने नाटकों द्वारा बुद्धिवाद के आधार पर समाज और व्यक्ति की समस्याओं का सुलझाव उपस्थित करने की ईमानदार चेष्टा इन्होंने की है। नाटकों में चली आती पुरानी काल्पनिक भावुकता को आपने त्याग दिया है। कोरी भावुकता को आपने केवल अनर्गल और व्यर्थ बताया है। 'मुक्ति का रहस्य' में दी गई कैफियत, 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' में आप लिखते हैं, "लेखक की सबसे बड़ी चीज उसकी भावुकता नहीं, उसकी ईमानदारी है—वह साधक है, दलाल नहीं।······ हमारे अधिकांश लेखक जिन्दगी की ओर से आँखें बन्द करके कल्पना और भावुकता का मोह पैदा कर, जिस नये जगत् का निर्माण कर रहे हैं, उसमें जिन्दगी की धड़कन नहीं है। मनुष्य का रक्त-मांस भी नहीं मिलता। शायद मोम के रँगे पुतलों से लेखक जो चाहता है, कराता है। लेखक जब चाहता है, हँस देता है, रो देता है, व्याख्यान देने लगता है—या प्रेम करने लगता है—उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। कल्पना का जीव कल्पना से आगे नहीं बढ़ता।"

कोरी काल्पनिक भावुकता का तिरस्कार करके मिश्र जी ने बुद्धिवाद को

अपनाया है। वह मानते हैं कि भावुकता या कल्पना से व्यक्ति या समाज का न तो निर्माण ही हो सकता है, न उसका हित ही। न भावुकता की फुलझड़ियों में मानव का प्राकृतिक जीवन विकसित हो सकता है और न उसका स्वास्थ्य ही कायम रह सकता है। जो लोग बुद्धिवाद को हानिकर समझते हैं और केवल श्रद्धा और भावुकता के सहारे जीवन चलाना चाहते हैं वे भ्रम में हैं। वह लिखते हैं, "बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में शूगर-कोटेड कुनैन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है। उसका घाव गहरा तो होता है, लेकिन अंग-भंग करने के लिए नहीं, मवाद निकालने के लिए, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन-नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए।"

कुछ लोग कहते हैं कि बुद्धिवाद पर आधारित तर्क की यात्रा का छोर कहाँ होता है, यह कोई नहीं बता सकता। तर्क किये जाइए, अनेक बातें अनिश्चित ही रह जाती हैं। कभी भी केवल बुद्धिवाद के सहारे किसी परिणाम की पकड़ नहीं हो सकती। बुद्धिवाद ही आगे चलकर अविश्वास और संदेह-वाद का रूप धारण कर लेता है। इसके उत्तर में मिश्र जी ने कहा है, "मेरा अपना विश्वास तो यह है कि बुद्धिवाद स्वतः अनन्त विश्वास है। इसमें भ्रम और मिथ्या को स्थान नहीं।" इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धिवाद का विरोध प्रकाश की अवहेलना करके अन्धकार में जाने के समान है। पर केवल प्रज्व-लित आग को ही यदि आँखों का दृश्याधार बनाया जाय तो निश्चित ही आँखें अपना प्रकाश खो बैठेंगी।

जीवन की समस्त समस्याएं सुलझाने के लिए बुद्धिवाद ही एक-मात्र आधार है, ऐसी लेखक की आस्था है। अपने नाटकों में अनेक स्थानों पर पात्रों से यह उन्होंने कहलाया भी है। 'सिन्दूर की होली' में मनोरमा लेखक के समान ही अनन्त विश्वास के साथ कहती है, "संसार की समस्याएं, जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं, वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि ही से मिलेगा।"

लेखक के बुद्धिवाद की विजय सबसे अधिक 'मुक्ति का रहस्य' में पाई जाती है। 'राज योग' में भी बुद्धिवाद के द्वारा प्रेम समस्या का सन्तोषजनक हल है। यद्यपि इन दोनों नाटकों में भी भावुकता या समाज-संस्कार से लेखक अपना पीछा नहीं छुड़ा सका। उमाशंकर से विदा होते हुए आशादेवी के संवाद कोरी भावुकता के सिवा कुछ नहीं। त्रिभुवन नाथ से समझौता बुद्धि-

वादी आत्म-सन्तोष है ही, इसमें नारी का आत्म-समर्पण भी है। इस आत्म-समर्पण में समाज-संस्कार का सबल आदेश है। इसमें नारी की यह भावना कि 'एक व्यक्ति से जब उसका शारीरिक सम्बन्ध हो गया तो वह उसकी हो गई, और के लिए पवित्र न रही,' भी काम कर रही है। हम जानते हैं, इतिहास में अनेक ऐसी मनगढ़न्त कहानियाँ हैं, जिनमें एक नारी किसी पुरुष के पंजे में फँसकर उसी की हो गई है। क्या आशा देवी का आत्म-समर्पण इसी प्रकार का नहीं ?

'राजयोग' का बुद्धिवाद कुछ अधिक सबल और विश्वसनीय है। नरेन्द्र चम्पा का त्याग कर देता है वह यदि भावुकता में ही पड़ा रहता तो उसका जीवन भी नष्ट होता और चम्पा और शत्रुसूदन के जीवन-विनाश की भी आशंका हो सकती थी। तीन जीवनों के नष्ट करने की अपेक्षा यही अच्छा है कि तीनों अपना-अपना स्वस्थ जीवन बितायें। चम्पा को समझाते हुए नरेन्द्र कहता है, "मैंने यह वेश केवल इसलिए बनाया है कि मैं तुम्हें समझा दूँ, तुम्हारे रास्ते से हट जाऊँ। तुम नया उत्साह और नये जीवन-बल से जीवन आरम्भ करो। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक आधार पर नहीं, नितांत भौतिक है। उसे और भी आकर्षक, सम्मोहक और विनाशक बनाने के लिए आध्यात्मिक रंग चढ़ाया जाता है।"

आगे वह और भी समझाता है, "प्रलय तो हो चुकी। अब तो फिर सृष्टि हो रही है। इसमें रुकावट न डालो। इसे होने दो। हाँ, होने दो। हमारा··· हम सब लोगों का नया जन्म हो, नई परिस्थिति और नई जगह में हम लोग इस तरह मिलें, जैसे पहले-पहल मिल रहे हों। नारी-समस्या प्रस्तावों और तब तक नहीं सुलझाई जा सकती जब तक कि स्त्री स्वयं अपना हृदय व्याख्यानों से न बदले।···बस इसी क्षण—इसी क्षण तुम्हें अपना हृदय बदल देना होगा। नहीं तो फिर तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं—और तुम्हारा असंयम हम हम सब को ले डूबेगा।"

बुद्धिवाद के द्वारा जिन समस्याओं को मिश्र जी ने सुलझाना चाहा है, उनका ऐसा समाधान नहीं हो पाता कि मस्तिष्क मान ले और तर्क निरुत्तर हो जाय। गल्ती तो घटनाओं के चुनाव और परिस्थिति में है। यह बात तो समझ में आती है कि आँसुओं और उच्छ्वासों में जीवन नष्ट न करके समाज का स्वस्थ सदस्य बनाना ही श्रेयस्कर है। प्रेम-गाथाओं की भावुकता हास्यास्पद ही नहीं, मूर्खता भी है—नाटकों में समस्या अधिक गम्भीर और उलझन

भरी हैं, उनका सुलझाव भी सबल और बुद्धिगम्य होना चाहिए। यह मिश्र जी कर नहीं पाए।

विवाह पर आध्यात्मिक आवरण चढ़ाकर भी हम नहीं देखते, न ही इसे किसी धार्मिक या अगले जीवन के सम्बन्ध से हम जोड़ने के लिए आकुल हैं, पर इसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को हम मुख्य स्थान देते हैं। प्रश्न है, व्यक्ति प्राकृतिक रूप में स्वाधीन रहे, या समाज उसे अनेक बन्धनों की शृङ्खला में बाँधकर आत्म-सन्तोष का नशा पिलाकर रखे। 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' की ही बात लीजिए। 'राजयोग' में चम्पा अपनी इच्छा के विरुद्ध शत्रुसूदन को दे दी गई। समाज का यह अधिकार-उपभोग ही रहा। अब यदि इसी प्रकार माँ-बाप या समाज की इच्छा पर किसी को भी किसी के गले मढ़ दिया जाय, तो क्या समस्या का हल यही है कि वह परिस्थिति से समझौता करके आत्म-सन्तोष करे? तब तो समस्याएं सुलझने के स्थान में और भी उलझेंगी और व्यक्ति का विनाश ही होगा। विवाह, जो आज इतना दूषित ही नहीं, एक सामाजिक अपराध भी बन गया है, इसीलिए तो लड़खड़ा रहा है, कि इसने व्यक्ति की स्वाधीनता को चर लिया है।

यही बात 'मुक्ति का रहस्य' में भी है। आशादेवी उमाशंकर को प्यार करती है और उसे प्राप्त करने के लिए उसने उमाशंकर की पत्नी को विष देकर मारने का भी जघन्य कार्य किया। वहीं त्रिभुवननाथ के द्वारा उपभोग की जाती है। इसी विश्वास पर सम्भवतः वह उसके शरीर का इस्तैमाल करता है कि अब यह उमाशंकर के काम की नहीं रही। आशादेवी त्रिभुवन को ही अपना पति बना लेती है। इससे तो यही तात्पर्य निकला कि विवश करके, छल-कपट से किसी भी नारी का उपभोग करने से वह उपभोक्ता को मिलती जायगी।

दोनों प्रकार के ऐसे सुलझावों से तो समस्या और भी उलझेगी ही। नारी की पवित्रता का वह विश्वास बना ही रहेगा, जिसे बिगाड़कर एक नारी अन्य के काम की न रहेगी। इसका प्रमाण सामने है। पाकिस्तान से आई हिन्दू-लड़कियों के साथ, कोई विवाह करने को तैयार नहीं होता। वे अपवित्र समझी जाती हैं। हाँ, यदि यह मिश्र जी दिखाते कि ग़लती से विवशता के कारण आशादेवी धार्मिक परिभाषानुसार भ्रष्ट हो गई और यह जानने पर भी उमाशंकर उसे स्वीकार कर लेते हैं, तब समस्या का सही हल होता। यह शायद अधिक बुद्धि-सम्मत और व्यक्ति तथा समाज के निर्माण में अधिक सहायक होता। पर किसी भी नाटक में वह ऐसा कोई हल उपस्थित नहीं

कर सके, सभी में केवल परिस्थिति की स्वीकृति या आत्म-समर्पण ही है। 'सिन्दूर की होली' में भी यदि बुद्धिवाद के द्वारा मनोजशंकर यह जानते हुए भी कि मुरारीलाल ने उसके बाप का वध किया, चन्द्रकला को स्वीकार करता तो शायद समस्या के सुलझाव का दिव्य उदाहरण होता।

संवादों में समस्याओं की विवेचना है, उनके हल करने के लिए तर्क दिये गए हैं। पर न तो शरत् के 'शेष-प्रश्न' की कमल-जैसे बुद्धिवादी पात्र ही मिश्र जी निर्मित कर सके और न तर्क ही ऐसे दे सके कि पाठक अभिभूत हो जायं। न तो इनके पात्रों में, न घटनाओं में और बुद्धिवाद में ही 'महान्' के दर्शन होते हैं। महान् व्यक्तित्व के बिना बुद्धिवाद इच्छित प्रभाव डालने में असमर्थ रहेगा। ऐसे स्थल अधिक नहीं, जहाँ पाठक का हृदय और मस्तिष्क मिश्रजी के बुद्धिवाद के चरणों में विश्वास के साथ आत्म-समर्पण कर दे। पात्रों का मानसिक स्तर बहुत ऊँचा नहीं हो पाया। न ही उनकी वाणी में वह चमक आई और न इतनी शक्ति कि हमें उनकी बात माननी ही पड़े।

पर मिश्रजी का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय कहा जायगा, उन्होंने बुद्धिवाद का द्वार तो हिन्दी में खोला—नई दिशा में कदम तो बढ़ाया और सफलता के साथ।

समाज और समस्या

सामाजिक सम्पर्क, सभ्यता के विकास, पश्चिमीय राष्ट्रों के राजनीतिक प्रभुत्व और व्यक्तिगत जीवन में अनेक उलझनें उत्पन्न होने के कारण विश्व के मानव के सामने अनेक समस्याएं उपस्थित होती चली जा रही हैं। मानव-जीवन का जब से इस धरती पर उदय हुआ, उसके सामने नित्य नई समस्याएं आती रही हैं और वह उनको सुलझाने का प्रयत्न करता रहा है। पर आज जिस रूप में ये समस्याएं मानव को परेशान कर रही हैं, उस रूप में पहले कभी नहीं करती रहीं। मिश्रजी ने अपने नाटकों द्वारा इन समस्याओं का हल उपस्थित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। 'संन्यासी,' 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'आधी रात', 'सिन्दूर की होली'—सभी नाटकों में किसी-न-किसी समस्या का सुलझाव दिया गया है।

रचना-क्रम से मिश्र जी ज्यों-ज्यों आगे बढ़े हैं, समस्या का स्वरूप राजनीतिक से सामाजिक और सामाजिक से वैयक्तिक होता गया है। व्यक्ति ही वास्तव में चिरन्तन सत्य है और व्यक्ति में हैं नारी विशेष रूप से।

'संन्यासी' में भी यद्यपि काम-समस्या को लिया गया है, पर उसमें

मुख्य है राजनीतिक समस्या। जिस युग में 'संन्यासी' का जन्म हुआ, भारत में अंग्रेजी शासन था—एशिया में पश्चिमी राजनीतिक प्रभुत्व था और एशिया भीतर-ही-भीतर अकुला रहा था। इसलिए एशिया के उद्धार के लिए उन दिनों एशियायी-संघ-निर्माण की खासी धूम थी। अनेक भारतीय लाला हरदयाल, राजा महेन्द्रप्रताप, रासबिहारी घोष आदि अमरीका, चीन, जापान आदि में भारतीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील थे। 'संन्यासी' में विश्वकांत और अहमद मिलकर काबुल में एशियायी-संघ की नींव डालते हैं। एशिया को राजनीतिक दासता से मुक्त करने के लिए। 'राक्षस का मंदिर' में सामाजिक समस्या—वेश्या-सुधार—नाटक की प्रमुख भाव-धारा है। रामलाल अपनी सभी सम्पत्ति वेश्या-सुधार के लिए दे जाता है। मुनीश्वर और अशगरी मातृ-मंदिर-भवन की स्थापना करते हैं—यह प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' का ही दूसरा नमूना है। विशेषता इतनी है कि इसमें चुम्बन और आलिंगनों का दान खूब दिया गया है।

इन दो बृहद् राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के साथ ही अपने नाटकों में मिश्र जी ने जीवन की अन्य छोटी-छोटी बातें भी चित्रित कर दी हैं। वे छोटी होते हुए भी समाज की आवश्यक और बुनियादी समस्याएं हैं, जिन पर समाज का भवन खड़ा है—उनका हल न किया गया तो यह भवन लड़खड़ाकर गिर जायगा। समाज के उस घुन को नाटकों में दिखाया गया है, जो धीरे-धीरे हमारे जीवन का स्वास्थ्य छलनी कर रहा है। चुनाव में किस प्रकार भ्रष्टाचार होता है, मनुष्य अपना कर्तव्य भूलकर कैसे अपने लाभ की आशा में समय नष्ट करता है। चुङ्गी के स्कूलों के अध्यापकों की स्थिति क्या है। चेयरमैन बनकर पहले अपनी सड़क बननी चाहिए—आदि बातों पर 'मुक्ति का रहस्य' में अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'सिंदूर की होली' में रिश्वत का जो दारुण रूप दिखाया है, वह भी समाज के सामने एक भीषण समस्या है।

नारी और नर का ज्यों-ज्यों सामाजिक सम्पर्क बढ़ा, प्रवृति के अनुसार जीवन के उपभोग की कामना भी बढ़ी। समाज के कान चौकन्ने हुए और नैतिक बंधन भी कठोर होते गए—और आज व्यक्ति और समाज में काफी कशमकश है। नारी का स्वतंत्र जीवन-विकास भी आज के समाज के सामने एक प्रश्न है। नारी की चिरन्तन समस्या को मिश्र जी ने अपने नाटकों में आदि से अंत तक लिया है। 'संन्यासी' में यदि किरण असफल जीवन का चित्र है, तो मालती बुद्धिवादी समझौता-पसंद नारी का रूप। नारी को

भावुकता की भूमि से हटाकर अपने विचार में स्वयं सोचने की ही नहीं, निर्णय भी करने की चेतना प्रायः सभी नाटकों में मिलती है। प्रेम के भुलावे में पड़कर नारी अपने जीवन को नष्ट न करके परिस्थिति से बुद्धि-सम्मत समझौता करके अपने जीवन और व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण करे, यह अनेक पात्रों के चरित्र से कथित होता है।

ललिता ने रघुनाथ से प्रेम किया, पर उसे मालूम हुआ यह भूल है। उसके निर्माण का मार्ग यह नहीं। वह रघुनाथ को छोड़ देती है। आशा देवी ने उमाशंकर शर्मा से प्रेम किया, पर उसे मालूम हुआ वह उसके लिए बहुत ऊँचा है—आदर्शवादी है, उससे उसे सुख का सन्तोष न मिलेगा, इसलिए वह त्रिभुवननाथ के साथ हो ली। 'राजयोग' की चम्पा भी अतीत को भूलकर शत्रुसूदन को स्वीकार कर लेती है। नरेन्द्र नया जीवन आरम्भ करता है। 'सिन्दूर की होली' की चन्द्रकला का व्यक्तित्व नारी के रूप में दिव्य है और वह भी मनोजशंकर से स्वतन्त्र होकर अपनी समस्या अपने-आप सुलझाने के लिए कटिबद्ध होती है। नारी की आर्थिक समस्या का समाधान भी उसे धनोपार्जन करने वाले प्राणी के रूप में रखकर किया गया है। मनोरमा चित्र-कला द्वारा रोटी कमा लेती है और चन्द्रकला भी कहीं अध्यापन आदि का कार्य करके स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का संकल्प करती है। वह मुरारीलाल से कहती है, "आपने कृपाकर मुझे शिक्षा इतनी दे दी है, कि अपना निर्वाह कर सकूं।"

काम इस युग की व्यापक और उलझनभरी समस्या है। सभ्यता के विकास और विश्व के विभिन्न समाजों के पारस्परिक संपर्क ने इसको बहुत ही विशाल रूप में हमारे सामने रखा है। आदि युग से काम जीवन की असली समस्या रहा है। विवाह-संस्था की स्थापना भी इसी का एक हल निकालने के लिए हुई थी, पर विवाह ने इसे और भी उलझा दिया। काम की अतृप्ति जीवन और समाज को कितना अपराध-ग्रस्त बना रही है, यह फ्रॉयड के ग्रंथों से प्रकट है। वह तो सभी अपराधों की जड़ 'काम' को ही मानता है। इधर आधुनिक शिक्षा, समाज-परिवर्तन, नवीन सभ्यता के आगमन से नारी और पुरुष को सम्पर्क में आने का प्रोत्साहन और अवसर तो मिला ही, पर पुराने संस्कारों ने काम-समस्या को और भी उलझा दिया, तृप्ति की ओर बढ़ने पर उनके पैरों में जंजीर डाल दी।

मिश्र जी ने अपने नाटकों में सर्व प्रथम इस समस्या को लिया। उनके ऐतिहासिक नाटकों को छोड़कर सभी नाटकों में काम-समस्या को तर्क के

आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया गया है और इसके लिए लेखक ने यथार्थ वाद के नाम पर काफी स्वाधीनता का भी उपयोग किया है। स्त्री-पुरुष नैतिक बंधनों, धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक संस्कारों की दासता में पड़कर प्राकृतिक जीवन-विकास का नाश न कर बैठें, इसलिए लेखक ने स्त्री-पुरुष को शारीरिक संबंधों में पर्याप्त स्वतन्त्रता दी है। अशगरी मुनीश्वर से प्राकृतिक आनन्द-लाभ करती है। आशादेवी डॉक्टर त्रिभुवननाथ की तृप्ति का साधन बनने में अधिक आना-कानी नहीं करती : विवाह और प्रेम को भी मिश्र जी ने अलग-अलग रख दिया है। "मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, प्रेमी अवश्य बना लूँगी।" से यह स्पष्ट हो जाता है।

एक व्यक्तिगत मानसिक उलझन को भी मिश्र जी ने बड़ी सफाई से अपने नाटकों में सुलझाया है। युग-युग से अपराध करके, मनुष्य में उसे छिपाने के प्रवृत्ति रही है। प्रकट हो जाने पर वह सामाजिक धार्मिक या नैतिक रूप में जन-समाज में बहिष्कृत न हो, इस भय से यह एक अपराध को छिपाने का दूसरा अपराध भी व्यक्ति के मन में पनपता आ रहा है। सच-मुच यह बहुत घातक विष है, जो मनुष्य के मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य और आत्म-विश्वास को नष्ट कर डालता है। मुरारीलाल, गजराज, आशादेवी आदि पात्र इसी विष से छटपटाते रहते हैं। लेखक ने पाप का प्रायश्चित्त उसे स्वीकार कराकर करा दिया है। आशादेवी स्वीकार करती है कि उसने उमाशंकर की पत्नी को विष दिया। मुरारीलाल स्वीकार करता है कि उसने मनोज के पिता का वध किया, गजराज स्वीकार करता है कि चम्पा उसकी पुत्री है। इस स्वीकृति में ही पाप का क्षय है। नये जीवन का आरम्भ है।

पात्र–चरित्र-चित्रण

'अशोक' और 'वत्सराज' को छोड़कर मिश्र जी के सभी नाटक वर्तमान सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनके सभी चरित्र वर्तमान समाज के पात्र हैं। सामाजिक नाटकों में भी इनके नाटक समस्या-प्रधान होने से पात्र भी यथार्थ जीवन के हैं। किसी में भी आदर्शवादी चरित्र के रंग नहीं मिलेंगे। भारतीय रस-सिद्धान्त की दृष्टि से इन पात्रों से रस का साधारणी-करण नहीं हो सकता और न इनमें से कोई भी पात्र दर्शक का रसालम्बन ही बन सकता। सामाजिक नाटकों के उपयुक्त ही इनके पात्र है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं; पर व्यक्ति-वैचित्र्य का उनमें बहुत आधिक्य हो गया है।

मिश्रजी पश्चिमी साहित्य-दर्शन से बहुत प्रभावित हैं। यूरोप में अभी कुछ दिन हुए 'व्यक्ति-वैचित्र्य ने कलाकारों को बहुत आकर्षित किया था। और इस सिद्धान्त के प्रवर्तक क्रोचे की वहाँ धूम रही थी। यही व्यक्ति-वैचित्र्य मिश्र जी के सभी नाटकों के पात्रों में मिलेगा। सामाजिक और विशेषकर वर्तमान जीवन के नाटकों में अतिवादी चरित्र वाले पात्र प्रायः अस्वाभाविक मालूम होते हैं। उनमें दुःख-सुख, गुण-अवगुण, वीरता-कायरता का मिश्रण प्रायः मिलता है। यही मिश्रण मिश्र जी के पात्रों में मिलेगा। 'राक्षस का मन्दिर' का मुनीश्वर एक ओर तो क्रान्तिकारी है, दूसरी ओर सीमा से अधिक काम-पीड़ित। रामलाल पक्का शराबी है, पर अपनी समस्त सम्पत्ति वेश्या-सुधार में दे डालता है। अशगरी वेश्या है और अन्त में मातृ-मन्दिर की संचालिका बन जाती है। 'राजयोग' के नरेन्द्र और चम्पा में भी यह दुहरा-रंग मिलता है। चम्पा का प्रेमी नरेन्द्र निराश होकर संन्यासी बन जाता है और प्रेम को भूलकर चम्पा और उसके पति शत्रुसूदन से कहता है, "यह अपने मन में मान लिया जाय कि हम लोगों का जन्म आज हो रहा है। हम पहले नहीं थे, जो कुछ था, हमारा भूत था; इस धरती पर हम आज उतरे हैं और आज से ही हम लोगों को अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी है।" यही वैचित्र्य 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी में मिलता है। वह उमाशंकर शर्मा को प्यार करती है और उन्हें पाने के लिए उसकी पत्नी को विष देकर मार देने का भी जघन्य कृत्य करती है। पर अन्त में उसे त्यागकर त्रिभुवननाथ के साथ चली जाती है—उस त्रिभुवननाथ के साथ, जिससे उसने विष प्राप्त किया था, जिसे भेद खुल जाने के भय से उसने अपने शरीर का उपभोग करने दिया। 'सिन्दूर की होली' के मुरारीलाल और चन्द्रकला में ही विलक्षण-वैचित्र्य है। मनोजशंकर के पिता का वध उसने आठ हजार रुपये के लिए किया। उसका हृदय पश्चात्ताप से जर्जर है। पर तुरन्त ही वह रजनीकांत के वध के सिलसिले में चालीस हजार की रिश्वत ले लेता है—और अचानक चन्द्रकला रजनीकांत से प्यार करने लगती है और उसकी विधवा बन जाती है।

चन्द्रकला और आशादेवी का यह वैचित्र्य शानदार स्वाभाविकता कहा जा सकता है। चन्द्रकला ने मनोजशंकर की उपेक्षा और अपने पिता मुरारीलाल के पाप का प्रतिशोध इस भाँति कर दिया। नारी के सजग, सशक्त अन्त का परिचय दिया। आशादेवी सहसा परिवर्तित परिस्थिति की विवशता है। जब वह शारीरिक रूप में त्रिभुवनाथ से इस्तेमाल कर ली गई

तो उसने भी और कोई चारा न देखा। पर मुरारीलाल का विचित्र चरित्र केवल कौतूहल ही उत्पन्न करेगा—जीवन की स्वाभाविकता वह उपस्थित न कर सकेगा। 'राक्षस का मन्दिर' की ललिता भी इसी प्रकार की विचित्रता का चित्र है। यही बात 'संन्यासी' के पात्रों में भी पाई जाती है।

दूसरी विशेषता मिश्रजी के चरित्रों में है भीतर-ही-भीतर एक प्रकार की घुटन की। सभी के मन में जैसे सघन धुएं के बादल जम गए हैं—बारूद का अम्बार लगा है और आशंका है भयानक विस्फोट की। इस दिशा में 'राक्षस का मंदिर' कमज़ोर नाटक है, इसमें मनोवैज्ञानिक हलचल बहुत कम है। 'सिन्दूर की होली' इस चारित्रिक विशेषता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। मुरारीलाल के हृदय में अपराध की बेचैनी घुमड़ती रहती है। चन्द्रकला के हृदय में मनोजशंकर की उपेक्षा और अपने पिता का अपराध काँपता रहता है और मनोजशङ्कर तो भीतर-ही-भीतर घुल-घुलकर बहता रहता है। "मैं आत्म-घाती पिता का पुत्र हूं।" यह वेदना उसके आहत मन को छीलती रहती है। 'राजयोग' में चम्पा और गजराज के हृदय को भी उनका अपराधी अतीत कचोटता रहता है। 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी भी अपने पाप से भीतर-ही-भीतर भस्म होती रहती है।

इस भीतरी बेचैनी और घुमस तथा वैचित्र्य के साथ सभी पात्रों में उलझन भरे रहस्य के भी दर्शन होते हैं। ललिता का रघुनाथ से अचानक प्रेम और अन्त में उसकी अस्वीकृति, गजराज और चम्पा की माँ का यौन-सम्बन्ध, त्रिभुवननाथ और आशादेवी का विवाह, चन्द्रकला का रजनीकांत से प्रेम और मनोजशंकर के प्रति प्रेम को कुचल डालना—खासी उलझनें पैदा करने वाली बातें हैं। सबसे बड़ी उलझन है—चरित्र में सहसा परिवर्तन! यह सहसा परिवर्तन कहीं-कहीं तो अवैज्ञानिक और अस्वाभावि-कता की सीमा को पहुंच गया है। परिवर्तन के लिए लेखक स्वाभाविक और विश्वसनीय परिस्थितियों का निर्माण नहीं कर सका।

भावुकता की अपेक्षा सभी चरित्रों में बुद्धिवाद का प्राधान्य है। वैसे भावुकता से ये पूर्ण रूप से पीछा नहीं छुड़ा पाये—और यह स्वाभाविकता के विरुद्ध भी है। चन्द्रकला का रजनीकांत के प्रति और ललिता का रघुनाथ के प्रति प्रथम दर्शन में ही प्रेम हो जाता है। जो सस्ती भावुकता भी कही जा सकती है। पर ऐसे चरित्र विरले ही हैं। परिस्थितियों से समझौता, जीवन को आँसुओं में न गलाकर उसे उपयोगी बनाना बुद्धिवादी दृष्टिकोण ही है। चम्पा, आशादेवी, नरेन्द्र, मनोरमा आदि सभी चरित्र समाज की

समस्याओं को बुद्धिवादी तरीके से सुलझाते हैं। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा बुद्धिवादी चरित्र का चमकता और गौरवपूर्ण चित्र है। वह मनोज-शंकर से कहती है।'

"संसार की समस्याएं, जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराज के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं। वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।"

मिश्र जी के नारी-चरित्र सबल हैं। उनके अन्दर अपना सशक्त व्यक्तित्व है। चन्द्रकला, मनोरमा, आशादेवी, अरगरी, ललिता—सभी में अपना-अपना अलग अहं है। चन्द्रकला, मनोरमा, आशादेवी तो नारी-जीवन के अत्यन्त सबल प्रतीक हैं। 'वत्सराज' की वासवदत्ता और पद्मा भी दिव्य नारियाँ हैं। एक पत्नी-धर्म का आदर्श तो दूसरी मातृत्व की ममतामयी मूर्ति। कुमार की पद्मा सौतेली माँ है, माँ है, फिर भी कुमार के प्रति उसमें वासवदत्ता से अधिक ममता है। कुमार का गौतम के साथ जान-सुनकर वह पागल-जैसी हो जाती है।

मिश्र जी के नाटकों के चरित्र यथार्थ जीवन के चित्र हैं। वे मनोवैज्ञानिक भँवर में पड़े जीव हैं। उनमें सभी रंग मिलेंगे—पर उनमें बुद्धि की सक्रियता की अपेक्षा हृदय की धड़कन कम पाई जायगी। अपने अपराधों के प्रति भीतर-ही-भीतर घुमस तो उनमें है; पर मानसिक द्वन्द्व की उनमें कमी है।

कला का विकास

मिश्रजी की नाट्य-कला हिन्दी में नया प्रयोग है। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' आदि कलाकारों ने विदेशी कला के स्वस्थ अंग को अपनाया है। उन्होंने भारतीय और पश्चिमी कला का सुन्दर, स्वाभाविक और स्वस्थ सामंजस्य करते हुए भी, प्रमुखता भारतीय नाट्य-कला को ही दी। मिश्र जी ने भारतीय कला को सर्वथा त्यागकर पश्चिमी कला को अपनाया—उसका एक-मात्र अनुकरण इनके नाटकों का अङ्क-विभाजन, कथानक, चरित्र-चित्रण सभी पश्चिमी नाटक-कारों से प्रभावित हैं।

मिश्रजी के सभी नाटकों में तीन-तीन अंक हैं और ये अंक ही दृश्य। प्रत्येक नाटक की कथा तीन अंकों में विभाजित है। पर सभी नाटकों में ऐसा नहीं कि तीन अंक ही तीन दृश्य हों। 'संन्यासी' में एक अंक में ही बीच में दृश्य बदल जाता है। कई-कई दृश्य इसी प्रकार बदल जाते हैं। 'राक्षस का मंदिर' में दूसरा अंक नदी का किनारा है। अंक चल रहा है।

बीच में ही रंग-संकेत के द्वारा असगरी का कमरा आ जाता है। रघुनाथ, ललिता, असगरी, का वार्तालाप चलता रहता है और फिर अचानक रघुनाथ और असगरी का प्रस्थान कराकर पर्दा उठाया जाता है। ललिता का कमरा आ जाता है। यह इस अंक का तीसरा दृश्य है। तीन अंक तो और भी गड़बड़ हैं। शहर की सड़क से तीसरा अंक आरम्भ होता है। सड़क पर महेश जगदीश, घनश्याम बातें कर रहे हैं। अचानक सबका प्रस्थान और पर्दा उठता है। मातृ-मंदिर का भवन सामने आ जाता है। यह दूसरा दृश्य समझना चाहिए। मातृ-मंदिर में ही फिर पर्दा उठता है और ऊपर का बड़ा कमरा दिखाई देता है, जहाँ मुनीश्वर, ललिता आदि बातें करते दिखाई देते हैं। यह तीसरा दृश्य समझना चाहिए।

'राजयोग' भी टैकनीक के इसी रोग से पीड़ित है। पहला अंक आरम्भ होता है, शत्रुसूदन के दुमंजिले बँगले से। रघुवंशसिंह का प्रस्थान होता है। गजराज का उसके पीछे जाना, शत्रुसूदन का अपने कमरे में आना और गजराज तथा रघुवंशसिंह बँगले के सामने की सड़क पर बातें करने लगते हैं, सड़क वाला दृश्य दूसरा ही समझना चाहिए। रंग-संकेत द्वारा मिश्रजी ने जो लम्बा-चौड़ा दृश्य खड़ा किया है, वह एक दृश्य में नहीं समा सकता। इसी प्रकार सड़क और बँगले के अन्य दृश्य साथ-साथ दिखाये गए हैं।

दृश्य-विधान-सम्बन्धी टैकनीक का पूर्ण विकास हम 'सिंदूर की होली' और 'वत्सराज' में पाते हैं। इन दोनों नाटकों में भी तीन-तीन अंक हैं और अंक ही दृश्य। अंकों के बीच में अचानक दृश्य नहीं फूट पड़ता, जैसे अन्य नाटकों में। पर 'वत्सराज' में सबसे बड़ा दोष यही टैकनीक हो गया है। इसमें लगभग दस वर्ष का समय तीन अंकों में बाँट दिया गया है। बीच के समय की कल्पना दर्शक को स्वयं करनी होगी। इस नाटक में टैकनीक के शिकंजे में कथा का स्वाभाविक विकास भिंचकर कुलबुला-सा रहा था।

आधुनिक पश्चिमी नाटकों में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा भीतरी संघर्ष का अधिक महत्व है। भीतरी संघर्ष बाहरी से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं। पर इस महत्व का अर्थ बाहरी संघर्ष का तिरस्कार कभी नहीं समझा जा सकता। बाहरी संघर्ष से ही नाटक में कार्य-व्यापार, गतिशीलता और नाटकीयता आती है। आकस्मिकता, कौतूहल और भावी घटना के लिए धड़कनभरी जिज्ञासा भी नाटक के अनिवार्य अंग हैं। मिश्रजी के प्रायः सभी नाटकों में कार्य-व्यापार और कथानक की गतिशीलता का अभाव है। कई

नाटकों में तो कथा इतनी बिखर गई है कि उसका संबंध भी ढीला पड़ गया है, तब गतिशीलता और सक्रियता (कार्य-व्यापार) की आशा ही नहीं की जा सकती। 'राक्षस का मंदिर' का कथानक भी कुछ इसी ढंग का है। रघुनाथ-ललिता का प्रेम, मुनीश्वर द्वारा मातृ-मंदिर की स्थापना, अशगरी-मुनीश्वर का प्रेम, सभी घटनाएं एक कथा-शृङ्खला की कड़ियाँ मालूम ही नहीं होतीं, सभी जोड़ दी गई हैं।

'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि के कथानकों में भी एक-दो घटनाएं ही हैं। सभी के कथानक निर्बल और शिथिल हैं। 'मुक्ति का रहस्य' में आशादेवी द्वारा उमाशंकर शर्मा की पत्नी को विष दिया जाना, 'राजयोग' में गजराज और चम्पा की माँ का यौन-सम्बन्ध होने से चम्पा का जन्म, 'सिन्दूर की होली' में मुरारीलाल द्वारा मनोजशंकर के पिता का वध, कथानकों की आधार-शिला हैं। सभी घटनाएं परोक्ष में होती हैं और इन्हीं पर कथाओं की इमारतें खड़ी होती हैं। वे इमारतें भी निराकार घटनाओं से ही बनी हैं। इसलिए नाटकों में कार्य-व्यापार का प्रायः अभाव-सा है। नाटकों को तीन अंकों के तीन दृश्यों में बाँधने की टेकनीक ने प्रायः अन्य घटनाओं को भी पर्दे के पीछे ही घटने दिया है और उनकी कहानी-मात्र पात्र सुना जाते हैं।

नाटकीय आकस्मिकता का बढ़िया उदाहरण 'राक्षस का मंदिर' के पहले अंक में मिलता है। मिस्टर बैनर्जी जब मुनीश्वर को गिरफ्तार करने आते हैं तो काफी धड़कनभरा वातावरण उपस्थित होता है। दुर्गा का प्रवेश भी कौतूहलवर्धक है। 'सिन्दूर की होली' में केवल इतनी ही आकस्मिकता है कि चन्द्रकला माँग में सिंदूर भरकर आ जाती है। रजनीकांत को अपना पति मानकर, जब कि सभी यह आशा लगाये होंगे कि उसका विवाह मनोजशंकर से होने वाला है।

'वत्सराज' का तीसरा अंक मिश्रजी के नाटकों में नाटकीयता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। चरित्र, घटना, आकस्मिकता, कौतूहल सभी दृष्टियों से लेखक ने इस अंक में अत्यन्त कला-कुशलता प्रदर्शित की है। उदयन का पुत्र गौतम के साथ हो लिया। उदयन व्यथित है पिता की ममता के कारण, और रोष में है क्षात्र-धर्म की विलीन होती हुई परम्परा के कारण। उत्तेजित रुमण्वान (वत्स सेनापति) प्रवेश करके कहता है, "कौशाम्बी में इन पाखण्डी श्रमणों का प्रवेश न हो।" इस एक वाक्य में ही दर्शकों के कलेजे धड़कने लगते हैं। सेनापति न जाने क्या कर बैठे। पर "तथागत और उनके निरस्त्र श्रमण-शिष्यों

पर तुम शस्त्र का प्रयोग करोगे ?" उदयन का यह प्रश्न ही भविष्य की आशंका टाल देता है। उधर नेपथ्य में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' की ध्वनि आती है। वासवदत्ता और उदयन व्याकुल हो उठते हैं, और पद्मावती माँ की ममता से आहत छटपटाती हुई 'कुमार-कुमार' करती प्रवेश करती है। समस्त वातावरण करुणा, धड़कन, [illegible] और आकुल चंचलता से बेताब हो उठता है। उदयन स्वयं बेसुध हो जाता है। वासवदत्ता और पद्मावती पुत्र का मोह छोड़कर पति की सेवा में लग जाती हैं। थोड़ी देर के बाद कुमार और श्रमण प्रवेश करते है। यहाँ भी दर्शक की जिज्ञासा की अतृप्ति और भी बढ़ती जाती है—न जाने कुमार भिक्षु न बन जाय; पर अंत में कुमार राज-धर्म पालन करने पर राजी हो जाता है और उदयन अपनी दोनों रानियों के साथ वानप्रस्थ लेने को तैयार होता है।

'वत्सराज' का तीसरा सम्पूर्ण अङ्क नाटकीय गुणों से ओत-प्रोत है। यह मिश्र जी का सबसे अधिक स्फूर्तिमय, गतिशील, प्रभावशाली, कौतूहलवर्द्धक और शक्तिशाली दृश्य है। यदि ऐसे ही दृश्य उनके अन्य नाटकों में भी होते उनके सभी नाटक नाट्य-कौशल के आदर्श हुए होते।

कार्य-व्यापार और गतिशीलता के इस अभाव की पूर्ति करने और एक ही समय और अंक की सीमा में बहुत-कुछ भरने के लिए लेखक ने 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' की बड़ी भीड़ लगा दी है। 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'सिंदूर की होली', 'राजयोग', 'मुक्ति का रहस्य', 'आधी रात' सभी में बहुत जल्दी-जल्दी प्रस्थान और प्रवेश का ताँता लग जाता है। इसका कारण है, कई दृश्यों की घटनाएं या चरित्र-विकास एक ही दृश्य में दिखाने का प्रयत्न करना। 'राक्षस का मन्दिर' में पहले अंक में यह प्रवृत्ति भद्दे प्रदर्शन का रूप धारण कर चुकी है। मि० बैनर्जी के आने से पहले मनोहर (मुनीश्वर) और अशगरी का प्रस्थान ठीक है। बैनर्जी और रामलाल बातें करते हैं। मुनीश्वर आता है। बैनर्जी और उसकी बातें होती हैं। अशगरी संकेत करती है आकर, और रामलाल का प्रस्थान। और दो ही संवाद के बाद फिर प्रवेश। एक पृष्ठ के सम्वाद के बाद रामलाल बैनर्जी का प्रस्थान। अशगरी का प्रवेश। दोनों में चुम्बन आलिंगन होने देने के लिए ही मानो दोनों बाहर जाते हैं।

थोड़ी देर बाद रामलाल का प्रवेश होता है। और शराब पीकर फिर प्रस्थान। मुनीश्वर की औरत दुर्गा के जाने पर फिर प्रवेश और रघुनाथ के आने से पूर्व फिर प्रस्थान। इस प्रवेश-प्रस्थान प्रवेश को देखकर लगता है, जैसे लेखक महोदय एक ओर पर्दे की आड़ में खड़े हैं। वह अवसर-बेऊवसर पात्र

की इच्छा-अनिच्छा का विचार किये बिना ही सबको जब चाहा दर्शकों के सामने धकेल देते हैं या एक पात्र को अपनी बात कहने का अवसर देने के लिए दूसरे पात्र को रंगमंच से भगा देते हैं। प्रवेश-प्रस्थान का यह तमाशा अनावश्यक और अस्वाभाविक है।

'सिंदूर की होली' में रामलाल, माहिरअली, इसलिए प्रस्थान कर जाते हैं कि भगवन्तसिंह और हरनन्दन को बातचीत का अवसर मिल जाय। मनोजशंकर, चन्द्रकला को भी अवसर देने के लिए कभी मुरारीलाल, कभी माहिरअली और मनोजशंकर प्रस्थान करता है, कभी कोई प्रवेश। यह प्रस्थान-प्रवेश का क्रम 'वत्सराज' में बहुत कुछ स्वाभाविक हो गया है—सबसे अधिक स्वाभाविक तीसरे अंक में।

नाटककार का विश्वास यथार्थ चित्रण में अटूट है। और इसी यथार्थ-प्रदर्शन के लिए उसने 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' आदि में चुम्बन-आलिंगन की वर्षा कर दी है। इन नाटकों के पात्र मुक्तहस्त हो अभूतपूर्व उदारता से चुम्बन रखेरते और आलिंगन अर्पित करते पाए जाते हैं। 'राक्षस का मन्दिर' का पहला अङ्क तो अश्गरी और मुनीश्वर के इन वीरता पूर्ण चुम्बनों का कुञ्ज है। और जब दुर्गा अपने पति मुनीश्वर के चरणों पर बे-सुध पड़ी है, तब भी अश्गरी को चुम्बन चाहिए।

मिश्र जी के नाटक सामाजिक और उनके कथानक और चरित्र भी वर्त-मान जीवन के ही हैं। इन चरित्रों में प्राचीन परिभाषानुसार नायक-नायिका आदि खोजना भूल है। यथार्थ जीवन के चरित्रों में आदर्श खोजना और उनसे भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार साधारणीकरण की आशा करना भी उचित नहीं। मिश्र जी के सभी नाटकों के चरित्रों में ('अशोक' और 'वत्सराज' को छोड़कर) पश्चिमी वैचित्र्य भारी मात्रा में मिल जायगा। सभी चरित्रों में विचित्रता लाने में लेखक अत्यन्त सफल हुआ है। 'राक्षस का मन्दिर' के रामलाल, मुनीश्वर, ललिता और अश्गरी; 'मुक्ति का रहस्य' के त्रिभुवननाथ और आशादेवी; 'सिन्दूर की होली' के मुरारीलाल, मनोजशंकर और चन्द्रकला; 'राजयोग' के गजराज और नरेन्द्र; 'संन्यासी' के विश्वकांत आदि सभी में व्यक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होंगे। इसमें चारित्रिक दुहरे पहलुओं का मेल है।

स्वगत, अर्धस्वगत, अश्राव्य, नियत श्राव्य का प्रायः इनके नाटकों में प्रयोग नहीं हुआ। कहीं इनका प्रयोग हुआ भी है तो बहुत कम और अत्यन्त संक्षिप्त। 'मुक्ति का रहस्य' में उमाशंकर (मनोहर को गोद में उठाकर

उसका मुँह चूमते हुए) कहता है, "मेरे बच्चे……(उसे छाती से लगाकर) आह ! तो यह मेरी मुक्ति है।"

'सिन्दूर की होली' में मनोजशंकर मुरारीलाल से कहता है, "आपने स्वीकार कर लिया। मेरी आत्मा का बोझ उतर गया। अब मैं आत्म-घाती पिता का पुत्र हूँ (उत्साह से), ओह ! मैं क्या था ! इसी चिन्ता में मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया, मानसिक बीमारी हो गई। बराबर रात को मैं उनको स्वप्न में देखता था और सारा दिन उसी स्वप्न की भावना में पड़ा रहता था……।" यह भी स्वगत का परिवर्तित रूप ही है।

सभी नाटकों में, एक-दो स्थलों को छोड़कर, जहाँ कथोपकथन एक-एक पृष्ठ के हो गए हैं, कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त हैं। वे स्वाभाविक और सार्थक भी हैं। उनमें बात-चीत की शैली मानसिक अस्थिरता को प्रकट करने वाली है—प्रायः वाक्य अपूर्ण ही रहते हैं। यह अत्यन्त स्वाभाविक और प्रभावशाली है। इसमें नाटकीयता का प्राधान्य है। पर कहीं-कहीं साधारण वाक्यों को भी तोड़ दिया गया है, जिससे अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। पर ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं।

गीतों का सभी नाटकों में अभाव है। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में एक-दो पद्य आ गए हैं, सो भी कविता के रूप में। गीतों का बहिष्कार जहाँ एक ओर अस्वाभाविकता से नाटकों की रक्षा करता है, उनमें गद्यात्मक यथार्थता ला देता है, वहाँ गीत-विरोधी-प्रवृत्ति का इतनी कठोरता से पालन नाटकों में एक सीमा तक नीरसता भी ला देता है।

मिश्रजी की भाषा-सम्बंधी भूलें हास्यास्पद हैं। लिंग-दोष, पूर्वी प्रयोगों का दोष, व्याकरण-सम्बंधी दोष, और शब्दों की अशुद्धि के दोषों से वह मुक्त नहीं है। 'राक्षस का मंदिर' में 'तुम चली जावो वहाँ से' (पृष्ठ ३), 'कैसे जाने पावो' (पृष्ठ ४), 'निकल जावो' (पृष्ठ ५) 'रंज मत हो' (पृष्ठ ५), 'बहादुरी की ढोंग' (पृष्ठ १२), 'उसी से गुजर हो जायगा' (पृष्ठ ६), 'स्वर्ग और नर्क बच्चों को खेल है।' 'आपके साथ ईमानदारी किया, 'फरयाद किया था' 'शहर की बाज़ार उनके हाथ में होती' पंक्तियाँ सरलता से उद्धृत की जा सकती हैं। 'सिंदूर की होली'—जो टैकनीक की दृष्टि से सबसे अच्छा नाटक है, इन दोषों से मुक्त नहीं। 'तुमको भी उसकी चाल-चलन पसन्द नहीं' (पृष्ठ २४) 'मैं फांसी पड़ूगा' (पृष्ठ ६६) 'उस बद-किस्मत लड़के पर रहम हो रहा है' (पृष्ठ १७) नहीं तो वह लोण्डा मेरी इज्जत बिगाड़ दिये होता' (पृष्ठ २४)

भाषा के संबंध में मिश्रजी ने यथार्थवाद का गलत प्रदर्शन किया है। आपने 'राक्षस का मंदिर' में स्थान-स्थान पर अंग्रेज़ी का प्रयोग किया है। अंग्रेज़ी के सर्वपरिचित और प्रचलित शब्दों का प्रयोग तो इतना नहीं अखरता—कुछ-न-कुछ शब्द भाषा और बोल-चाल में आ ही मिला करते हैं उस भाषा के, जिससे सम्पर्क होता है। पर मिश्रजी के प्रयोग बहुत ही सदोष हैं। पृष्ठ १६ पर रामलाल प्रवेश करते ही एक वाक्य अंग्रेज़ी में बोलता है और मुनीश्वर भी पूरा वाक्य अंग्रेज़ी में ही उत्तर में कहता है। पृष्ठ ११७ पर तो लगातार चार संवाद अंग्रेज़ी में हैं। यदि अभिनय किया जाय तो हिन्दी ही जानने वाला दर्शक बुद्धू की तरह मुँह ताकता रह जायगा। पर यह नाटक इतना दोषपूर्ण है कि शायद ही कभी अभिनय के लिए चुना जाय। यह नाटक नाट्य-कला के अनेक दोषों से मंडित है। पर ज्यों-ज्यों लेखक आगे बढ़ता गया है, उसकी यथार्थवाद की अस्वाभाविक सनक कम होती गई है, टैकनीक भी सरल होती गई है और भाषा भी दोष-मुक्त होती गई है।

अभिनेयता

ज्यों-ज्यों मिश्रजी नाटक-लेखन में आगे बढ़ते गए, उनके नाटकों में अभिनय-गुण भी अधिकाधिक मात्रा में आता गया। मिश्रजी के हर-एक नाटक में तीन अंक होते हैं। यदि यही अंक सभी नाटकों में दृश्य भी होते तो उनके नाटक अभिनय के लिए अत्यन्त उपयुक्त हुए होते। पर लिखने के लिए तो हर नाटक में तीन अंक ही हैं पर रंगमंच की दृष्टि से 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'राजयोग' तथा 'मुक्ति का रहस्य' में अंक-विधान अत्यन्त दोषपूर्ण है। यदि अंक ही दृश्य भी हों, तो कठिन-से-कठिन दृश्य का भी निर्माण किया जा सकता है। अंकांत में यवनिका-पात के पश्चात् अगले अंक-दृश्य के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

दृश्य-विधान ही रंगमंच का प्रमुख अंग है। दृश्य-विधान में सबसे बड़ा दोष है कि अंक के मध्य में ही सहसा पर्दा उठ जाता है और दृश्य बदल जाता है। 'राक्षस का मन्दिर' के दूसरे अंक में 'ललिता और रघुनाथ का प्रस्थान, पर्दा उठता है और अशगरी का कमरा' दिखाई दे जाता है—यह दूसरा दृश्य हुआ। इसी अंक में आगे 'रघुनाथ और अशगरी का प्रस्थान। पर्दा उठता है ललिता का कमरा'—यह तीसरा दृश्य है। अंक नदी-तट से आरम्भ होता है, जहाँ नाव तक है—मल्लाह है और अचानक पर्दा उठाकर दूसरा दृश्य उपस्थित हो गया। निश्चय ही यह दृश्य पर्दे के पीछे बनाया जायगा। पर

अचानक मात्र, ललिता, असगरी, रघुनाथ, मुनीश्वर कहाँ गायब हो जायंगे ! यदि दर्शकों के सामने ही सामान हटाया जायगा तो खासा तमाशा खड़ा हो जायगा। इसी प्रकार तीसरे दृश्य के निर्माण के विषय में समझना चाहिए। यही गड़बड़ी तीसरे अंक में भी है। अंक आरम्भ होता है, सड़क से। पर्दा उठाकर मातृ-मन्दिर का भवन आ जाता है। यह निश्चित रूप से सरलता से बनाया जा सकता है। सड़क पर कोई सामान तो एकत्र करना नहीं, बातचीत करने वाले प्रस्थान कर जायं, पर्दा उठाकर मातृ-मन्दिर का भवन दिखाया जा सकता है। मातृ-मन्दिर के बाद तीसरा दृश्य है ऊपर के कमरे का—मातृ-मन्दिर के पीछे वाले पर्दे के पीछे यह बनाया जायगा। इसमें भी वही कठिनाई है, जो दूसरे अंक के दृश्यों में।

'राजयोग' में भी दृश्य-विधान-सम्बन्धी गड़बड़ है। पहला अङ्क आरम्भ होता है शत्रुसूदन के बँगले से। रघुवंशसिंह बँगले के कमरे से प्रस्थान करता है और बँगले के सामने सड़क पर आ जाता है। गजराजसिंह भी उसके पास आकर बातें करने लगता है। यह भी दूसरा ही दृश्य समझना चाहिए। यदि इसे भी अगले दृश्य न मानकर मिश्र जी के लम्बे-चौड़े रंग-संकेत के अनुसार दृश्य-निर्माण किया जाय तो बहुत स्थान घेरेगा, साथ ही सड़क की बातें बँगले में भी सुनी जायंगी,जो अभिनय की बहुत भद्दी त्रुटि होगी। 'मुक्ति का रहस्य' में दृश्यावली दुरूह अवश्य है, यद्यपि उसका निर्माण किसी-न-किसी प्रकार अवश्य किया जा सकता है।

दृश्य-विधान की दृष्टि से 'सिन्दूर की होली' और 'वत्सराज' निर्दोष ही नहीं, प्रशंसनीय रचनाएं हैं। इनमें भी तीन-तीन अङ्क हैं—अङ्क ही दृश्य हैं। न तो 'सिन्दूर की होली' में और न 'वत्सराज' में ही अचानक पर्दा उठाकर दृश्य उपस्थित होता है। एक-एक अंक दृश्य के समान चलता है। साथ ही अधिक अदल-बदल की आवश्यकता नहीं। 'सिन्दूर की होली' में एक ही दृश्य—(मुरारीलाल का बँगला) निर्माण करना पड़ेगा। उसी में तीनों अङ्कों की कथा और कार्य पूर्ण रूप में समाप्त होते हैं। यह नाटक टैकनीक की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। 'वत्सराज' में पहला अंक अवन्ती-नरेश के प्रासाद का बन्दी-कक्ष, दूसरा कौशाम्बी का राज-प्रासाद और तीसरा भी कौशाम्बी का राज-प्रासाद। तीनों अंक-दृश्यों का निर्माण बड़ी सरलता से हो सकता है।

अभिनय से सामाजिक शील का भी अत्यन्त सम्बन्ध है। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' दृश्य-विधान की दृष्टि से तो अभिनय के अनुपयुक्त

हैं ही, शील की दृष्टि से भी यह दोष-पूर्ण हैं। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में चुम्बनों और आलिंगनों की बहार लेखक ने लुटाई है, वह दोनों नाटकों का भारी दोष बन गई है। हम समझते हैं भारतीय रङ्गमंच पर आने वाले इतने साहसी अभिनेता अभी उत्पन्न ही नहीं हुए जो इस प्रकार मिश्र जी के यथार्थवाद का प्रदर्शन कर सकें।

कार्य-व्यापार, आकस्मिकता और कौतूहलजनक घटनाएं भी अभिनय में जान डाल देते हैं। कार्य-व्यापार की दृष्टि से मिश्र जी के नाटक शिथिल हैं, पर दौड़ा-झपटी ही कार्य-व्यापार नहीं है। बाहरी संघर्ष कम है, पर आन्तरिक संघर्ष पर्याप्त मात्रा में है। और यदि अभिनेता कला-कुशल हों तो इनके नाटकों का शानदार अभिनय किया जा सकता है। आकस्मिकता चाहे घटनाओं में न हो, पर चरित्रों में अवश्य है। सभी में कोई-न-कोई रहस्य भीतर-ही-भीतर घुट रहा है—यह दर्शकों की कौतूहल-वृद्धि के लिए काफी है। चरित्रों के भीतर की उलझन और घुटन यदि कोई सफल अभिनेता सही रूप में प्रदर्शित कर सके, तो नाटक प्रभावशाली रूप में अभिनीत हो सकते हैं। यद्यपि 'वत्सराज' का दूसरा अङ्क बहुत शिथिल है, तो भी गति-शीलता, कार्य-व्यापार, कथा के क्रमिक विकास, और चरित्रों के प्रकाशन आदि की दृष्टि से यह नाटक मिश्र जी की श्रेष्ठ रचना है।

कथोपकथन की दृष्टि से विचार करें तो सभी नाटकों के संवाद संक्षिप्त और उपयुक्त हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में, जो कहीं-कहीं अपूर्ण ही समाप्त होते हैं, संवाद चलते हैं। भावावेश और मनोभाव-विश्लेषण की यह शैली नाटकीय है। कुछ संवाद ही, जो रूखे विचार-विवेचन के लिए दिये गए हैं, कुछ लम्बे और नीरस हैं। पर विचार-प्रधान नाटकों में यह अनुपयुक्त नहीं। 'सिन्दूर की होली' और 'वत्सराज' अभिनय की दृष्टि से मिश्रजी के सर्व-श्रेष्ठ नाटक हैं। इनमें अभिनय-सम्बंधी दोष देखने में नहीं आते। 'मुक्ति का रहस्य' तथा 'राजयोग' थोड़ी कठिनता से अभिनीत किये जा सकते हैं। 'आधी रात', 'संन्यासी' तथा 'राक्षस का मंदिर' इतने दोषपूर्ण हैं कि इनका अभिनय किया ही नहीं जा सकता। रचना क्रम पर विचारें तो पता चलेगा कि मिश्रजी को अपनी त्रुटियों का ज्ञान होता गया है और क्रमशः वे उनको छोड़ते भी गए हैं। यथार्थवाद का अस्वाभाविक नशा भी उतरता गया है। पर अभी तक उनके नाटकों में एक बात की कमी है—नाटकीय घटनाओं के शक्तिशाली निर्माण का अभाव उनके हर-एक नाटक में खटकता है।

: ६ :

उदयशंकर भट्ट

भट्टजी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार हैं। कविता के क्षेत्र में भी आपने उसी उत्साह, उल्लास और तीव्र गति से सृजन किया है, जिस उत्साह, उल्लास और तीव्र गति से नाटकीय क्षेत्र में। अपने नाटकों के लिए आपने अनेक काल और जीवन-क्षेत्र चुने। 'प्रसाद' ने जिस प्रकार भारतीय इतिहास से आर्य शक्ति और गौरव का स्वर्ण युग चुना और 'प्रेमी' ने मुगल-काल का वैभव-पूर्ण क्षेत्र, उसी प्रकार भट्टजी ने पुराण-काल के जीवन और संस्कृति को अपनी कला का क्षेत्र बनाया। 'सगर-विजय' और 'अम्बा' का आधार पौराणिक कथावस्तु है। आपके भाव-नाट्यों का विकास भी पौराणिक जीवन-क्षेत्र में ही हुआ। 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा', 'राधा' और 'मेघदूत' लिखकर भट्टजी ने प्राचीन-प्रियता का प्रमाण दिया है।

ऐतिहासिक जीवन-क्षेत्र से आपने 'दाहर' विक्रमादित्य',* 'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' के चरित्र और कथावस्तु लिये। 'कमला' और 'अन्त-हीन-अन्त' में आपने सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की है। एकांकी के क्षेत्र में भट्टजी का काम सराहनीय है। आपके 'अभिनव एकांकी नाटक', 'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त, 'धूम-शिखा' आदि एकांकी-संग्रह भी प्रकाशित हो

---

*डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने ऐतिहासिक नाटकों की धारा में उल्लेखनीय नाटकों का वर्णन करते हुए 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ २१२ पर लिखा है, "उदयशंकर भट्ट-कृत 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१) और 'विक्रमादित्य' (१९३३)।" इस सम्बन्ध में पण्डित उदयशंकर भट्ट का पत्र उद्धृत किया है, "प्रियवर, ऐसा कोई नाटक मैंने नहीं लिखा", कदाचित् उनको 'विक्रमादित्य' नाटक से भ्रम हुआ है; हाँ, बदरीनाथ भट्ट का शायद एक 'चन्द्रगुप्त' नाटक है।

नवीन खोज इसी को कहते हैं। लेखक को पता नहीं, और यहाँ खोज भी कर डाली। सचमुच, यह खोज नहीं; आविष्कार है। 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास' ऐसी अनेक ऊटपटांग बातों से भरा पड़ा है।

चुके हैं। आपके एकांकियों में वर्तमान जीवन की विभिन्न तस्वीरें हैं। सामाजिक जीवन के दहकते दृश्य आपने अपने एकांकियों में अत्यन्त सफलता से उपस्थित किये हैं।

आधुनिक काव्य के अनेक प्रयोगों से प्रभावित होकर आपने अपनी काव्य-रचना की है। उसमें प्रगतिशील भाव-धारा भी मिलेगी और रोमांटिक प्रयोग भी। 'राका', 'मानसी', विसर्जन', 'यथार्थ और कल्पना', 'युग-दीप', 'एकला चलो रे' आदि आपके 'काव्य-संग्रह' प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास-क्षेत्र में भी आपने प्रयास किया और 'वह, जो मैंने देखा' की रचना की।

रचनाओं का काल-क्रम

विक्रमादित्य	१९३३
दाहर अथवा सिन्ध-पतन	१९३४
अम्बा	१९३५
सगर-विजय	१९३७
मत्स्यगंधा	१९३७
विश्वामित्र	१९३८
कमला	१९३९
राधा	१९४१
अन्तहीन अन्त	१९४२
मुक्ति-पथ	१९४४
शक-विजय	१९४६
कालिदास	१९५०
मेघदूत	१९५०
विक्रमोर्वशी	१९५०

इतिहास और कल्पना

'विक्रमादित्य',* 'दाहर', 'मुक्ति पथ', और 'शक-विजय', भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटक हैं। इतिहास-क्रम से 'मुक्ति-पथ', 'शक-विजय' 'विक्रमादित्य' और 'दाहर'—यों रखा जा सकता है। प्रसाद द्वारा लिया गया इतिहास छोड़ दिया गया है। भट्ट जी ने इतिहास से वे कथाएं लीं, जो अनजानी थीं और

*भट्ट जी द्वारा लिखा गया 'विक्रमादित्य' गद्य-नाटक है, गीति-नाट्य नहीं। बाबू गुलाबराय इसे एक बार भी उठाकर देख लेते तो यह भ्रम न होता। 'काव्य के रूप' में पृष्ठ ८८ पर आप लिखते हैं, "पंडित उदयशंकर भट्ट ने 'मत्स्यगंधा' और 'विक्रमादित्य' आदि गीति-नाट्य भी लिखे हैं।"

जिनसे हमारे सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पतन के बुनियादी कारणों पर प्रकाश पड़ता है। 'मुक्ति-पथ' की कथा सीधी-सादी है, इसमें कथा-सम्बन्धी कल्पना बहुत कम है। घटनाएं सभी इतिहास-परिचित हैं। शुद्धोदन, सिद्धार्थ, देवदत्त, छंदक, आकाड़कालाम, राहुल, गोपा, सुजाता—सभी इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। कल्पित पात्र प्रमुख कोई भी नहीं। सिद्धार्थ के चरित्र-प्रकाशन और वैराग्य-विकास के लिए एक-दो घटनाएं भले ही रख दी गई हों। जैसे देवदत्त द्वारा यज्ञ का छाग खोल लेने की घटना।

'शक-विजय' में मुख्य घटना है अवन्ती के राजा गंधर्वसेन द्वारा सरस्वती साध्वी का अपहरण और उसके भाई जैन आचार्य कालक द्वारा शकों का भारत में लाया जाना। जैन-ग्रन्थों, स्कन्द और भविष्य पुराण में यह कथा विभिन्न रूपों में मिलती है। पहले यह कथा कपोल-कल्पित समझी जाती थी। प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता और इतिहासकार श्री काशीप्रसाद जायसवाल, जर्मन विद्वान् याकोबी, जैन-मुनि श्री कल्याण विजय आदि विद्वानों की खोजों ने इसे ऐतिहासिक प्रमाणित कर दिया है। कालकाचार्य द्वारा प्रेरित उसके भानजों, बलमित्र और भानुमित्र की सेना और शकवाहिनी ने अवन्ती को घेर लिया और गंधर्वसेन को मार डाला। शक-शासन का यह युग १०० ईस्वी पूर्व से ५८ पूर्व तक रहा।

गंधर्वसेन, कालकाचार्य, मलिपुत्र सरस्वती, शकराज नहपान--ये सभी प्रमुख पात्र ऐतिहासिक हैं। वरद और सौम्या काल्पनिक। वरद से ही शकों द्वारा पीड़ित अवन्ती का उद्धार कराया गया है। भट्ट जी की सम्मति में यही विक्रमादित्य है। वरद स्वयं एक कल्पित पात्र है, इसलिए इसका विक्रमादित्य होना विवादास्पद है। विक्रमादित्य के विषय में अभी निर्णय भी नहीं हो पाया है, तो भी वरद को विक्रमादित्य मानना इतिहास की भारी उपेक्षा है। सरस्वती और कालकाचार्य की आत्म-हत्या चाहे इतिहास की जानकारी में न हो, या यह बात असत्य भी हो, तो भी यह सरस्वती और कालकाचार्य के चरित्र को उज्ज्वल कर देती है। ऐसी कल्पना हानिकर नहीं।

'दाहर' में भी प्रमुख पात्र और प्रमुख घटनाएं इतिहास-सम्मत हैं। साहसी राय एलोर का राजा था। इसका लड़का हुआ साहीरास। यह निमरुज के बादशाह से युद्ध करते हुए मारा गया, इसकी मृत्यु के बाद राय साहसी एलोर का राजा बना। राय साहसी के दरबार में शैलज ब्राह्मण के लड़के चच का प्रवेश साधारण अधिकारी के रूप में हुआ। धीरे-धीरे वह

प्रधान मंत्री बन गया। राय साहसी के मरने के बाद चच राजा बन गया। इसका प्रेम भी राय साहसी की पत्नी सुहन्दी से हो गया और दोनों ने विवाह भी कर लिया। चच ने ब्राह्मणवाद के शासक अगम को मारकर उसकी विधवा से भी विवाह किया। चच के बाद इसका लड़का दाहर राजा बना। दाहर ६७४ ईस्वी में गद्दी पर बैठा। चच की मृत्यु ६६७ में हुई। बीच के समय में दाहर के भाई चन्द्र ने राज्य किया। सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण सन् ७१२ ई० में हुआ। इसमें दाहर मारा गया।

दाहर की दोनों लड़कियाँ सूरजदेवी और परमालदेवी कासिम द्वारा खलीफा के पास भेज दी गईं। 'चचनामा' में यह भी लिखा है कि लाडी (दाहर की रानी) भी कैद करके भेजी गई थी। बिनकासिम को खलीफा की आज्ञा से जिन्दा ही खाल में सिलवा दिया गया था और सूर्यदेवी तथा परमालदेवी के कहने पर कि उन्हें कासिम ने भ्रष्ट कर दिया है। 'दाहर' की प्रायः सभी प्रमुख घटनाएं इतिहास की जानकारी में हैं। 'दाहर' में इतिहास का अधिक-से-अधिक निर्वाह हुआ है। इसमें इतिहास की दो भयंकर भूलें हैं, एक तो दाहर को क्षत्रिय बताया गया है जब कि सभी इतिहासों में उसे ब्राह्मण बताया गया है। दूसरे नाटक में कहीं भी लाडी का पता नहीं। लाडी ने एक-दो किलों में अरबी सेना का सामना भी किया था, ऐसा कई इतिहासों में मिलता है। प्रमुख पात्रों में कल्पित बहुत कम हैं—दाहर, जयशाह, सूर्य और परमाल, हैजाज बिनकासिम अल्लाफी, खलीफा आदि सभी पात्र ऐतिहासिक हैं।

धार्मिक संघर्ष

भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटकों में धार्मिक संघर्ष का विशेष चित्रण मिलता है। 'मुक्ति-पथ', 'शक-विजय' तथा 'दाहर' तीनों नाटकों में भारतीय महान् धर्मों—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन—का संघर्ष दिखाया गया है। यह संघर्ष 'मुक्ति-पथ' से आरम्भ होता है। भगवान् बुद्ध का राज्य त्यागकर नवीन मानव-धर्म की खोज करना ही, उस युग के विचारों के संघर्ष का परिणाम है। बौद्ध धर्म से पहले भारत में धार्मिक (सम्प्रदाय) संघर्ष या वैमनस्य का आरम्भ नहीं हुआ था। इससे पूर्व नवीन जीवन-दर्शन अनेक रूपों में आ चुका था—पर उन दार्शनिक विचारों के विकास को लेकर झगड़े नहीं आरम्भ हुए थे। वे दार्शनिक विचार सम्प्रदाय या धर्म-पंथ का रूप धारण नहीं कर सके थे। जीवन और समाज से उनका सम्बन्ध भी कम था। बौद्ध-धर्म ने सामाजिक

क्रान्ति भी की और बौद्ध दर्शन ने एक विशेष धर्म का रूप धारण किया, इसी कारण ब्राह्मण और बौद्ध-धर्म में संघर्ष भी आरम्भ हो गया। धार्मिक संघर्ष का यह रूप ब्राह्मणों और देवदत्त तथा सिद्धार्थ के बीच दिखाया गया है। तीसरे दृश्य में ब्राह्मण न्यायालय में आकर न्याय की पुकार और माँग करते हैं। सिद्धार्थ और देवदत्त ने उनके यजमान को बहकाकर उसे छाग (बछड़ा) की बलि देने से विरत किया। और जब यजमान स्वयं सभा में उपस्थित होकर कहता है कि यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिए, तो ब्राह्मण चिल्ला उठते हैं, "नास्तिक सेठ सभा में उपस्थित है। धर्म के घातक इस सेठ को दण्ड देना चाहिए।"

यही बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष 'दाहर' में स्पष्ट हो गया है। सिन्ध पर अरबी सेनाएं अब्दुल बिनकासिम की अध्यक्षता में चढ़ाई करती हैं। स्थिति और समय की माँग के उत्तर में दाहर जाट, गूजर, लोहान आदि जातियों को भी बराबरी का अधिकार दे देता है। ब्राह्मण इसी से रुष्ट हो जाते हैं। बौद्ध भी देश-द्रोह करते हैं। उन्हें क्या लेना, एक ब्राह्मण राजा की सहायता क्यों करें? समुद्र कहता है, "जब बौद्धों का राज्य ही नहीं है, फिर बौद्ध लोग उसके सहायक ही क्यों हों? अपना भला-बुरा तो पशु भी पहचानते हैं, हम तो आदमी हैं।"

सागरदत्त के समझाने पर कि बौद्ध-हिन्दू एक ही हैं मोक्षवासव कहता है, "हिन्दू भी तो हमारे लिए वैसे ही हैं जैसे यवन। क्या बौद्ध-धर्म से उनको घृणा नहीं है? क्या वे बौद्ध-धर्म और बौद्धों को अच्छी दृष्टि से देखते हैं महाराज?" मोक्षवासव के कथन में यद्यपि अविचार-शीलता, देश के प्रति विश्वास-घात और अदूरदर्शिता बोल रही है, फिर भी हिन्दुओं का वह पाप भी पुकार रहा है, जो उन्होंने बौद्धों का विरोध करके किया है।

ब्राह्मणों के प्रपंचपूर्ण आचरण और बौद्धों के अरबियों से गठ-बन्धन के कारण सिन्ध देश सदा के लिए गुलाम हो गया। सिन्ध में किया गया राष्ट्रीय अपराध समस्त भारत के लिए घातक विष बन गया। देखते-देखते एक के बाद दूसरा प्रान्त विदेशियों के चरणों द्वारा आक्रान्त होता गया। ऐसी बाढ़ आई कि भारत का कोई स्वतन्त्र राज्य उसके सामने न ठहर सका। समस्त देश विदेशियों का गुलाम बन गया। धार्मिक वैमनस्य जब इतना भयंकर रूप धारण कर लेता है, तब यही होता है।

जहाँ मत-पन्थ देश के हित से ऊपर होगा, वहाँ के निवासी अपमान, अपयश, पराजय, पराधीनता का जीवन व्यतीत करेंगे। युग-युग तक वह

देश पद-दलित रहेगा। 'शक-विजय' में धर्म का यही विनाशक रूप भट्टजी ने रखा है। सम्भवतः जैन-ब्राह्मण-धर्म के संघर्ष का हिन्दी में यह प्रथम नाटक है। मंखलीपुत्र ब्राह्मण धर्म के नेता हैं और कालकाचार्य जैन-धर्म के। दोनों का संघर्ष इस नाटक की कहानी है। कालकाचार्य अवन्ती में जैन-धर्म का प्रचार करने आया है। सरस्वती (उसकी बहन) साध्वी बन गई है। उसके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसके आश्रम में अवन्ती-निवासियों की भीड़ लगी रहती है। इससे राष्ट्र-धर्म को खतरा है। देश की उस समय की राजनीति बड़ी डावाँडोल है—देश पर विदेशियों का तो दाँत है ही पारस्परिक शक्तिवर्धन की भी स्पर्धा है। इसी कारण सरस्वती को बन्दी बना लिया जाता है।

कालकाचार्य के हृदय को आघात लगाना स्वाभाविक है, पर उसने जो प्रण किया वह देश-द्रोह का घृणित उदाहरण है। वह बोला, "मैं अन्य राजाओं की सहायता लेकर अवन्ती को भस्म कर दूँगा।" और आचार्य कालक की धर्म की परिभाषा, "धर्म के लिए कोई देश-विदेश नहीं है। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने का व्यक्ति धर्म में श्रद्धा रखने के कारण एक हैं। साहिर (शकराज) ने स्वयं ज्ञातृ-पुत्र के धर्म को स्वीकार कर लिया है, फिर वे विदेशी कैसे हैं नृपतिगण! वे भी उसी तरह जैन हैं, जिस तरह आप। धर्म जाति-देश का बन्धन नहीं स्वीकार करता नृपतिगण।"

कालकाचार्य द्वारा की गई धर्म की परिभाषा ने ही अवन्ती पर विदेशियों के आक्रमण का सूत्रपात किया। वही हुआ, जो होना था। अवन्ती पर शकों का शासन हो गया। विदेशियों के अत्याचार और उत्पीड़न का दौर आरम्भ हुआ। सरस्वती पर भी शकराज की वासना-दृष्टि गई। धर्म के उन्माद में कालकाचार्य ने जन्म-भूमि के गर्वोन्नत मस्तक को पैरों-तले रौंद डाला। देश-द्रोह, विश्वास-घात, बन्धु-संहार, हत्या और बलात्कार सभी इस उन्माद में खुलकर खेले।

इस धार्मिक अविवेक ने हमें कहाँ-से-कहाँ ला दिया यह भट्टजी के शब्दों में देखिये—"हमारी जातीयता में धर्मवाद की निकम्मी थोथी रूढ़ियों ने हमें विवेक से गिरा दिया। मनुष्यत्व से खींचकर दासता, भ्रातृ-द्रोह, विवेक-शून्यता के गढ़े में ले जाकर पीस दिया।"

भट्टजी ने अपने नाटकों द्वारा धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक जनून, मजहबी पागलपन का जो रूप उपस्थित किया है वह प्रशंसनीय है। यह सचमुच ऐसा नशा है, जिसमें आदमी अपने पैरों आप ही कुल्हाड़ी मारता है—स्वयं

ही अपने खेतों-खलिहानों, घर-मकानों को मरघट बना देता है। हमारी सम्मति में भट्टजी ने अपने नाटकों द्वारा धार्मिक कट्टरता के प्रति अपने पाठकों में अरुचि उत्पन्न करके समाज और देश का बहुत बड़ा हित किया है।

समाज-चित्रण

भट्टजी ने अपने नाटकों द्वारा समाज के उस खोखलेपन, पाखण्ड, आडम्बर और दुरभिमान का चित्र खींचा है, जिसके कारण भारतीय राष्ट्र सामाजिक रूप में जर्जर बन रहा है। आज भी वह निर्बल और लड़खड़ाता हुआ है। 'दाहर' में उन्होंने सामाजिक अपराधों और भूलों का सजग चित्रण किया है, जिनके कारण सिन्ध का पतन हुआ—दाहर की पराजय हुई। दाहर उस मूर्खता और अपराध को अनुभव करता है, "स्वर्गीय पिता, तुम्हारे इस प्रमाद का फल मुझे भोगना पड़ेगा। सिंध में जो वीर जातियाँ थीं, उन्हें ऊँच-नीच के भावों से कुचलकर नष्ट कर डाला। हाय, वे लोहान जाट और गूजर जो हमारे राज्य की शोभा, वीरता की मूर्ति थे, आज ऊँच-नीच के विचारों में पिसे जा रहे हैं।......वे रेशमी वस्त्र नहीं पहन सकते, जीन कसे घोड़ों पर नहीं बैठ सकते, पैरों में जूते नहीं पहन सकते, सिर पर पगड़ी नहीं बाँध सकते, पहचान के लिए कुत्तों के बिना बाहर नहीं निकल सकते।"

मनुष्य को जिस समाज में इतना नीचे गिरा दिया जाय, क्या वह मूर्खों का समाज नहीं! दाहर अपने पिता के अपराध का प्रायश्चित्त करते हुए उनको बराबरी का अधिकार देना चाहता है तो पुरोहित इसका विरोध करते हुए कहता है, "धर्म-शास्त्र इन लोगों के साथ कोई ऐसा व्यवहार करने की आज्ञा नहीं देता जिससे ये लोग उच्च जाति के लोगों के साथ मिल सकें।" धर्म-शास्त्र और स्मृतियों की आड़ लेकर जहाँ बुद्धिवाद का इतना तिरस्कार हो, वहाँ सचमुच प्रकृति का जो अभिशाप न पड़े, सो थोड़ा। ऐसी मूर्खता इसी देश के सामाजिक जीवन में है कि प्यासे को पानी पिलाने के लिए शास्त्र की आज्ञा तलाश की जाती है। और जब तक शास्त्र पानी पिलाने की आज्ञा देते हैं, तब तक प्यासे का प्राणान्त हो जाता है। लोहान, जाट और गूजरों को बराबरी का अधिकार दिये जाने के कारण ब्राह्मण लोग विरुद्ध हो गए और देश-द्रोह की कालिख मुँह पर लपेटकर गौरवशाली बने। धार्मिक विद्वेष सिंध के पतन में जितना कारण है, सामाजिक उससे भी अधिक।

'मुक्ति-पथ' में भी इस ऊँच-नीच भावना का चित्रण किया गया है। बौद्ध-धर्म का आविर्भाव ही सामाजिक समानता के लिए हुआ। इसी सामा-

जिक अहं और अभिमान का चित्रण 'मुक्ति-पथ' के इस दृश्य से स्पष्ट हो जाता है :

"प्रार्थी—इस शूद्रक ने मेरे घर में प्रवेश करके मेरा घर अपवित्र कर डाला। मेरे निषेध करने पर भी यह दुष्ट मेरे घर में घुस आया। और मेरा घर कलुषित कर दिया।

एक पंडित—तो तुम इस ब्राह्मण के घर में घुसे क्यों ?

शूद्रक—जी, प्राण बचाने के लिए।

दूसरा पंडित—तो तुम अपराध स्वीकार करते हो ?

शूद्रक—जी !

एक पंडित—तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारे जाने से ब्राह्मण का घर अपवित्र हो गया।

सिद्धार्थ—आत्म-रक्षा सब धर्मों से बढ़कर है।

पहला पंडित—दूसरों को अपावन करके, हानि पहुँचाकर प्राण-रक्षा नहीं की जाती। यह शूद्र है, शूद्र भी चाण्डाल, इसने जीवक ब्राह्मण के घर को अपवित्र किया, इसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा।"

इस पर कुछ भी टिप्पणी देने की आवश्यकता नहीं। इसका परिणाम केवल पतन है।

'कमला' में लेखक ने आधुनिक समाज का चित्र उपस्थित किया है। आज के समाज में कितनी उलझनें हैं, जीवन कितना रहस्यपूर्ण हो गया है, मानव-चरित्र एक पहेली बनता जा रहा है—यह सब 'कमला' में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। कमला एक शिक्षित युवती, बूढ़े देवनारायण से ब्याह दी जाती है। यह बे-मेल जोड़ा कब तक सुखी रह सकता है। इसमें समझौता भी तो नहीं हो सकता। देवनारायण सदा कमला पर सन्देह और आशंका की दृष्टि रखता है। और अन्त में उसका सन्देह 'भ्रम' में बदल जाता है कि शशि कमला का ही पुत्र है, जो कमला की चरित्रहीनता का परिणाम है। और कमला इस आत्म-वेदना से घायल होकर नदी में डूबकर आत्म-हत्या कर लेती है। शशि है उमा का अवैध पुत्र, जो देवनारायण के बड़े लड़के से हुआ। 'कमला' में कौमार्य जीवन की भूलों का परिणाम भी दिखाया गया है।

भट्टजी ने समाज का जो रूप 'दाहर' और 'मुक्ति-पथ' में दिखाया है, वह भारतीय समाज का कलंक है—हमारी आडम्बरपूर्ण संस्कृति के मुँह पर सबल तमाचा है। राष्ट्रीय और सामाजिक ही नहीं मानवीय स्वास्थ्य के लिए भी इन सामाजिक मूर्खताओं, अपराधों और पाखण्डों को छोड़ना आवश्यक है।

उच्चता का दम्भ और अन्यों के प्रति घृणा मनुष्य को मानवीयता से पतित करती ही है, देश का भी इससे बहुत अहित होता है। और जब तक भारतीय समाज में समानता, बन्धुत्व और समान अधिकार की बुनियाद नहीं पड़ेगी, हम मनुष्य कहलाने के भी अधिकारी नहीं।

पात्र—चरित्र-चित्रण

भट्टजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों की रचना की। उनके नाटकों के पात्र काल और जीवन के अनेक क्षेत्रों से आए हैं। भट्टजी के नाटकों की भाषा-शैली पर तो संस्कृत का प्रभाव है ही, पात्रों के चरित्रों पर भी है। इतिहास और पुराण-युग के पात्रों के चरित्रों में विशेष हेर-फेर करना बड़ा भारी दुस्साहस का काम है। भारतीय नाट्य-शास्त्र की परिभाषानुसार विक्रमादित्य, दाहर, सगर, वरद धीरोदात्त नायक हैं और सिद्धार्थ धीरप्रशान्त। 'कमला' वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखने वाला नाटक है, इसलिए उसके पात्र भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार किसी श्रेणी में नहीं रखे जा सकते।

विक्रमादित्य वीर, निर्भय, क्षमाशील, दयालु, परोपकारी, आत्म-श्लाघा-हीन, विचारशील, शीलवान, सुन्दर युवक है। अनेक शत्रुओं को उसने परास्त किया है। नृसिंह की सहायता के लिए अकेला चल देता है। बड़े-से-बड़ा खतरा वह मोल लेता है। 'दाहर' में भी ये सभी गुण हैं। वह शरणागत-रक्षक भी है। अलाफी को उसने शरण दी है, जो अरब का विद्रोही सरदार है। वह युद्ध करते-करते मर गया, इससे अधिक वीरता और निर्भयता क्या होगी। और सगर ने तो अपने शत्रु हैहयवंशी दुर्दम से अयोध्या का उद्धार ही नहीं किया, प्रत्युत दिग्विजय भी की। 'मुक्ति-पथ' का नायक सिद्धार्थ धीर प्रशान्त है। क्षमाशील, दयालु, धर्मज्ञानी, विरागी, अहिंसा का अवतार है। उसने ही विश्व को सर्वप्रथम करुणा का पथ दिखाया—अहिंसा की शिक्षा दी। 'शक-विजय' का नायक चाहे वरद हो या गन्धर्वसेन दोनों में ही वे गुण हैं, जिनसे नायक धीरोदात्त की श्रेणी में आता है।

शठनायक सोमेश्वर, कर्दम, हैजाज, नहपान (शक-विजय) धीरोदात्त स्वभाव के हैं। वीर, कपटी, छली, विश्वास-घाती, निर्भय, आत्म-श्लाघा से युक्त, दुर्जेय और क्रूर हैं। भारतीय साधारणीकरण के अनुसार रसानुभूति में ऐसे पात्रों से बहुत सहायता मिलती है। नायकों के प्रति सामाजिक की संवेदना, सहानुभूति, भक्ति और शुभकामना बनी रहती है और शठनायक

के प्रति उसकी घृणा, अरुचि, दुष्कामना, रोष, क्रोध आदि बने रहते हैं। भट्टजी के नायकों और शठनायकों के प्रति हमारी परम्परागत भावनाएं उत्तेजित रहती हैं। नायकों के कष्ट पर हमारी संवेदना और करुणा जगती है। उनकी विजय पर हमें आनन्द मिलता है। उनकी सफलता पर उल्लास होता है। शठनायक पर विपत्ति पड़ने पर हमें सुख मिलता है। उनकी सफलता या विजय पर हमें दुःख होता है। उनके व्यवहार से हम घृणा करते हैं। यही रसानुभूति है।

'कमला' को छोड़कर नारी-पात्रों को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो निर्भय वीरांगनाएं, दूसरी शीलवती सुकुमारमना पति-परायणा, और तीसरी ईर्ष्यालु रोषवती प्रतिशोध से पागल। 'दाहर' को परमाल और सूरज अपने देश पर मरने वाली और देश के अपमान का बदला लेने वाली वीरांगनाएं हैं। 'विक्रमादित्य' की चन्द्रलेखा और अनंग मुद्रा प्रीतम की रक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र में अपना गौरवशाली बलिदान देने वाली हैं। विशालाक्षी और गोपा कोमल-मना पति-परायणा भोली-भाली नारी हैं और वहिं क्रोध और प्रतिशोध से जर्जर ईर्ष्या से पागल नारी है।

अन्य नाटकीय तत्त्वों की अपेक्षा चरित्र-चित्रण भट्टजी के नाटकों में सफलता के साथ हुआ है। पात्रों के ऐतिहासिक और पौराणिक होते हुए भी भट्ट जी ने उनके चरित्र काफी विकसित दिखाए हैं। उनके पास मनुष्य का हृदय है। इतिहास और परम्परा की संकुचित गलियों में चलने वाले पात्र भी अपने पास सुख-दुःख, ईर्ष्या-घृणा और अनुभव प्रकट करने वाले हृदय रखते हैं। 'विक्रमादित्य' पर यद्यपि 'प्रसाद' के स्कन्दगुप्त की स्पष्ट छाया है, पर अन्य नाटकों में भट्ट जी स्वतंत्र हैं।

विक्रमादित्य स्वभाव से ही दार्शनिक है। राज्य भोगते हुए भी उदासीन है, "रात और दिन की चरखी पर ओटी जाने वाली जीवन की कला रूपी रुई क्षण-क्षण घटती जाती है। बाल्यावस्था और यौवन के आशांकुर से हम नाश में सुख का अनुभव करते हैं।······जीवन क्या है, गाढ़ान्धकार में क्षणिक प्रकाश। जिसके दोनों ओर उत्पति और विनाश के दो किनारे हैं। पूर्व के दो किनारे हैं। उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के बाद इस आत्मा की क्या परिभाषा है, यह कौन जाने।"

पर उत्कट काम-वासना के समान राज्य-लिप्सा को धिक्कारने वाला विक्रम कर्तव्य के लिए जागरूक है, "कर्तव्य-पालन के लिए उस विद्रोह को दबाना ही होगा।" विक्रमादित्य क्षमाशील है—राज्य से उदासीन और वैभव से विमुख

फिर भी वह अपने भाई सोमेश्वर के कारनामों पर दुखी तो होगा ही, "सोमेश्वर भाई, तुमने भाई के नाते पर कुठाराघात करके दुष्ट चेंगी का साथ दिया। भाई का भाई से भयंकर युद्ध, भ्रातृ-द्रोह, क्या इस विद्रोह-वह्नि में मैं स्वयं नहीं जल रहा हूँ।......भाग्य ने मुझे बचा क्यों लिया। कहीं शत्रुओं के षड्यन्त्र में मैं पिस क्यों न गया।" इन शब्दों में विक्रम के हृदय में उठने वाले तूफान के भाव-संघर्ष का अच्छा आभास मिलता है।

'दाहर' में कासिम के हृदय और मस्तिष्क का भी अच्छा चित्र उपस्थित किया गया है।

"गजब की सुन्दरता है। अगर सूरज सूरज है तो परमाल चाँद है।...... आः कहीं ये...नहीं, यह खलीफा का उपहार है। लेकिन यह क्या, मेरे इस सुनसान डेरे में हँसी की आवाज कहाँ से आ रही है। कौन हँस रहा है? कौन है? है! यह तो दाहर की हँसी है। यह क्या! चारों ओर दाहर के सिर......याकूब! याकूब!"

'मुक्ति-पथ' में सिद्धार्थ के चरित्र में तो केवल एक ही बात—करुणा—का विकास है। हृदय की अधिक हलचल उसमें नहीं है, पर शुद्धोदन के चरित्र में पिता की परेशानी, आशंका, पुत्र-मोह, सभी कुछ बड़े कौशल से दिखाया गया है,। वह कहता है, "मेरी आँखों का प्रकाश मेरे हृदय का बल, यह सिद्धार्थ है। मुझे उसके सामने न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान कुछ भी नहीं सूझता। मेरे जीवन का एक-मात्र सूत्र यह युवराज है। उस दिन का स्वप्न... नहीं-नहीं कहूँगा।" और सिद्धार्थ के गृह-त्याग के बाद, "मुझे कुछ नहीं सूझता मैं अंधा हो गया हूँ गौतमी! (गोपा राहुल को गोद में लिये बैठी है) ठीक है! आजीवन रोने के लिए इसका जीना आवश्यक है। रो, रो, तू भी रो, मैं भी रोऊँ। संसार रोवे। आओ इतना रोवें कि राजकुमार तप करते हुए बहकर हमारे पास आ जायं।"

'कमला' में देवनारायण का चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक और कौशल से चित्रित किया गया है। भट्टजी ने उसका चरित्र-चित्रण करने में अभिनय, भाषा-शैली, अनुभाव—सभी से काम लिया है। पर्दा उठते ही देवनारायण सामने आता है।

"देवनारायण—(कमरे में चारों ओर घूमकर धम्म से काउच पर बैठता हुआ) लोगों ने समझ रखा है कि जितना दुहा जाय, दुहो, इन जमींदारों को। जब देखा, तब चन्दा। चन्दा न हुआ, एक आफत हो गई। कांग्रेस का चन्दा, समाज का चन्दा, स्कूल का चन्दा। जमींदारों का भी नाश करने की ये सोचें

और उनसे ही चन्दा लें। देश का काम है, दीजिये जरूर दीजिये।······रामलाल रामलाल ! मूर्ख, आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने को समझें। अरे भाई, जो काम तुम नहीं कर सकते, उसे पालते क्यों हो। रामलाल, हमारा मानसिक स्वास्थ्य कितना गिर गया है। (शीशे में अपना चेहरा देखकर और मूँछों पर ताव देकर जरा अकड़ से) लोकनाथ कितना मूर्ख है। कहता है दूसरी शादी करके पछता रहा हूँ। बीवी के मारे तंग हूँ। शक्ति चाहिए। (रामलाल आता है और एक तरफ खड़ा हो जाता है।) भारतीयों का स्वास्थ्य बिलकुल बिगड़ चुका है। अरे कहाँ मर गया था ? मुन्शी जी नहीं आए ?

एक ही संवाद में देवनारायण का जमींदार-जीवन, उसका दूसरा विवाह और उसके उपचेतन मन में काम करने वाला अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के प्रति अविश्वास स्पष्ट हो जाता है।

'शक-विजय' में कालकाचार्य का चरित्र भी सुन्दर चित्रित हुआ है, "जो हो गया हो जाने दूँ ? अपने तप में विघ्न पड़ने दूँ ? (कुछ देर चुप रहकर) नहीं—मैं दण्ड दूँगा। राजा को दण्ड दूँगा। सारे प्रान्त को दण्ड दूँगा। भगिनी का अपमान मेरा अपमान है। भगवान् महावीर का, सम्पूर्ण जैन-धर्म का अपमान है। इस अत्याचार का बदला लेना ही होगा। मुझे चाणक्य बनना होगा (फिर कुछ चुप रहकर) नहीं, यह मेरा मार्ग नहीं है। वीतराग का निस्पृह का मार्ग नहीं है।······मैं राजा का बिगाड़ भी क्या सकता हूँ। क्यों, क्यों मैं क्षत्रिय नहीं हूँ ?······मैं दण्ड दूँगा। मैं अन्य राजाओं की सहायता लेकर अवन्ती-नरेश को भस्म कर दूँगा।"

अपनी बहन के प्रति किये गए अत्याचार से पीड़ित एक महात्मा की अन्तर्दशा इससे और क्या अधिक विचलित हो सकती है।

यही आचार्य कालक अवन्ती का विनाश शकों द्वारा करा देते हैं। गंधर्वसेन मारा जाता है। सरस्वती नर-संहार को देखकर आत्म-घात कर लेती है शकराज नहपान सरस्वती को अपने विलास-भवन में लाना चाहता है, जनता शक के अत्याचार से 'त्राहि-त्राहि' पुकार उठती है तब इस निमित्त ज्ञानी की आँखें खुलती हैं, और वह पछताता है, "मैंने कितना बड़ा पाप किया। धर्म के नाम पर देश को नरक बना दिया। मैं विभीषण बन गया। मैं पापी हूँ—पापी हूँ। मैंने पाप किया है।" और अन्त में यह भी अपने पाप का प्रायश्चित्त आत्म-घात करके कर लेता है।

पुरुष की अपेक्षा नारी के चरित्र का विकास भट्ट जी के नाटकों में अधिक

देखने को मिलता है। नारी-पात्रों में परमाल, चन्द्रलेखा, अम्बा, बहि, विशालाक्षी, गोरा अपने-अपने रूप में अत्यन्त प्राणवान चरित्र हैं। भट्ट जी के नाटकों की नारी एक ओर तो निर्मम वीरांगना है, दूसरी ओर शीलवती सुकुमार पत्नी, और तीसरी दिशा नारी के विकास की है प्रतिशोध।

'विक्रमादित्य' की चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा युवकों का रूप धारण करके राजनीति से खेलती हैं। जिस चन्द्रलेखा की अभिलाषाओं के समुद्र में प्रियतम की देदीप्यमान प्रतिभा उमंग से तैर रही है, वही कोमल-हृदया मुग्धा चन्द्रलेखा अपने प्रियतम की रक्षा के लिए राजनीतिक षड्यंत्रों में कूद पड़ती है। वह निश्चय करती है, "मेरा इस समय यही कर्तव्य है कि किसी प्रकार इन दुष्ट राजाओं की अभिसन्धि को जानकर महाराज की सहायता करूँ।" और वह षड्यंत्र में फँसे महाराज विक्रमादित्य की सोमेश्वर और चेंगी से रक्षा करते हुए 'हा महाराज ! हे जीवननाथ !' कहकर बलिदान कर देती है। अनंगमुद्रा का भी चन्द्रलेखा की ही श्रेणी में स्थान है चन्द्रलेखा का बलिदान 'प्रसाद' की मालविका के समान ही है।

इन दोनों चरित्रों का प्रतिशोध पूर्ण रूप से 'दाहर' की परमाल और सूरज में हुआ है। ये दोनों शक्तिमती प्राणवान नारी बड़े उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आती हैं। शिकार करते हुए ये हेजाज़ के दूत को बन्दी बनाकर दाहर के दरबार में लाती हैं। प्रथम परिचय में ही इनका दिव्य नारीत्व सामने आता है। सिन्ध की रक्षा के लिए अलख जगाती हैं—सेनाएं जुटाती हैं—सिन्धियों को देश की रक्षा के लिए तैयार करती हैं। दोनों के चरित्र का विकास भी स्वाभाविक है। "क्या विश्व-प्रेम और करुणा दोनों भावनाएं जीवन की सुन्दर वस्तुएं नहीं ?" में परमाल का नारीत्व सुकुमारता और प्रेम का उपासक है। और उसका यह भ्रम सूर्यदेवी के शब्दों से दूर हो जाता है। सूर्यदेवी कहती है, "आंधी और तूफान में कोमलता की भावना प्रचण्ड अग्नि में सन्तोष की कामना और सर्वांगव्यापी विनाशक विष की प्रबलता में क्या हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहने से काम चलता है ?...आज जब शत्रु साठ हजार सेना लेकर सिन्ध पर आक्रमण किया चाहता है, घमासान युद्ध होगा—खून-खच्चर हो जायगा। उस समय पुरुषों के साथ स्त्रियों का कर्तव्य, आज यही सिन्ध की नारियों को सीखना है।

अपने हृदय की प्रतिहिंसा को प्रकट करते हुए सूर्य कहती है, "आह ! प्रतिहिंसा ! प्रतिहिंसा ! तेरी आग संसार में सबसे भयंकर है।...मैं उसकी भस्म चाहती हूँ। छटपटाते बिलखते लोगों को देखना चाहती हूँ और इसी में मेरा

जन्म है।" और जब सूर्य के कहने पर कि अब्दुलबिन कासिम ने उसे भ्रष्ट किया है, खलीफा उसे खाल में सिलवा देता है, तब सूर्य कहती है, "खलीफा याद रख मैंने वही किया, जो एक शत्रु दूसरे शत्रु से करता है। प्रतिहिंसा पूर्ण हुई। इस वीभत्स-काण्ड में, विश्व-विजयिनी वैजयन्ती में, स्वर्ण अक्षरों में सिन्ध का बदला लिखा जायगा।" और तुरन्त ही सूर्य और परमाल परस्पर एक दूसरे को मारकर मर जाती हैं।

नारी के इसी प्रतिशोध का रूप 'अम्बा' में आया है और भी सशक्त और रोमांचक रूप में।

नारी के ईर्ष्या और द्वेष, घृणा और क्रोध का रौद्र रूप 'सगर-विजय' की बर्हि में मिलता है। विशालाक्षी उसकी सौत है—बाहु की उपपत्नी। उसके नाश के लिए पागल है—बौखला रही है, "पाताल फोड़कर तुझे ढूँढ़ निकालूँगी विशालाक्षी!...मेरे हृदय की आग में तुझे जलना होगा।" और क्रोध में वृक्ष पर लिपटी लता को भी मसलकर फेंक देती है—क्रोध का यह रूप सचमुच भयंकर है। बर्हि बदला लेने के लिए विशालाक्षी को विष दे देती है। और बर्हि में कितनी शक्ति है, "क्या कहते हो मुझे बन्दी बनना होगा। मुझे बन्दी बनाओगे राजा? (क्रोध से) मूर्ख, मुझे कौन बन्दी बना सकता है। पकड़ सकता है, तूफान को कौन रोक सकता है प्रलय को कौन हटा सकता है। तुम मुझे बन्दी बनाओगे दुर्दम ?"

वह बिजली-सी तेज बर्हि विशालाक्षी और बाहु की और निशानी भी रहने देना चाहती। सगर को चुरा लाती है। नदी में फेंक देना चाहती है, "कैसा मनोहर है! पर इससे क्या, यह मेरा शत्रु है–शत्रु का पुत्र है। शत्रु का उच्छ्वास है, उसके उद्‌गार का रव है, उसकी प्रतिच्छाया है।" फिर भी कभी-कभी उसके हृदय में नारीत्व की कोमलता जागती है, "किन्तु इसमें इस नन्हे, भोले सुकुमार शिशु का क्या अपराध है? देखो न कैसे सुन्दर ओठ हैं। पतले-पतले कोमल...।" वह क्रोध में सगर को नदी में फेंकना ही चाहती है, पर वह कुन्त और त्रिपुर के द्वारा बचा लिया जाता है। कुन्त के शब्दों में बर्हि का चरित्र स्पष्ट हो जाता है, "स्पर्धा, प्रतिहिंसा का इतना उग्र रूप? गई साँपिन-सी फुफकारती,चोट खाई सिंहनी-सी···।"

नारी का तीसरा रूप है कोमलता और शील-सौन्दर्य का। इसी में गृहिणी का रूप भी सम्मिलित है। यशोधरा गृहिणी के रूप में आती है—कुलवधू के रूप में हमारे सामने आती है। एक ओर तो वह मुस्कान-डूबी, मुग्ध-मना,

एकनिष्ठ, स्नेह-आप्लावित कुलवधू है और दूसरी ओर कर्तव्य-रत माता। संयोग में उसका रूप सौंदर्यशीला नारी का है और वियोग में अश्रुवती कर्तव्य-परायणा विरहिणी माता का। उसके जीवन की कामना है, "इस जीवन की एक साध है—उनका दर्शन। वे मेरे हृदय की प्रतिमा हैं। मेरे आँसुओं के दृढ़ विश्वास हैं सुकेशी! वे महान्, मैं तुच्छ हूँ। वे प्रभु हैं, मैं सेविका।" इन थोड़े-से शब्दों में ही गोपा का नारीत्व प्रकाशित है।

'शक-विजय' की सरस्वती और सौम्या भी नारी के भव्य, कोमल और सुन्दर रूप हैं। सरस्वती का सौन्दर्य अवन्ती के जीवन में एक हलचल है, राजनीति में ववण्डर है। वह शक-आक्रमण का प्रमुख कारण है—सीधे रूप में नहीं। सरस्वती का हृदय कोमल है, दुग्ध-धवल है, मृगों के पारस्परिक प्रेम पर भी वह मुग्ध हो जाती है। वह एक साधिका है, कोई कुलवधू या प्रेयसी नहीं। तो भी उसके जीवन में समाज और राष्ट्र के प्रति विवेक है साथ ही उसमें एक स्वाभाविक नारीत्व भी सजग है, "क्या यह मिथ्या प्रवाद है कि महाराज कामुक हैं? (सोचकर) भ्रम है, मेरा भ्रम है। मुझे दो में से एक मार्ग तय करना होगा।......ओह! उस दिन दूर से देखा था, महाराज की आँखों से कितना मधु छलकता था।" और आगे चलकर यह मधु-आकर्षण और भी बढ़ जाता है। और वह सुकुमार नारी शकों द्वारा किये गए नर-संहार को सहन न कर सकी, हीरा चाटकर उसने प्राणांत कर लिया।

नारी-चरित्रों का चित्रण भट्टजी के प्रायः सभी नाटकों में बहुत अच्छा हुआ है। शील, शक्ति, सौन्दर्य, त्याग, वीरता, घृणा, ईर्ष्या, प्रतिशोध—सभी का सशक्त रूप लेखक के नारी-चरित्रों में मिलता है।

कला का विकास

भट्टजी की नाटक-रचना के पीछे न तो तीक्ष्ण नाटकीय प्रतिभा की सशक्त प्रेरणा ही है और न किसी विशेष अवस्था और जीवन-दर्शन का अनुरोध। नाटकीय प्रतिभा की प्रेरणा नाटकीय टैकनीक या प्रकार को प्राणवान रूप में रखती है और आस्था और नवीन जीवन-दर्शन उनके प्राणों को एक आकुलता-भरी गति देते हैं। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' में इन दोनों का समावेश है। लक्ष्मीनारायण मिश्र में नवीन जीवन-दर्शन का अनुरोध है और गोविन्दवल्लभ पन्त में नाटकीय प्रतिभा की सबल माँग है। भट्टजी ने अपने नाटकों की रचना प्रयोग के रूप में ही की, इसीलिए उनके प्रारम्भिक नाटक कला और टैकनीक की दृष्टि से अत्यन्त असफल रहे। भट्टजी की

नाट्य-कला अत्यन्त शिथिल गति से विकसित हुई। 'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'सगर-विजय' उनके अभ्यास-काल के नाटक हैं। 'कमला', 'मुक्ति-पथ', 'शक-विजय' आदि विकास-काल के माने जायंगे।

लेखक एक ओर तो संस्कृत नाटकों से प्रभावित हैं, और दूसरी ओर 'प्रसाद' से—विशेषकर काव्यमय रंगीन भाषा लिखने के प्रयास और चरित्र-चित्रण में भाषा की उलझनभरी अलङ्कार-प्रधान शैली, स्वगतों की भरमार और पद्यों का अरुचिकर समावेश संस्कृत-नाटकों की ही अस्वास्थ्यकर देन है। 'विक्रमादित्य' का आरम्भ भी 'मुद्राराक्षस' के समान होता है।

"चन्द्र बिम्ब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप,
बस सों करिहैं ग्रास कह जेहि बुध रच्छत आप"

—'मुद्राराक्षस'

"श्रवण योग से श्रीहत विधु हो दक्षिण आशा भाग,
पूर्ण चन्द्र मण्डल में विक्रम पूरेगा उपराग।
होगा मलग्रास सुविक्रम...................."

—'विक्रमादित्य'

दोनों का आरम्भ एक ही भाव के संकेत से होता है : वही श्लेष की माथा-पच्ची करने वाली शैली है, वही प्रकार है नाटक का विषय प्रकट करने का। 'विक्रमादित्य' का प्रथम दृश्य एक प्रकार से नाटक की प्रस्तावना ही है।

स्वगतों की अस्वाभाविक भरमार और लम्बी-लम्बी वक्तृताओं से नाटक भरे पड़े हैं। 'विक्रमादित्य' में पहले अंक के दूसरे दृश्य में सोमेश्वर का डेढ़ पृष्ठ, तीसरे दृश्य में विक्रमादित्य का साढ़े तीन पृष्ठ, तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में चेंगी का डेढ़ पृष्ठ, चौथे अंक के पहले दृश्य में प्रधान मंत्री का डेढ़ पृष्ठ, पाँचवें अंक के दूसरे दृश्य में विक्रमादित्य का दो पृष्ठ का स्वगत-भाषण है, ये सभी स्वगत-भाषण पात्र अकेले बैठे-बैठे करता रहता है। न इनमें कोई मानसिक उद्वेग है, न कोई दुविधापूर्ण मानस-संघर्ष। कई बार तो घटनाओं का वर्णन-मात्र ही इनमें होता है। और सबसे मजेदार स्वगत हैं पहले अंक के दूसरे दृश्य में चन्द्रकेतु का। वह स्वगत-भाषण करता है तो उसके उत्तर में सोमेश्वर भी स्वगत-भाषण करता है। इसे कहते हैं जैसे को तैसा। इस नाटक में ऐसे स्वगत तो अनेक हैं, जिनमें अपने सामने बैठने वाले के विरुद्ध ही बातें कही गई हैं।

'दाहर' में भी यह रोग ज्यों-का-त्यों रहा। पहले अंक का दूसरा दृश्य

दाहर के दो पृष्ठ के स्वगत से आरम्भ होता है। दूसरे अंक का प्रथम दृश्य आरम्भ होता है हैजाज के एक पृष्ठ के स्वगत से, और चौथे अंक के दूसरे दृश्य में युवराज भी दो पृष्ठ का स्वगत झाड़कर अपने अधिकार का उपयोग कर लेता है। पर इतनी बात अवश्य है कि 'दाहर' में 'विक्रमादित्य' के जैसे पात्र के सम्मुख विरोधी स्वगत नहीं हैं, इसमें यह प्रवृत्ति कम हो गई है। 'सगर-विजय' में भी स्वगत का मोह बना हुआ है। अनेक दृश्य स्वगत से ही आरम्भ होते हैं और भट्टजी के सभी पात्र स्वगत का इतना स्वागत करते हैं कि प्रायः सभी नाटकों में स्वगत हो चुकने के बाद ही प्रवेश करते हैं। पहले अंक का पहला, दूसरा; चौथा; दूसरे अंक का पाँचवाँ, तीसरे अंक का पहला; चौथे अंक का दूसरा; तीसरा और चौथा दृश्य स्वगत से ही आरम्भ हो जाता है। और ढाई-तीन पृष्ठ तक के स्वगत भी इनमें हैं। 'सगर-विजय' सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ, तब तक हिन्दी में अनेक श्रेष्ठ नाटक निकल चुके थे, फिर भी लेखक इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति को न छोड़ सका।

'कमला' में यह प्रवृत्ति कम हो गई है। इस छोटे-से नाटक में ४-५ स्वगत होंगे। स्वगत के द्वारा एक पात्र अन्य के चरित्र पर प्रकाश भी डालता है; पर यह चरित्र-चित्रण का ढंग नीचे दर्जे का होता है। कमला प्रतिमा के और देवनारायण कमला के चरित्र का उद्घाटन स्वगत के द्वारा ही करते हैं। 'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' इस रोग से बिलकुल मुक्त हो गए हैं। एक-दो स्वगत आये भी हैं तो वे स्वाभाविक और भावावेग के द्योतक हैं।

भट्टजी के नाटकों में गानों और पद्यों की भी अरुचिकर भरमार है। 'विक्रमादित्य' में दस गाने हैं। सोमेश्वर, विक्रमादित्य, चन्द्रलेखा, चन्द्रकेतु—सभी को गाने का रोग है। वे समय-कुसमय गलेबाजी करने लगते हैं। कुछ गाने तो केवल पद्य हैं। 'दाहर' में गाने और पद्यात्मकता का रोग और भी बढ़ा—चाहिए था, इस नाटक में यह कम होता और बढ़ा भी अधिक भद्दापन लेकर। इसमें तेरह पद्य और गीत हैं। दाहर, परमाल, समुद्र, मधुआ, देवकी, सूर्यदेवी, ज्ञानबुद्ध, जयशाह—सभी गाते और पद्यों में बोलते हैं। 'सगर-विजय' में यह प्रवृत्ति कम हो गई है—केवल चार गीत रह गए हैं। 'कमला' गीतों से मुक्त है। केवल एक गीत अन्त में दिया गया है। वह वातावरण की दृष्टि से बहुत अच्छा है। 'मुक्ति-पथ' में सात गाने हैं। सात गाने अधिक नहीं कहे जा सकते। 'शक-विजय' में यह प्रवृत्ति बिलकुल कम हो गई है—केवल दो गीत हैं। 'कमला' और 'शक-विजय' इस दिशा में

निर्दोष नाटक हैं। 'मुक्ति-पथ' के गीत भी अस्वाभाविक नहीं।

भट्टजी के नाटकों में गीतों का समावेश अधिकतर निरर्थक है। अनेक गीत केवल इसलिए दिये गए हैं कि नाटक में गीत रखने का रिवाज है। 'दाहर' के सभी गीत प्रायः निरुद्देश्य हैं। पहले अंक के दूसरे दृश्य में सोमेश्वर डेढ़ पृष्ठ का स्वगत-भाषण करके एक गीत गा देता है और दृश्य के अन्त में भी अकेला रह जाने पर एक गीत और अलाप देता है। तीसरा दृश्य विक्रमादित्य के गीत से आरम्भ होता है और थोड़ा स्वगत-भाषण करके फिर एक राग अलापने लगता है। दूसरा अंक चन्द्रलेखा के गीत से आरम्भ होता है। केवल यही गीत चरित्र, पात्र, स्थिति और अनुरोध को बहुत बड़ी माँग पूरी करता है। शेष सभी गीत बे-ढंगे, निरुद्देश्य, दोषपूर्ण, अगेय और ऊटपटाँग हैं। न उनमें हृदय की कोई कोमल भावना है, न संगीत, न स्वर और भाषा की स्वच्छता।

'दाहर' के पद्यों और गीतों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। पारसी-रंगमंचीय नाटकों में जिस प्रकार संवाद के अंत में पद्य बोलने को परम्परा थी, इसी प्रकार 'दाहर' में भी गद्य-संवाद के बाद में पद्य रखे गए हैं। पहले अंक के दूसरे दृश्य के अंत में दाहर दो पृष्ठ का स्वगत-भाषण करके पद्य बोलता है:—

> "यह भूल अज्ञता का फल है, जो अवसर के तरु पर फूली।
> वह सदा चुभी काँटा बनकर, वे भूलें आजीवन भूली॥"

और कासिम को विदा देते हुए हैजाज के दरबारी कवि का आशीर्वाद भी देखिये:—

> "हे अरब-दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ,
> निज देश, धर्म की रक्षा, करना बढ़-बढ़कर लड़ना।
> मत पीछे कदम हटाना, मत दायें-बायें जाना,
> दुनिया को रंग दिखाना सब अपना देश बनाना।"

'दाहर' में तो और भी कमाल यह है कि 'दाहर' के पात्र 'भारतेन्दु' और 'बेनी' के पद्य भी दोहराते हैं। लेखक को समय का भी ज्ञान नहीं। उस युग के पात्र १२ सौ वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले कवियों की कविताएँ भी याद कर लेते हैं—यह सचमुच कमाल है।

'सगर-विजय' में गीत कम हो गए हैं; उपयोग वही है। वैसे ही लम्बी-लम्बी कविताएँ हैं। उनका उपयोग भी वही है। या तो दृश्य का आरम्भ गीत से होता है या अन्त गीत से। उकताने वाला लम्बा भाषण सुनने को

तैयार करने के लिए या लम्बा भाषण सुनने के बाद घबराये हुए दर्शक को धीरज देने के लिए अधिकतर पद्यात्मक गीतों का प्रयोग किया गया है। दूसरा प्रयोग है पारसी-स्टेज के ढंग का—हरेक पात्र को गाने के लिए विवश करना।

'कमला' में भट्ट जी ने अस्वाभाविकता और उद्देश्यहीनता को अनुभव किया और उसके अन्त में केवल एक गीत रखा। और वह गीत संगीत, वातावरण, भाषा की स्वच्छता, राग की तन्मयता से पूर्ण है। 'मुक्ति-पथ' के गीत चरित्र, नाटकीय स्थिति और अनुरोध की दृष्टि से अच्छे हैं, पर उनमें संगीत-संबंधी दोष हैं। साहित्य का बोझ भी उन पर लदा है। पंक्ति के आरम्भ में 'समय', 'स्मृति', 'क्षितिज' और अंत में 'विह्वल' आदि शब्द संगीत के शत्रु हैं। और 'तजता ग्रीष्माकुल समुच्छ्वास'-जैसी पंक्तियाँ स्वरों में बाँधना अत्यन्त कठिन है।

भाषा और संवादों में भी धीरे-धीरे विकास होता दीखता है। 'विक्रमादित्य' में भाषा पर संस्कृत-शैली का बहुत बोझ लदा है। अलंकारों की उलझन और शब्दाडम्बर की भीड़-भाड़ में भाव दब गए हैं। संस्कृत का ऐसा अस्वास्थ्यकर और अरुचिकर प्रभाव हिन्दी के किसी नाटककार पर नहीं पड़ा। प्रसाद का भी प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है, पर वह रंगीनी स्वच्छता, काव्यमयता, सुकुमारता न आ पाई, उलझन अवश्य बढ़ गई।

'विक्रमादित्य' से एक उद्धरण लीजिए—"इसी के अनुसार शकट के दो पहियों के समान हम सुख-दुःख के कार्य-कलाप-रूपी मार्ग को तय करते हैं; परन्तु इस जीवन में सुख की पराकाष्ठा-रूप दृष्टिकोण के रथ पर बैठे हुए अकर्तव्य के स्वकल्पित चाबुक लेकर लालसा के घोड़ों को निज बुद्धि-जन्य विवेक की लगाम से अनवरत दौड़ाते चले जाते हैं।......विश्व-वैभव की भड़कीली पर्वत-चोटियों पर चढ़ने के लिए हमें मार्ग की कठिनाइयों को दूर करने के लिए अवसर रूप वृक्ष की छाया में बैठकर बुद्धि-चातुर्य का पानी पीते हुए उसी उद्देश्य की ओर अविरत गति से बढ़ना पड़ता है।"

'दाहर' में हैजाज़ कहता है—

"मद की उत्तेजना को पचा जाना ही उसकी विशेषता है। जिस दिन मैं इस उत्तेजक वारुणी को घूँट-घूँट करके पी लूँगा, जिस दिन सिंध की वासन्ती सुरभि के उन्मत्त मकरन्द-कण मेरे क्रोध की उत्तप्त ऊष्मा में से छन-छनाकर भस्म हो जायंगे, उस दिन मेरे हृदय में शान्ति की लहर धीमी, किन्तु उत्कटता के अनुपम राग के साथ मुख की रेखाएं, दिखला सकेगी।"—पचास शब्द का वाक्य है। बोलने वाले के फेफड़ों की परीक्षा हो जाती है।

'विक्रमादित्य' की भाषा 'दाहर' में विकसित होती गई है। वह अपेक्षाकृत सरल और गतिशील भी होती गई है। 'सगर-विजय' में वह काफी स्वच्छ होकर आई है। 'कमला' में भाषा नाटकोचित चलती हुई और चुस्त है। 'कमला' में देवनारायण कहता है, "यही तो बुरी आदत है। मैं तो संसार में सदा क्रियाशील बना रहना पसन्द करता हूँ। चाय में वे सब गुण मौजूद हैं। मैं पुराने विचारों का होते हुए इसकी खूबियों को समझता हूँ। कमला, परन्तु जीवन भी क्या पागलपन है। अरे, तो क्या तुम एक प्याला भी न लोगी?" 'कमला' और 'विक्रमादित्य' की भाषा की तुलना करते हुए आश्चर्यमय प्रसन्नता होती है। 'कमला' में भट्टजी की भाषा का प्रशंसनीय विकास है।

'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' की भाषा ने फिर कुछ गम्भीर रूप धारण किया है; पर यह सर्वथा युग और वातावरण के अनुसार है। दोनों नाटक प्राचीन काल के हैं। जैन और बौद्ध काल का वातावरण अवश्य भाषा को गम्भीर रूप दे देगा। इन दोनों नाटकों की भाषा गम्भीर होते हुए भी न तो संस्कृत के अस्वाभाविक बोझ से लदी है और न अस्वास्थ्यकर अलङ्कारों की भीड़ में दबी है। वह स्वच्छ और भाव-प्रकाशन में सफल है। 'शक-विजय' में गन्धर्वसेन कहता है, "जो लहर तट तक टकराकर उसके कगारों को तोड़ देती है, उसी का प्रभाव रहता है; शेष अनाम-अज्ञेय होकर नष्ट हो जाती है। फिर हमारा कार्य जीवन के प्रभाव को स्थिर और गतिमान बनाये रखना है। इस सिंह को मारकर कानन को निर्भय बना देने के अतिरिक्त मैंने एक क्रूर के शासन को भी नष्ट कर दिया है। क्या हम भी एकतन्त्र सत्ता नष्ट करके यौधेयों के सामने गणतन्त्र नहीं बना सकते?"

संवादों का विस्तार भी लगातार कम होता गया है। 'विक्रमादित्य' में तीन-साढ़े तीन पृष्ठ तक के स्वगत-संवाद हैं। डेढ़-दो पृष्ठ के संवादों से नाटक भरा पड़ा है। 'दाहर' में विस्तार कम हो गया है। बड़े-से-बड़ा संवाद डेढ़ पृष्ठ का ही रह गया है। 'सगर-विजय' में संवाद-विस्तार फिर पैर फैलाता हुआ दीखता है। वहि और विशालाक्षी के स्वगत और संवाद ढाई पृष्ठ तक बढ़ गए हैं। 'कमला' में विस्तार की दृष्टि से भी नाटकोचित संवाद हैं। शायद ही कोई संवाद एक पृष्ठ तक गया है। 'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' में भी संवाद संक्षिप्त और गतिशील हैं। पूरे नाटक में एक-दो संवाद ही एक पृष्ठ के होंगे। यदि कहीं कालकाचार्य (शक-विजय) का संवाद एक पृष्ठ तक गया भी है तो वह किसी अन्तर्द्वन्द्व और भावावेग को प्रकट करता है—अस्वाभाविक नहीं मालूम होता। संवादों और नाटकीयता

की दृष्टि से भी 'कमला' सर्वश्रेष्ठ ठहरता है।

नाटकीय तत्त्वों में चरित्र-चित्रण में भट्ट जी सफल हुए हैं। 'विक्रमादित्य' में विक्रमादित्य, सोमेश्वर, 'दाहर' में परमाल और सूरज, 'सगर-विजय' में बर्हि और विशालाची, 'कमला' में देवनारायण, 'मुक्ति-पथ' में सिद्धार्थ, शुद्धोदन, 'शक-विजय' में कालकाचार्य आदि के चरित्रों में चरित्र-चित्रण के कौशल का काफी पता चलता है। चरित्र-चित्रण के लिए भट्ट जी ने स्वगत का सहारा तो लिया ही है, अन्य सभी संभव साधन अपनाये हैं। एक के द्वारा अन्य पात्र का चरित्र प्रकाशित करने का ढंग भी अपनाया है। कमला जैसे प्रतिमा के विषय में कहती है। कार्य-कलापों से भी चरित्र का प्रकाशन किया गया है। कालकाचार्य, विक्रमादित्य, परमाल, सूरज, बर्हि आदि का चरित्र उनके कार्य-कलापों से ही प्रकाशित किया गया है। आपसी वार्तालाप से भी कभी-कभी चारित्रिक गुणों का प्रकाशन किया जाता है, यह भी प्रकार सोमेश्वर, चन्द्रकेतु, परमाल के चरित्रोद्घाटन मे अपनाया गया है। परिस्थितियों के अनुसार भी चरित्रों में विकास और ह्रास दिखाया गया है।

भट्ट जी के नाटकों का आरम्भ अधिकतर साधारण दृश्यों से होता है। 'विक्रमादित्य' का आरम्भ एक राज-पथ से होता है और 'शक-विजय' का भी आरम्भ राज-मार्ग से। पहले दृश्य में लेखक नाटक की प्रस्तावना रख देता है। आरम्भ अधिक प्रभावशाली नहीं होता। अन्त दुःख और सुख दोनों में होता है। 'शक-विजय', 'सगर-विजय' 'विक्रमादित्य' का अन्त विजय में होता है और 'दाहर' का प्रतिशोध में। आरम्भिक नाटकों में भट्ट जी की कला लड़खड़ाती-सी लगती है—कलम में आत्म-विश्वास की कमी झलकती है। 'दाहर' का पाँचवाँ अंक भरती-सी मालूम होता है और है भी कितना छोटा। 'शक विजय' तक में अङ्क का विभाजन लम्बाई के हिसाब से ठीक नहीं जँचता। पहला अङ्क बीस, दूसरा अठारह, तीसरा छियालीस और चौथा बाईस पृष्ठों का है। 'कमला' म पहले और तीसरे अङ्क में केवल एक-एक दृश्य है और दूसरे अङ्कमें तीन 'सीन'।

भट्टजी के नाटकों में एक दो बातें और भी बहुत खटकने वाली हैं। आकस्मिकता का अभाव इनमें बहुत है। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटकों में यह पर्याप्त मात्रा में मिलेगी। सहसा कोई पात्र किसी पात्र के संवाद का छोर पकड़कर प्रवेश करता है और व्यंग्यात्मक ढंग से उसे दोहराता है—इससे नाटक में आकस्मिकता आती है। या अचानक कोई अभिलषित घटना आशंका के विरुद्ध होना भी नाटक में जान डाल देता है, यह भी इनके नाटकों में

कम है। इसके अतिरिक्त किसी पात्र के प्रवेश से पहले काफी समय व्यर्थ की बातों में नष्ट करके पात्र आता है या आपसी इधर-उधर की बात-चीत के बाद पात्र आवश्यक बात पर आते हैं, यह भी नाटकीय दोष है। 'दाहर' 'विक्रमादित्य' आदि में यह बहुत है।

टैकनीक की दृष्टि से भट्टजी के नाटकों का धीरे-धीरे विकास होता गया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों से कि 'टैकनीक की दृष्टि से भट्टजी के सभी नाटक असफल हैं।' हम सहमत नहीं। नाटकीय कला के विकास की दृष्टि से देखें तो 'कमला' और 'शक-विजय' भट्टजी के श्रेष्ठ नाटक हैं और 'विक्रमादित्य' तथा 'दाहर' नीचे दर्जे के। 'कमला' ने ही कला के अभ्यास और विकास के बीच लकीर खींची है। 'कमला' और 'शक-विजय' में उन्होंने पर्याप्त सफलता पाई है।

अभिनेयता

नाटक जन-सम्पर्क स्थापित करने का सबसे सफल और सरल साधन है। साहित्य के अन्य किसी साधन से जनता के सम्पर्क में आना और उस सम्पर्क को स्थायी सम्बन्ध बनाना इतना सरल नहीं, जितना नाटक के द्वारा। पर नाटक में जिसके द्वारा वह अपनी जन-सम्पर्क-सफलता की घोषणा करता है, वह है अभिनेयता। अभिनेय तत्व नाटक के जीवन को बहुत बढ़ा देता है। यदि नाटक में केवल पाठ्य-गुण ही होगा, तो जीवन और जनप्रियता की दौड़ में वह उपन्यास और कहानी से बहुत पीछे रहेगा। अभिनय-गुण ही तो उसे उपन्यास या कहानी से श्रेष्ठ बनाता है। इस प्रमाण से तो स्पष्ट है—उपन्यास और कहानियाँ जितनी बिकती हैं, नाटक नहीं बिकते। नाटक में जो कुछ लेखक नहीं कहता, वह अभिनय के द्वारा दिखाया जा सकता है।

भट्टजी के नाटकों में जहाँ टैकनीक के अन्य उभरते दोष हैं; वहाँ अभिनय की दृष्टि से भी वे सर्वथा असफल हैं। दृश्य-विधान की दृष्टि से 'विक्रमादित्य' के पहले दो अङ्क विशेष कठिन नहीं, पर तीसरे अङ्क का दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ दृश्य निर्मित किये जाने असम्भव हैं। पूरे-का-पूरा अंक बनाना रचनातीत है। काँची के राजा का मंत्रणागार, काली का मंदिर, काली मंदिर के सामने एक गह्वर पर्वत-शिखर की शिला और करहार शत्रु-सेना से घिरा है—विक्रमादित्य द्वारा सेना का निरीक्षण—यह क्रम है। समय, स्थान और सुविधा इन सभी की रचना से इंकार करते हैं। यह हाल पाँचवें अंक का है। उसमें भी लगातार प्रासादों और उद्यानों के दृश्य हैं और भीड़-भाड़ भी काफी है।

'दाहर' का दृश्य-विधान विक्रमादित्य से अधिक सरल और स्वाभाविक है। पहले अंक के निर्माण में तनिक भी कठिनाई नहीं। दो बड़े दृश्यों के बीच एक छोटा—सड़क या वन का—दृश्य डालकर उनके निर्माण के लिए समय निकाल लिया गया है। इस नाटक की सम्पूर्ण दृश्यावली रचना की दृष्टि से निर्दोष है। चौथे अंक में एक-दो दृश्य ही गड़बड़ी डालने वाले हैं। इसमें एक दोष है तो यही कि अंक-विभाजन में समय का ध्यान बहुत कम रखा है। पहला अंक ४०, दूसरा ३०, तीसरा ४०, चौथा २५ तथा पाँचवाँ ५ पृष्ठ का है। इसके अतिरिक्त 'दाहर' दृश्य-विधान की सरलता और स्वाभाविकता का विकास होते हुए भी एक निर्बलता है। अधिकतर दृश्यों बैठे-बैठे मंत्रणा होती है, बातचीत चलती, अप्रासंगिक विषय छिड़ते हैं। उनमें से प्रभावशाली दृश्य कम ही हैं। 'दाहर' की सरल दृश्यावली 'सगर-विजय' में फिर लड़खड़ाती-सी दीखती है। पाँचवाँ अंक उकता देने वाली समानता से भरा पड़ा है। लगातार बन्दीगृह के दृश्य-पर-दृश्य सामने आते हैं। प्रथम अंक के प्रथम तीन दृश्य भी, जिनमें पहला-दूसरा तो एक ही समझिये, पर्याप्त कठिनता उपस्थित करते हैं।

'कमला' कई नाटक लिखने के बाद लिखा गया है; पर इसमें भी दृश्य-विधान का विकास अभिनयोचित न हो सका। पहला अंक एक दृश्य है। उसमें जिस कमरे का निर्माण है, वह पहले हो बना लिया जायगा तभी पर्दा उठेगा। इसके बाद दूसरे अंक का पहला दृश्य है गाँव की चौपाल का चबूतरा, एक तरफ अलाव लगा है, एक चटाई पर कई आदमी बैठे हैं। दूसरा दृश्य-पहले अंक में दिखाया हुआ कमरा। तीसरा—कोठी के सामने का छोटा बाग (लॉन)—चारों तरफ गमले रखे हैं, बीच में घास पर दो आराम कुर्सियाँ आदि। तीसरा अङ्क भी एक दृश्य है। पहले अंक की दृश्य-रचना यदि रहने दी जाय, और वह दूसरे पर्दे के पीछे हो तभी उसे रखा जा सकता है, तो यवनिका गिराकर दूसरे अंक का पहला दृश्य बनाया जा सकता है। इसके बाद दूसरा दृश्य है वही कमरा। पहले दृश्य का पर्दा गिराकर चबूतरा, अलाव, चटाई हटाने में अवश्य कुछ समय लग जायगा। इसके बाद कमरे का दृश्य दिखाया जायगा। कमरे के दृश्य का पर्दा गिराकर अब तीसरा दृश्य बनाने में इतना समय अवश्य लग जायगा कि कार्य-व्यापार में शिथिलता आ जाय। पर कमला का दृश्य-विधान कठिन नहीं है—अभिनय में अधिक गड़बड़ी नहीं लायगा।

'मुक्ति-पथ' के पहले अंक के दूसरे, तीसरे, चौथे दृश्य भी लगातार बड़े

है। दूसरा अंक तो प्रायः बड़े ही दृश्यों से भरा पड़ा है और लेखक ने जैसा निर्देश किया है वैसे दृश्य तो शायद् वे स्वयं भी न बना सकें। दूसरे अंक का पहला दृश्य सिद्धार्थ के नगर-प्रवेश का है। लेखक का निर्देश है, "रंगमंच के ऐसे समय दो भाग होंगे। भीतर के भाग में राजकुमार का रथ इस प्रकार हिल रहा हो, जिससे मालूम हो रथ चल रहा है। उसके साथ दो फुट ऊँचे पर्दे पर दुकानों के दृश्य अंकित होंगे। लोग विक्रयार्थ वस्तुएं सजाये बैठे होंगे। उसके सामने एक सड़क का दृश्य होगा, जिस पर लोग आते-जाते दिखाई देंगे। सिद्धार्थ के नगर-प्रवेश के कारण नगर सजा हुआ दिखाई देगा...।" दूसरा दृश्य है कपिलवस्तु का संथागार, जहाँ सिंहासन के बराबर धर्माध्यक्ष बैठे हैं। लेखक यथा स्थान बैठे हैं। सिंहासन के समीप सिद्धार्थ का आसन है। सिद्धार्थ भी बैठे हैं।

अब इनकी रचना पर विचार करें। पहले दृश्य में पूरा रंगमंच घिर जाता है। पहला दृश्य समाप्त होने पर यह दृश्य बनाया जायगा। इसके बनाने में कम-से-कम सात-आठ मिनट अवश्य लग जायंगे। राजसी दृश्य बनाना, उसे सजाना, इतने आसन लगाना—काफी समय चाहिए। रंगमंच यदि पाँच मिनट भी खाली रह जाय तो दर्शक निश्चय ही, हो-हल्ला मचा देंगे, यह ध्रुव सत्य है। और इन दृश्यों को अंक आरम्भ होने से पहले बनाने के रंगमंच पर इतना स्थान कहाँ से आ गया? अब तीसरा दृश्य देखिये। गोपा का प्रसूतिकागार। यदि इसे दूसरे दृश्य का अभिनय होते हुए बनाया जाय तो इसे दूसरे के पीछे बनाया जायगा। दूसरे दृश्य का पर्दा गिरने के बाद उसका सामाने हटाने में फिर एक-दो मिनट अवश्य लगेंगे। 'शक-विजय' में भी दृश्य-सम्बन्धी त्रुटियाँ मिलेंगी—अभिनय की दृष्टि से। पहले अङ्क का पहला, दूसरा और तीसरा दृश्य भी कुछ कठिनाई अवश्य उपस्थित करते हैं, पर उसकी दृश्यावली 'दाहर' को छोड़कर सभी अन्य नाटकों से सरल और सुगम है। जहाँ तक दृश्य-विधान का प्रश्न है, 'दाहर' और 'शक-विजय' का अभिनय हो अवश्य सकता है।

अभिनय के लिए कार्य-व्यापार एक अनिवार्य तत्व है। कार्य-व्यापार से ही नाटक में जान आती है—दर्शकों के मन को बाँधने में कार्य-व्यापार ही सबसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व है। कार्य-व्यापार की भट्टजी के नाटकों में बहुत अधिक कमी है। 'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'सगर-विजय' और 'शक-विजय' चारों नाटक युद्ध-प्रधान हैं, तो इन नाटकों में कार्य-व्यापार का खटकने वाला अभाव है। माना कि रंगमंच पर पात्रों की उछल-कूद का

नाम ही कार्य-व्यापार नहीं है पर घटनाओं की गति-शीलता, पात्रों की सक्रियता, कथा का प्रवाह नाटकों में न होगा तो नाटक में शिथिलता आ जायगी। युद्ध के नाटकों में पात्रों में विद्युत् के समान गति, घटनाओं का तीव्रतर होना—घटनाओं की एक शृङ्खला-सी बन जाना आवश्यक है। यह हम भट्टजी के नाटकों में बहुत कम पाते हैं।

'विक्रमादित्य' के प्रथम अङ्क में कोई भी घटना नहीं घटती। दूसरे अंक का भी यही हाल है। पहले में केवल यह पता चलता है कि सोमेश्वर अपने छोटे भाई विक्रमादित्य के विरुद्ध चेंगी की सहायता करेगा और दूसरे में यह पता चलता है कि चन्द्रलेखा का भाई चेंगी के द्वारा धोखे से मारा गया। कुल नाटक में तीसरे अङ्क का पाँचवाँ, पाँचवें अङ्क का तीसरा और दूसरे अङ्क का दूसरा दृश्य ही गतिवान और सक्रिय हैं। प्रायः शेष सभी दृश्य बैठे-बैठे वार्तालाप या विचार-विनिमय करने में ही समाप्त हो जाते हैं।

'दाहर' का पहला दृश्य अत्यन्त स्फूर्ति के साथ सामने आता है। इसमें अभिनय की दृष्टि से भट्टजी के श्रेष्ठ दृश्य हैं। पाँचवाँ दृश्य भी जानदार और गतिवान है। इसमें भी अधिकतर दृश्य समाचार प्राप्त करने और विचार-विनिमय के लिए रच डाले गए हैं। एक-दो घटनाओं के सिवा रंगमंच की घटनाएं नहीं घटतीं। और 'कमला' में तो केवल एक घटना है कमला का गृह-त्याग और नदी में डूबकर आत्म-हत्या, सो भी घटती वह भी नहीं, वह समाचार-पत्र में पढ़कर मालूम होती है। पर घटनाएं न होते हुए भी उसमें कार्य-व्यापार है। पात्रों में स्फूर्ति है, गतिशीलता भी है। अभिनेता यदि अच्छे हों तो इसके अभिनय में सक्रियता घटनाओं की नहीं, चारित्रिक अवश्य आ जायगी।

'सगर-विजय' के दूसरे अंक का दूसरा और पाँचवाँ दृश्य भी अच्छे हैं। 'मुक्ति-पथ' में तो अधिक कार्य-व्यापार की आशा ही न करनी चाहिए। तीसरा अंक तो सम्पूर्ण ही सिद्धार्थ के ज्ञान-लाभ और जनोद्धार का है। वह तो गम्भीर होगा ही। अन्य अंकों में अधिक शिथिलता नहीं है। उनमें कथावस्तु को ध्यान में रखते हुए पर्याप्त गतिशीलता है। 'शक-विजय' भट्ट जी का नवीनतम नाटक है, यह कार्य-व्यापार की दृष्टि से उनके अन्य नाटकों से अधिक शिथिल है। पहला पूरा अङ्क बैठे-बैठे वार्तालाप धर्म-नीति की बहस या उपदेश से ही भरा है। दूसरे अङ्क में भी कोई घटना नहीं घटती। तीसरे चौथे और पाँचवें सभी दृश्यों का यह हाल है। पूरे नाटक में रंगमंच पर कोई घटना नहीं घटती। संवादों में घटना का वर्णन-भर कर दिया जाता है।

सरस्वती का हरण, कालक का प्राण-त्याग, गंधर्वसेन की मृत्यु, सरस्वती की आत्म-हत्या—सभी वर्णित हैं।

नाटकीयता, आकस्मिकता, अनाशितता भी अभिनय में बड़ी सहायक होती है। इसमें अचानक दर्शक उल्लास से उछल पड़ता है, रोमांच से फूल जाता है, कौतूहल से चकित हो जाता है, और आशातीत प्रसन्नता में डूब जाता है। 'रहस्य-ग्रन्थि' इन सब बातों को बढ़ाने वाली है। 'विक्रमादित्य' में यह तत्व पर्याप्त मात्रा में है। चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा का पुरुष वेश में चेंगी की सेना में जाना, चन्द्रकेतु का संन्यासी और चण्डांशुक का नृसिंह बनना दर्शकों के कौतूहल जगाने के लिए काफी है। चन्द्रलेखा का विक्रमादित्य के बाण से मरना भी आकस्मिकता का एक बहुत बड़ा उदाहरण है। पर नाटकीयता—अचानक आशंका के विरुद्ध में घटना होना—इसमें भी नहीं है। 'शक-विजय' में भी सागर-स्त्री के वेश में सरस्वती से आकर मिलता है यह भी एक कौतूहलजनक घटना है। इनके सिवा किसी नाटक में भी नाटक और अभिनय का यह आवश्यक तत्व नहीं मिलता।

भट्ट जी के प्रायः सभी नाटकों में काफी पात्र हैं। पात्रों की भीड़-भाड़ भी नाटक के अभिनय में थोड़ी-बहुत बाधा अवश्य उपस्थित करती है। 'कमला' को छोड़कर सभी नाटकों में बीस-बाईस तो प्रमुख पात्र रहते हैं और चार-छः गौण। बहुत अधिक पात्रों का होना रसानुभूति में भी बाधक होता है, और चरित्र-विकास में भी।

भाषा का चुस्त और चलती हुई होना भी अभिनय के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से 'विक्रमादित्य' और 'दाहर' तो सर्वथा अयोग्य हैं। 'विक्रमादित्य' की भाषा तो उपमा और रूपकों से लदी संस्कृत के प्रभाव से बोझिल बनावटी और नाटकीय दृष्टि से दोषपूर्ण है। 'दाहर' की भाषा 'विक्रमादित्य' की भाषा से स्वच्छ है, पर वह भी नाटकोचित नहीं। 'सगर-विजय' की भाषा कुछ सँभली है। पर सब मिलकर भट्ट जी के नाटकों की भाषा चलती हुई नहीं, अंत के नाटकों की भाषा में भी भारीपन और गम्भीरता है।

संवाद भी प्रथम तीन नाटकों में तो बहुत ही लम्बे-लम्बे हैं। स्वगतों की भरमार है। पद्यों में भी संस्कृत के सामान भरती की गई है। पर ज्यों-ज्यों भट्ट जी की कला निखरती गई है, संवाद छोटे होते गए हैं, भाषा स्वच्छ और चुस्त होती गई है और स्वगतों का लोप होता गया है। 'मुक्ति-पथ', 'कमला' और 'शक-विजय' में वह बहुत-कुछ विकसित हो गई है, निखर गई है। अभिनय की दृष्टि से भट्ट जी के नाटक दर्शक पर प्रभाव नहीं छोड़ेंगे। वैसे 'कमला' का अभिनय उनके अन्य नाटकों से अच्छा और सफल रहेगा।

: ७ :

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास साहित्य और स्वदेश दोनों के एकनिष्ठ सेवक के रूप में हमारे सामने आते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में आपने अनेक त्याग किये हैं और हिन्दी की अपने भाषण और लेखन दोनों के द्वारा पूरी-पूरी हिमायत की है। हिन्दी में आप नाटककार के रूप में आये। आपने एक खासी संख्या में नाटक-रचना कर डाली। सेठ जी ने अपने नाटकों की सामग्री अनेक जीवन-क्षेत्रों और युगों से चुनी है। आपकी उत्साही लेखनी पौराणिक, ऐतिहासिक और वर्तमान युग से नाटकीय सामग्री तलाश करती फिरी है।

आपने पौराणिक क्षेत्र से भी कथानक चुनकर उनमें वर्तमान जीवन के लिए लाभदायक और प्रेरक रंग भरने का प्रयास किया है। 'कर्तव्य' (पूर्वार्ध) राम की जीवन-गाथा को लेकर लिखा गया है। इसमें बताया है कि किस प्रकार भगवान् राम ने कर्तव्य कर्म करते हुए अपना जीवन बिताया। 'कर्तव्य' (उत्तरार्ध) में कृष्ण का जीवन चित्रित किया गया है। इसमें भी भगवान् कृष्ण का कर्तव्य-रत जीवन दिखाया गया है। 'कर्ण' भी पौराणिक नाटक है। महाभारत के इस महान् चरित्र ने भी सेठ जी की लेखनी को प्रेरित किया है। 'हर्ष', 'कुलीनता' और 'शशिगुप्त' आपके ऐतिहासिक नाटक हैं। 'हर्ष' में सम्राट् हर्षवर्धन की कथा है। 'कुलीनता' में त्रिपुरी के कलचुरि क्षत्रिय-वंशीय विजयसिंह के पराभव और एक गोंड-सैनिक यदुराय की विजय की कथा है। 'शशिगुप्त' में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की जीवन-गाथा है। 'दुखी क्यों' 'महत्त्व किसे', 'बड़ा पापी कौन', 'प्रकाश', और 'विकास' सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के नाटक हैं।

सेठ जी की रचनाओं से हमें पता चलता है कि उन्होंने सभी क्षेत्रों को लिया, सभी प्रकार के चरित्रों को रखा और सामाजिक राष्ट्रीय समस्याओं को भी अपने नाटकों में स्थान दिया। उनकी कलम का कार्य क्षेत्र विस्तृत है—उनकी कला की कोशिश रही हर क्षेत्र और समय में अपना कौशल दिखाने

की। बड़े नाटकों के साथ ही आपने एकांकी के क्षेत्र में भी बहुत-सी रचनाएं कीं। आपके 'पंच-भूत', 'सप्त-रश्मि', 'अष्ट-दल', 'एकादशी', 'चतुष्पथ' आदि एकांकी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं।

रचनाओं का काल-क्रम

हर्ष	१९३५
प्रकाश	,,
कर्तव्य (पूर्वार्ध)	,,
कर्तव्य (उत्तरार्ध)	,,
सेवा-पथ	१९४०
कुलीनता	,,
विकास	१९४१
शशिगुप्त	१९४२
दुःख क्यों ?	१९४३
कर्ण	,,
महत्त्व किसे ?	१९४७
बड़ा पापी कौन ?	१९४८
दलित-कुसुम	...
पतित सुमन	...
हिंसा या अहिंसा	...
संतोष कहाँ ?	...
पाकिस्तान	...
त्याग या ग्रहण	...
नवरस	...
सिद्धान्त-स्वातंत्र्य	...

समाज और समस्याएं

गोविन्ददास जी ने सभी प्रकार के नाटक लिखे—पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक। जो सामग्री जीवन के जितने विस्तृत क्षेत्र और काल से ली जायगी, उसमें उतनी ही विभिन्न, उलझी, गम्भीर और कठिन समस्याएं हमारे सामने आयंगी। भारतीय समाज, इसकी सभ्यता, संस्कृति और इतिहास की आयु लाखों वर्षों की है। इन लाखों वर्षों में भारतीय समाज और व्यक्ति को न जाने कितनी समस्याओं का सामना करना पड़ा है। इसे

न जाने कितनी ऊबड़-खाबड़ धरती पर चलना पड़ा है, न जाने कितनी टेढ़ी-तिरछी घाटियों से होकर आगे बढ़ना पड़ा है। इतने विशाल, महान् और वयोवृद्ध समाज में न जाने कितने कथानक मिल सकते हैं, न जाने कितनी उलझनें सुलझाने की समझ प्राप्त हो सकती है।

'कर्ण' पौराणिक नाटक है। उसकी कथा—कर्ण का जीवन स्वयं एक गम्भीर सामाजिक समस्या है। आज भी वो उस पौराणिक काल की समस्या समाज के सामने ज्यों-की-त्यों है। 'कर्ण' में दो समस्याएं हैं—अविवाहित लड़की की सन्तान की समाज में क्या स्थिति हो और छोटे कुल या जाति में उत्पन्न वीर या प्रतिभावान व्यक्ति का क्या स्थान हो। यह समस्या समाज आज भी कहाँ सुलझा सका है। आज भी हम भीम के शब्द गूँजते सुनते हैं, "रे सूत, तू अर्जुन से द्वन्द्व-युद्ध करना चाहता था। यह महत्वाकांक्षा—यह यह साहस! × × × जा, जा, अपने कुल-धर्म के अनुसार प्रतोद लेकर रथ पर बैठ, सारथी-कर्म से जीविका चला।" और आज भी क्या अनेक कुन्तियाँ अविवाहित अवस्था में सन्तानें उत्पन्न करके नहीं फेंक देतीं। आज भी अनेक युवतियाँ एकांत में सोचती होंगीः "समाज में मेरी करनी का भण्डाफोड़ न हुआ था न, बच गई. हां, धुली-धुलाई बच गई थी न! × × ओह! मैंने माता के किस कर्तव्य का पालन किया! सामाजिक भय ने स्वाभाविक स्नेह तक को भुला दिया। × × × विवाह की सन्तान पति से न होकर किसी अन्य से भी हो तो भी समाज को ग्राह्य है।"

'कुलीनता' में एक सामाजिक समस्या को लिया गया है। अकुलीन गोंड सर्वोपरि वीर प्रमाणित होने पर भी कुलीनता के अहं का शिकार होता है। राजकुमारी रेवासुन्दरी उसको तिलक तक नहीं कर सकती। और यह सन्देह होने पर कि वह सम्भवतः यदुराय गोंड को प्यार करती है, उसे देश-निकाला दे दिया जाता है। यह कुलीनता का पाखण्ड, दुरभिमान और आडम्बर ही हमारे देश को तबाह कर रहा है। वही अकुलीन गोंड कलचुरि क्षत्रिय कुलीन विजयसिंह और चण्डगोड को सबक सिखाता है। उनको युद्ध में परास्त करता है और स्वयं राजा बनकर गोंड वंश की नींव डालता है, तब मालूम होता है इन कुलीनता के अभिमानी क्षत्रियों को।

'दुःख क्यों', 'महत्त्व किसे' और 'बड़ा पापी कौन'—तीनों वर्तमान जीवन और समाज के चित्र हैं। 'दुःख क्यों' में रँगे सियार नेता यशपाल का चरित्र और कार्य-कलाप वर्णित हैं। समाज के सामने यह भी कम भीषण समस्या नहीं। जनता का चन्दा खा जाना। देश-सेवा नहीं, नाम या बदला

लेने के लिए त्याग करना—नौकरी को पेशा बनाना—आज भी अनेक नेताओं के महान् गुण हैं। लेकिन प्रश्न यह है इनकी पहचान कैसे हो ? अभी तक तो ऐसा कोई भी पैमाना नहीं बना। भण्डा फूटने पर ही पता चलता है और अनेक प्रभावशाली धूर्तों का तो अंत तक पता चलता ही नहीं। आज देश में आम नेता कोई भी व्यवसाय, व्यापार, नौकरी नहीं करते—सभी जनता का पैसा पी जाते हैं। आवश्यकता है, सबल जन-सम्मति तैयार करने की कि ऐसे धूर्तों को खुले बाजार में निन्दित किया जा सके।

'महत्त्व किसे' में धन खोकर देश-सेवा करते हुए दरिद्रता को गले लगाना ठीक है या धन कमाते हुए देश-सेवा करना ठीक—यही दिखाया गया है। यह नाटक सामाजिक प्रश्न पर नहीं, व्यक्तिगत प्रश्न पर प्रकाश डालता है। हल कुछ भी नहीं दिया गया, यह पाठकों पर छोड़ दिया गया है। 'बड़ा पापी कौन' 'महत्त्व किसे' से अधिक सामाजिक है। देवनारायण प्रकट रूप से वेश्या रखता है और रमाकांत छिपे-छिपे अपनी साली को रखे है। पर समाज में बड़ा पापी है देवनारायण। देवनारायण किसी का गला नहीं काटता, तनखा कम नहीं करता, दान आदि भी देता है और रमाकांत मिल-मजूरों का वेतन कम करता है, अनेक क्लर्कों को निकाल देता है, छिपे-छिपे देवनारायण के विरुद्ध कार्य करता है, तो भी वह पापी नहीं। वास्तव में पापी तो है रमाकांत ही, देवनारायण नहीं। पर समाज उन बातों को पाप कहता है, जिससे सचमुच उसे कोई हानि नहीं और उनको पाप नहीं कहता, जिनसे सीधे रूप में समाज को हानि है।

सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों में समाज और व्यक्ति की समस्याएं ली हैं; पर वे बहुत ही हल्की हैं। मनोवैज्ञानिक समस्याएं वे नहीं ले सके और न व्यक्ति को ही उन्होंने अपने नाटकों में प्रमुख रूप से लिया। इस क्षेत्र में अभी तक तो लक्ष्मीनारायण मिश्र का ही नाम उल्लेखनीय है। काम और रोटी की समस्या वर्तमान जीवन की प्रमुख समस्या है, जिसको गोविन्द-दास जी ने नहीं छुआ। फिर भी उनका ध्यान समाज और व्यक्ति की ओर है अवश्य। 'दुःख क्यों' में सुखदा और 'महत्त्व किसे' में सत्यभामा का व्यक्तित्व स्वाधीन रखने का खूब प्रयत्न किया गया है।

पात्र—चरित्र-चित्रण

सेठ जी ने अपने नाटकों के कथानक और चरित्र सभी कालों और क्षेत्रों से चुने हैं। 'कर्तव्य' (पूर्वार्ध), 'कर्तव्य' (उत्तरार्ध) और 'कर्ण' पौराणिक नाटक

हैं। राम, कृष्ण और कर्ण का चरित्र इन नाटकों में क्रमशः चित्रित किया गया है। राम और कृष्ण में अति मानवता का अंश है, तो भी उनको मानव ही अधिक रखा गया है। भगवान् राम और योगिराज कृष्ण—दोनों ही हिन्दुओं में अवतार माने जाते हैं, पर सेठ जी ने इनमें मानव भावनाएं ही अधिक भरी हैं। ये दोनों कर्तव्य के प्रतीक हैं। राम कर्तव्य से अनुप्राणित होकर राज्य-सिंहासन को हँसते-हँसते त्यागकर वनवास स्वीकार करते है और रावण जैसे आततायी का वध करते हैं। कृष्ण भी कर्तव्य की पुकार पर वंशी-वट जमना-तट और राधा-ऐसी प्राण-माधुरी को त्यागकर मथुरा चले जाते हैं। दोनों नाटकों का आरम्भ ही कर्तव्य-पालन में सफलता प्राप्त करने की चिन्ता करते हुए राम-सीता और कृष्ण-राधा की बातचीत से होता है। राम चिन्तित हैं, "देखना है प्रिये, इस उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ।" राम धीरोदात्त नायक हैं। वे सभी गुण इनमें हैं, जो भारतीय शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार धीरोदात्त नायक में होने चाहिएं। कृष्ण धीर-ललित नायक हैं। कला-प्रिय, प्रेमी, नृत्य-गान में लीन, अनेक नारियों से विवाह करने वाला वीर, योग्य, शीलवान, निर्भय, उपकारी, कर्तव्य-निष्ठ, राजा, ब्राह्मण, ईश्वरांश नायक धीर-ललित कहलाता है। ये सभी गुण कृष्ण में मिलते हैं। इन दोनों ही नाटकों को मानव सिद्ध करने या कम-से-कम प्रकट करने के लिए लेखक ने इनकी मृत्यु भी दिखाई है। क्योंकि ये मानव हैं, इसलिए इन दोनों में ही मानवीय उल्लास, मानवीय चिन्ता और आशंका भी दिखाई गई है। ये दोनों ही वीर नायक आजीवन कर्तव्य-पालन में रत रहते हैं। पौराणिक होने के कारण दोनों ही चरित्रों में आदर्शवाद कूट-कूटकर भरा है। साधारण मानवों से तो वे ऊँचे रहेंगे ही। इनके चित्रण में रसानुभूति और साधारणीकरण वाला भारतीय रस-शास्त्र का सिद्धान्त काम करता पाया जाता है।

कर्ण भी पौराणिक चरित्र है। वह राम-कृष्ण के समान ईश्वरीय अंश या अवतार नहीं है। उसके चरित्र में भी आदर्शवाद और साधारणीकरण वाला सिद्धान्त लागू किया जा सकता है। वह वीर, निर्भय, दृढ़-प्रतिज्ञ मित्रवत्सल, निरभिमानी, अद्वितीय दानी, धर्मात्मा, शीलवान, विनयी, कर्तव्य-परायण, धैर्यशाली, कष्ट-सहिष्णु और महाभारत-युद्ध का प्रख्यात महारथी है। वह कुन्ती और सूर्य की सन्तान है। राजकुलोत्पन्न वह है ही। उसमें देव अंश भी है कर्ण भी धीरोदात्त नायक है। कर्ण के अतिरिक्त ऐतिहासिक नाटकों के हर्ष और शशिगुप्त भी धीरोदात्त नायक है। इनमें भी भारतीय नाट्य-शास्त्रानुसार धीरोदात्त नायक के सभी दिव्य गुण पाए जाते हैं।

सामाजिक और राष्ट्रीय नाटकों के सभी पात्र आधुनिक जीवन के साधारणतया पाये जाने वाले पात्र हैं, उनकी परख की कसौटी प्राचीन शास्त्रीय परिभाषा नहीं हो सकती। उन पर साधारणीकरण या रसानुभूति वाला सिद्धांत भी लागू नहीं किया जा सकता। सभी पात्र आज के जीवन के उदाहरण हैं—सभी पात्र समाज के उच्च, नीच या मध्यम वर्ग से चुने गए हैं। उनमें भी आदर्शवाद की झलक मिलेगी जैसे 'महत्त्व किसे' का कर्मचन्द। वह गांधीवादी है और इसलिए आदर्शवादी हो गया है। 'दुःख क्यों' का यशपाल हमारे समाज का एक दुहरे चरित्र वाला व्यक्ति है। वह अवसरवादी है। कहना चाहिए रंगा सियार है। इसी नाटक में गरीबदास आदर्शवादी है। 'बड़ा पापी कौन' में सभी पात्र यथार्थवादी है। हमारे इस वर्तमान समाज में रहने वाले जन्म लेने वाले दुर्गुणों के शिकार और सद्गुणों के भण्डार। सेठ जी के नाटकों के चरित्रों को देखने से पता चलता है कि उनके चरित्र विभिन्न श्रेणियों के हैं—विभिन्न रंगों से चित्रित हैं और व्यक्ति-वैचित्र्य की माँग को भी पूरा करते हैं।

नारी-चरित्रों में सीता, राधा आदर्श नारी-चरित्र हैं। सीता में कर्तव्य पतिव्रत, आत्म-समर्पण, निष्काम सेवा, पति के प्रति आदर्श निष्ठा, सहिष्णुता, धर्म-पालन और शील सर्वोच्च मात्रा में पाये जाते हैं। उसके जीवन में पति-निष्ठा और आत्म-समर्पण प्रथम है और प्रेम की माँग गौण। राधा के जीवन में भी सभी कुछ है, पर प्रेम उसके प्राणों की प्यास है और कृष्ण वह अमृत का सागर, जिसके प्रतिदान की लहरें उसकी प्यास बुझा सकती हैं। पर 'कर्तव्य' उत्तरार्ध राधा-कृष्ण-भक्तों की राधा से अधिक कर्मशील और कर्तव्य-परायण है। कर्ण की पत्नी रोहिणी भी आदर्श पत्नी के रूप में हमारे सामने आती है। पर रोहिणी और 'कुलीनता' की रेवा सुन्दरी, 'शशिगुप्त' की हैलेन प्रेम-प्रधान नारियाँ हैं। 'महत्त्व किसे' की सत्यभामा 'बड़ा पापी कौन' की मलका और विजया यथार्थ नारियाँ हैं। 'दुःख क्यों' की 'सुखदा' बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली चरित्र है। जीवन से समझौता करके भी नहीं कर पाती। यह नारी-चरित्रों में भी अनेक प्रकार के चरित्र गोविन्ददास के नाटकों में मिलेंगे।

राम और कृष्ण के चरित्र में गोविन्ददास कोई नवीन चमकदार रंग नहीं भर सके। उनके कार्य और चरित्र वही रामायण और महाभारत द्वारा वर्णित विश्व-विश्रुत हैं। फिर भी इन्होंने उनको अधिक मानवीय बनाने का प्रयास किया है। उनमें अवतारवादी अतिमानवता कम कर दी है। पर

उनमें वह अन्तर्द्वन्द्व और आत्म-संघर्ष देखने को नहीं मिलता जो वर्तमान जीवन के सामाजिक प्राणवान चरित्रों में मिल सकता है। 'कर्ण' पौराणिक होते हुए भी चरित्र की दृष्टि से अच्छा नाटक है। कर्ण की अन्तर्दशा उसके स्वगत में प्रकट है, "यदि मैं सूत ही होऊँ तो? तो—तो भी क्या हुआ। आर्य और छूत कहे जाने वाले व्यक्तियों में अन्तर क्या है? वरन ये आर्य तो पतित—दिन प्रतिदिन महापतित होते जा रहे हैं। (फिर कुछ रुककर) परन्तु ...परन्तु फिर इतनी उद्विग्नता क्यों? अनजाने नहीं, पर जान-बूझकर भी जो करता हूँ, उससे दुःख क्यों?"

कवच-कुण्डल दान करने से पूर्व उसके हृदय की अवस्था बड़ी डावाँ-डोल है "हर दृष्टि से कवच-कुण्डलों का दान अनिवार्य है (फिर कुछ रुक-कर) और यदि शक्ति न माँगूँ तो! (फिर कुछ रुककर) स्वयं न माँगूँगा। यदि सुरपति ने वर माँगने को कहा तो माँगने में क्या हानि है? × × × और...और शक्ति माँगने के पश्चात्? अर्जुन के अतिरिक्त कौन मेरा सामना कर सकता है। अर्जुन के लिए यह शक्ति यथेष्ट होगी। किन्तु, किन्तु शक्ति तो मुझसे न माँगी जायगी। यह—यह तो व्यापार होगा।"

'शशिगुप्त' में शशिगुप्त के चरित्र को भी लेखक ने प्रकट करने का प्रयत्न किया है, "जब आम्भीक ने अपने भाषण में मेरा नाम लिया, मुझे अलक्षेन्द्र का शरणागत बताया, और जब उस भरी सभा ने एकटक मेरी ओर देखा, उस समय—उस समय, गुरुदेव, जैसी ग्लानि, जैसे महान् आत्मग्लानि का मैंने अनुभव किया, वैसे अनुभव उससे पूर्व जीवन में कभी नहीं हुआ था।" शशिगुप्त के चरित्रों—चाणक्य और शशिगुप्त—में देश-भक्ति की भावना सर्वोपरि है। इसी से प्रेरित इनके जीवन में भावनाओं या वृत्तियों में परिवर्तन होता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कुलीनता' में गोविन्ददास जी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। इसमें कुलीनता के अहं से आघात खाकर यदुराय के चरित्र में शानदार विकास देखा जाता है। यदुराय एक गोंड है। चण्डपीड कलचुरि राजा विजयसिंह का सेनापति (बाद में मन्त्री) है। सेनापति के स्वार्थपूर्ण अहं ने यदुराय का अपमान उसके प्रति राजा से भी अन्याय कराया है। वह शस्त्र-प्रतियोगिता में देश का सर्वश्रेष्ठ वीर प्रमाणित होता है, फिर भी उसे पुरस्कार नहीं मिलता उलटे देश-निकाला मिलता है। वह तिलमिला उठता है। मरघट में घूमते हुए वह कहता है, "निकृष्ट, हाँ, निकृष्ट गोंड की खोपड़ी। नहीं-नहीं, हाँ, निकृष्ट गोंड की खोपड़ी! पर निकृष्ट और पामर गोंड की ही वा क्यों? कुलीन ब्राह्मण, कुलीन क्षत्रिय कुलीन वैश्य की ही क्यों नहीं! (फिर

कुछ देर ठहरकर)। हाँ, हाँ, अवश्य किसी-न-किसी कुलीन की; चलकर हट कुलीनों की खोपड़ी ! (एक चिता को देखकर) किसका शव जल रहा है तुझमें कुलीन का या अकुलीन का ? (दूसरी चिता को देखकर) और तुझमें किसका ? यदि उसमें कुलीन है और तुझमें अकुलीन तो दोनों के जलने की विधि में कोई अन्तर है ?"

'दुःख क्यों' में यशपाल के दोहरे चरित्र का चित्रण भी बुरा नहीं। वह इसलिए वकालत करना नहीं छोड़ता कि कांग्रेस ने असहयोग की माँग की है—आज्ञा दी है, बल्कि अपने एक साथी वकील ब्रह्मदत्त को नीचा दिखाने के लिए। ब्रह्मदत्त ने यशपाल की सहायता भी की है, यशपाल इतना धूर्त, नीच, और द्वेषी है कि वह उसी को नीचा दिखाना चाहता है, "सच तो यह है कि उस बदजात ब्रह्मदत्त को इस बढ़ती हुई स्थिति को देखकर ही मुझे अपना जीवन भार स्वरूप हो गया है जब तक उसकी सारी प्रतिष्ठा और कीर्ति मिट्टी में न मिल जायगी, तब तक मुझे शांति नहीं मिल सकती।" वही यशपाल कांग्रेस की लीडरी करता है। चुनाव लड़ता है और रुपये के लालच में एक विद्रोही को शरण न देकर गिरफ्तार करा देता है अपने मित्र चन्द्रभान की सहायता से।

'बड़ा पापी कौन' में त्रिलोकीनाथ और रमाकान्त दोनों के ही चरित्र का अच्छा चित्रण किया गया है। त्रिलोकीनाथ तो स्पष्ट और खुले रूप में वेश्या रखे हैं और रमाकान्त सदाचार की डींग मारते हुए भी अपनी साली से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे त्रिलोकीनाथ वेश्या से। सदाचारी रमाकान्त छल-कपट से भी त्रिलोकीनाथ के विरुद्ध काम करता है, केवल चेम्बर का प्रधान बनने के लिए। वह कहता है, "मेरी उसकी क्या दुश्मनी ? परन्तु बात यह है कि इस प्रकार के वेश्यागामी और शराबी मनुष्य का हमारे चेम्बर का सभापति रहना, हम सबके लिए घोर लज्जा का विषय है।" वही रमाकान्त विजया को खींचकर गले से लगाते हुए कहता है: "आह विजया ! क्या कहती हो ? कहाँ तुम और कहाँ वे ? मैं सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे पूर्व किसी ने मुझ पर ऐसी मोहिनी न डाली थी।"

नारी-चित्रण में भी लेखक ने विभिन्न रूप उपस्थित करने का प्रयास किया है। रेवासुन्दरी हैलेन-जैसी मुग्ध कुलवधुएं भी उनके नारी-चित्रणों में हैं; सीता, राधा, राज्य-श्री-जैसी आदर्श सौंदर्यमयी सुकुमार नारियाँ भी और सत्यभामा, सुखदा भी। यदुराय की वीरता, और शस्त्र-कौशल देखकर मुग्धा बाला रेवासुन्दरी का आकर्षित होना स्वाभाविक है। वह उसे प्राप्त करने का निश्चय करते हुए कहती है: "रुक्मिणी देवी को भगवान् कृष्ण के, सुभद्रा देवी को वीरवर अर्जुन के और संयोगिता देवी को महाराज पृथ्वीराज के प्राप्त

करने में इसी प्रकार का संघर्ष तो करना पड़ा था।" और जब यदुराय महल में आकर रेवासुन्दरी से भेंट करता है तो कहता है, "मैं अपने हृदय को चीरकर आपके सम्मुख किस प्रकार रखूं।" इन थोड़े-से शब्दों में उसके हृदय का प्रेम स्पष्ट हो जाता है।

'शशिगुप्त' की हैलेन भी मुग्धमना बाला है। शशिगुप्त को देखकर उस पर मुग्ध हो जाती है, वह अपने पिता से कहती है, "पिताजी शशिगुप्त क्या सचमुच शशि-जैसा नहीं है। उससे अच्छा कभी कहीं भी कोई पुरुष आपने देखा ?" इसके साथ ही हैलेन में विचार-शीलता भी है, वह केवल प्रेम करना ही नहीं जानती, देश-भक्ति और देश-द्रोह का भी अंतर समझती है। जिस शशिगुप्त के प्रति अपने प्रेम को वह अपने पिता के सामने भी नहीं छिपाती उसी के देश-द्रोह की बात सुनकर वह कहती है: "आप ठीक कहते हैं पिताजी, देश-भक्त देश-द्रोही से विवाह नहीं कर सकता। स्वर्ग और नरक का सम्बन्ध नहीं हो सकता।......मैं देश-भक्त, शशिगुप्त देश-द्रोही।...... शशिगुप्त प्रेम का पात्र नहीं, घृणा की वस्तु है।"

हैलेन का प्रेम भी विचार-प्रधान है। वह यूनानी राष्ट्रीयता की समर्थक नहीं, वह विश्व-प्रेम की भी दीवानी है, "यूनान और भारत, यवन और भारतीय मित्र और शत्रु ये सब क्यों ? एक पृथ्वी, एक मानव-समाज, सभी मित्र—यह क्यों नहीं।" और जब उसे मालूम होता है कि शशिगुप्त देश-भक्त है—राष्ट्र-निर्माता है, तो उसका प्रेम फिर जागृत हो जाता है: "मैं यहीं रहूँगी पिताजी आततायी यवनों के विद्रोही और देश-प्रेमी शशिगुप्त से, केवल शशिगुप्त से विवाह......।"

'महत्त्व किसे' की सत्यभामा और 'दुःख क्यों' की सुखदा भी सबल नारी-चरित्र हैं। सत्यभामा यथार्थवादी व्यवहार-कुशल नारी है। उसमें स्फूर्ति है, गतिशीलता है, दृढ़-संकल्प है। उसका पति कर्मचन्द आदर्शवादी गांधीवादी है। उसे उसके साथी ही बदनाम और बरबाद करते हैं और सत्यभामा उन से 'जैसे को तैसा' का व्यवहार करती है। वह कहती है, "इन कीड़ों को कुचले बिना अब मुझे क्षण-भर भी विश्राम नहीं मिल सकता। जिन्होंने आप को बरबाद किया, उस बरबादी पर बदनाम बनाया और ऐसी नीच कार्यवाही करने पर भी जिन्हें शर्म नहीं आई, उन्हें कुचले बिना मुझे कैसे शान्ति मिल सकती है। मैं मृत्यु-लोक की मानवी हूँ, स्वर्ग की देवी नहीं।" सत्यभामा अंत में कर्मचन्द को समझाती है कि इस संसार में महत्त्व धन का है। धन है तो

सब लोग सम्मान करते हैं, और धन जाने पर वे ही लोग बदनाम करते हैं और बड़े-से-बड़ा अपराध मढ़ते हैं।

'दुःख क्यों?' की सुखदा के चरित्र में रोमांटिक प्रभाव है। वह ईमानदारी और नैतिकता की प्रतिभा है, पर घर को सुखी बनाने के लिए वह अपने पति यशपाल से समझौता करती है, फिर भी उसके चारित्रिक गुणों को बिलकुल जंग नहीं लग जाती। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। उसे मालूम हो जाता है कि यशपाल अपने साथी चन्द्रभान को एक देश-भक्त विद्रोही को इनाम के लालच में गिरफ्तार कराने भेजता है, तो उसकी स्वाधीन आत्मा तिलमिला उठती है, वह यशपाल से कहती है, "ओह! यह वाद-विवाद का वक्त नहीं। वाद-विवाद के लिए फ़ुर्सत भी नहीं। जाओ-जाओ चन्द्रभान को रोको फौरन रोको......।" और जब यशपाल नहीं जाता तो वह तुरन्त चन्द्रभान को रोकने के लिए घर से बाहर हो जाती है। वह पुलिस के आने से पहले ही विद्रोही को सचेत करती है। वह भाग जाता है। कचहरी में वह गरीबदास को बचाने के लिए गिरफ्तारी के बारे में भेद खोलते हुए कहती है: "गरीब-दास बाँकेबिहारी (विद्रोही) को नहीं जानते।......बाँकेबिहारी को भगाने में मेरा दोष है। गरीबदास जी निर्दोष हैं। मैं दोषी हूँ। आप इन्हें नहीं, मुझे दण्ड दीजिए।"

गोविन्ददास जी के नाटकों में कर्ण की द्रौपदी और 'दुःख क्यों?' की सुखदा सशक्त चरित्र हैं। चरित्र-चित्रण में लेखक ऐसे चरित्र निर्मित नहीं कर सका, जो बहुत सबल हों, या जिनमें बहुत गहरे रंग भरे गए हों। 'शशिगुप्त' नाटक 'चन्द्रगुप्त' ही है। वही कथा, वे ही पात्र फिर भी इस नाटक का एक भी चरित्र प्रसाद के चरित्रों की छाया को भी न छू सका। 'शशिगुप्त' का चाणक्य प्रसाद के चाणक्य के सामने निर्बल, और बौना मालूम होता है। यही बात इसके शशिगुप्त में भी है। हेलेन में भी कोई नई करामात लेखक नहीं कर सका। जो गाम्भीर्य, गौरव, महानता, प्रताप और तेज प्रसाद के चरित्रों में देखा, उसकी यहाँ कल्पना भी नहीं। सामाजिक नाटकों में भी चरित्र की रंगीनियाँ और विचित्रताएं नहीं—जैसी लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाटकों में हैं। तो भी लेखक का चरित्र-चित्रण बुरा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता—'अच्छा' की ओर अधिक है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'दुःख क्यों?' और 'कर्ण' लेखक की सर्वोपरि रचनाएं हैं।

कला का विकास

श्री गोविन्ददास का प्रथम नाटक 'हर्ष' १९३९ ईस्वी में प्रकाशित

हुआ। इस समय तक हिन्दी में काफी नाटक निकल चुके थे। इनको अपनी कला को सँवारने का पर्याप्त अवसर मिल चुका था। लेखक ने इस स्थिति से लाभ भी उठाया; पर वे अपने नाटकों में कला-सम्बंधी कोई ऐसी वस्तु न दे सके जिसे नाटक-साहित्य में महत्त्वपूर्ण देन के नाम से स्मरण किया जा सके। न ही वे कोई गौरवपूर्ण और प्रसन्न निर्माण ही कर सके। लाभ उन्होंने यह उठाया कि नाटकीय छोटी-मोटी अस्वाभाविकताएँ उनके नाटकों में न आ पाईं। किसी पात्र के सम्मुख उसे न बताने वाले या उस के विरुद्ध भाव को स्वगत द्वारा प्रकट करने वाली स्वाभाविकता इनके किसी भी नाटक में नहीं है। वैसे अकेले में अपने हृदय के आवेश, उद्विग्नता या अन्तःसंघर्ष को प्रकट करने के लिए प्रायः सभी नाटकों में स्वगत का सहारा लिया गया है।

'कुलीनता' के दूसरे अंक का तीसरा दृश्य यदुराय के स्वगत-भाषण को ही अर्पित किया गया है। छठा दृश्य भी रेवा सुन्दरी के स्वगत से आरम्भ होता है। 'कर्ण' में इस प्रकार का स्वगत बहुत अधिक है। पहले अंक के पहले दृश्य का आरम्भ कर्ण के दो पृष्ठ के स्वगत से होता है और चौथा दृश्य कुन्ती के गाने और स्वगत से। दूसरे अंक का पहला दृश्य फिर कर्ण के स्वगत से आरम्भ होता है और चौथा दृश्य रोहिणी के स्वगत और गान से। तीसरे अंक का दूसरा दृश्य कुन्ती के स्वगत और गान से और पाँचवाँ कर्ण के स्वगत से आरम्भ होता है। चौथे अंक का पाँचवाँ दृश्य भी कर्ण के ही स्वगत से आरम्भ होता है, 'कर्ण' में दो-ढाई पृष्ठ तक के स्वगत हैं। चरित्र या भावावेश प्रकट करने का यह साधन ऊँचे दर्जे की कला-कुशलता नहीं, कर्ण के सिवा गोविन्ददास जी के सभी नाटक इस रोग से मुक्त हैं। इस प्रकार के स्वगत अभिनय में बाधक होते हैं और वे प्रलाप-मात्र समझे जाते हैं।

लेखक ने चाहे बहुत गहराई, रंगीनी, घुटन, व्यक्ति-वैचित्र्य, उलझन और रहस्यमय कौतूहल अपने चरित्रों में न भरे हों, पर उनके चरित्रों में जान अवश्य है। चरित्र-चित्रण के लिए लेखक ने कई साधन अपनाये हैं। पात्र स्वगत के द्वारा अपने चरित्र के रहस्य का उद्घाटन करते पाए जाते हैं—अपनी मनोव्यथा या अन्तर्दशा बताते हुए मिलते हैं। यह साधन सभी नाटकों में अपनाया गया है। पात्रों के द्वारा भी दूसरे पात्रों के स्वभाव और चरित्र बताये गए हैं। पात्रों के कार्यों के द्वारा ही चारित्रिक गुणों का प्रकाशन किया है। यशपाल का जैसे बाँकेबिहारी को गिरफ्तार कराने का

प्रयत्न। या सुखदा द्वारा बाँकेविहारी को भगाने का रहस्योद्घाटन उसके चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। लेखक का चरित्र-चित्रण सफल ही कहा जायगा।

नाटकों में समय का वातावरण उपस्थित करने के लिए लेखक ने अभिनय, वेश-भूषा, कमरे, महल, या स्थान की सजावट आदि के लिए बहुत विस्तृत रंग-संकेत दिये हैं। 'कुलीनता' में प्रथम दृश्य के निर्माण के लिए ढाई पृष्ठ, 'शशिगुप्त' में डेढ़ पृष्ठ, 'कर्ण' में साढ़े चार पृष्ठ, 'महत्व किसे?' में एक पृष्ठ, और 'बड़ा पापी कौन' में डेढ़ पृष्ठ का रंग-संकेत दिया गया है। इन संकेतों में मेज़, कुर्सी, फर्श, छत, दीवारों की तस्वीरें, पर्दे आदि सभी को विस्तृत रूप में समझा दिया गया है। पात्रों के कपड़े, बाल, मूँछ-दाढ़ी आदि का भी वर्णन कर दिया गया है। नाटक के हर दृश्य में वातावरण का बहुत ध्यान रखा गया है। अभिनय और कार्य-व्यापार के लिए भी लेखक संवाद के बीच-बीच में संकेत करता रहता है।

देखिये—

"त्रिलोकीनाथ—(एकदम आग-बबूला होकर खड़े होते हुए) अच्छा, तो आरज़ू-मिन्नत करते-करते अब आप धमकी देने पर उतारू हो गए। (चिल्लाकर) धमकी? ओह! मुझे धमकी? बस उठिये, जाइये यहाँ से, मैं आपसे बात नहीं करना चाहता। (क्रोध से इधर-उधर टहलने लगता है)"

('बड़ा पापी कौन')

कभी-कभी अपने नाटकों का आरम्भ लेखक बहुत ही शानदार और प्रभावशाली ढंग से करता है। नाटक का आरम्भ और अंत यदि शानदार रहे तो सामाजिक अभिनय देखने के बाद बहुत अच्छा प्रभाव और स्मृति लेकर जाते हैं। 'कुलीनता', 'शशिगुप्त' और 'कर्ण' का आरम्भ बहुत ही शानदार हुआ है। 'कुलीनता' और 'कर्ण' दोनों का आरम्भ एक विशाल दृश्य से होता है। सैकड़ों दर्शकों और राजा-रानियों की उपस्थिति में शस्त्र-प्रतियोगिता से नाटकों का आरम्भ होता है। सामाजिक मुग्ध, स्तम्भित, रोमांचित और आनन्दित हो जाते हैं। 'कुलीनता' में यदुराय गोंड सर्वश्रेष्ठ वीर प्रामाणिक होता है और 'कर्ण' में कर्ण। दोनों ही समाज और शासन की दृष्टि में नीच हैं। 'शशिगुप्त' का आरम्भ भी एक भव्य, प्रभावशाली, विशाल दृश्य—पामीर के शिखर से होता है, जहाँ चाणक्य और शशिगुप्त विचार-विनिमय कर रहे हैं। 'कर्ण' का प्रथम दृश्य ठीक राधेश्याम कथावाचक के 'दानवीर कर्ण' के समान ही है। लगता है, उसी से प्रभावित हैं लेखक।

और 'शशिगुप्त' का प्रथम दृश्य 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम दृश्य की बराबरी नहीं कर सका। आरम्भ वैसा ही है।

नाटक का अन्त भी प्रभावशाली होना चाहिए। 'कर्ण' का अधिक शानदार न हो सका। इससे अधिक प्रभावशाली तो 'दानवीर कर्ण' का अन्त है—कृष्ण और अर्जुन को मरते-मरते भी दान करते हुए। 'कर्ण' का अन्त कर्ण के महत्त्व को अवश्य कम कर देता है। 'कुलीनता' का अन्त भी दुःखद है—प्रभावशाली अवश्य है। 'दुःख क्यों' का अंत भी अच्छा है। 'बड़ा पापी कौन' और 'महत्त्व किसे' का न आरम्भ नाटकीय है और न अन्त। इनमें नाटकीय कला विकसित रूप में नजर नहीं आती।

कार्य-व्यापार नाटक का प्राण है। 'कुलीनता' में कार्य-व्यापार पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। प्रथम दृश्य ही स्फूर्ति, गति और कार्य-व्यापार से पूर्ण है। दूसरे अंक का आरम्भ भी स्फूर्तिमय गतिशीलता से होता है। तीव्रता से सुर भी पाठक प्रवेश करता है और कड़ककर कहता है, "बन्द करो यह नृत्य और हट जाओ नर्तकियो!" सामाजिक स्तम्भित रह जायंगे। इस दृश्य में उछल-कूद नहीं है, और न इसे कार्य-व्यापार ही कहा जाता है। अभिनय की गतिशीलता इसमें अवश्य है। इसी अङ्क का तीसरा दृश्य भी रोमांचकारी है। श्मशान में यदुराय का घूमना। उसके स्वगत में भी अत्यन्त तीव्रता और गतिशीलता है। तीसरे अङ्क का आरम्भ भी उग्रता में होता है। इसी अङ्क का तीसरा दृश्य भी कार्य-व्यापार पूर्ण है। नाटक का अन्तिम दृश्य तो बहुत ही स्फूर्तिमय है। 'कुलीनता' कार्य-व्यापार की दृष्टि से सफल नाटक है। 'शशिगुप्त' में कार्य-व्यापार का तत्त्व अधिक आना चाहिए था; पर इसमें युद्ध की कुछ घटनाओं को छोड़कर घटनाओं की कमी है।

'कर्ण' का उपक्रम वाला दृश्य तो कार्य-व्यापार की दृष्टि से अपूर्व है। पहले अङ्क का पहला दृश्य भी गतिशील है। तीसरा दृश्य द्यूतक्रीड़ा का है—यह तो जानदार और चलता हुआ होना ही चाहिए। 'कर्ण' में भी घटनाओं की शृङ्खला नहीं है अधिक—घटनाओं-सम्बन्धी कार्य-व्यापार भी कम है, पर भाव-अनुभाव-सम्बन्धी कार्य-व्यापार की इसमें भी कमी नहीं। गोविन्ददास जी के सामाजिक नाटक 'दुःख क्यों', 'महत्त्व किसे' और 'बड़ा पापी कौन' कार्य-व्यापार की दृष्टि से बहुत शिथिल हैं। 'दुःख क्यों' के तीसरे और चौथे अङ्क के अन्तिम भाग में कार्य-व्यापार या गतिशीलता है। शेष पूरे नाटक में बैठे या खड़े होकर वार्तालाप-मात्र किसी घटना का नाम नहीं।

केवल बाँकेबिहारी के चले जाने पर सुखदा में तीव्रता आती है। चौथे अङ्क के अन्त में भी केवल सुखदा ही प्राणवान मालूम होती है। 'महत्त्व किसे' में तो नाटकीयता, कौतूहल, कार्य-व्यापार नाम की कोई वस्तु है नहीं। बस कर्मचंद और सत्यभामा बैठे-बैठे बातचीत करते रहते हैं। 'बड़ा पापी कौन' में भी केवल देवनारायण की मृत्यु की घटना के सिवा कोरी बातचीत में पूरा नाटक समाप्त है।

आकस्मिकता, रहस्य-ग्रन्थि, अनाशितता भी नाट्य-कला के प्रमुख तत्त्व हैं। इनकी सेठ गोविन्ददास के नाटकों में कमी है। 'कुलीनता' में यदुराय को पुरस्कार के स्थान के देश-निकाला, 'दुःख क्यों' में सुखदा द्वारा भण्डाफोड़ 'कर्ण' में कर्ण का कुन्ती से उत्पन्न—आकस्मिकता और रहस्य-ग्रन्थि समझना चाहिए। कर्ण का कुन्ती से उत्पन्न होना भारतीयों के लिए कोई भी आकस्मिकता या रहस्य नहीं, सब इसे जानते हैं। 'महत्त्व किसे', 'शशिगुप्त' और और 'बड़ा पापी कौन' में नाम को भी यह नहीं है। नाटकों के इस अभाव को निर्बलता ही समझा जायगा। कुछ पात्रों की बात-चीत के बीच सहसा अन्य पात्रों का प्रवेश भी आकस्मिकता में आता है। 'प्रेमी' और 'प्रसाद' के नाटकों में यह प्रायः मिल जाता है। इसमें सामाजिकों को विस्मयानन्द की अनुभूति होती है। भारतीय फिल्मों में भी ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। दर्शकों को रोमाञ्चित करने के लिए यह एक विशेष तत्त्व है, जिसकी कमी गोविन्ददास जी के नाटकों में खटकती है।

साधारणतः संवाद छोटे ही होते हैं, पर यह लेखक की कला का अङ्ग नहीं। छोटे और संक्षिप्त संवादों के साथ दो ढाई पृष्ठ तक के संवादों से भी इनके नाटक भरे पड़े हैं। 'कुलीनता' में यदुराय, विजयसिंह, सुरभी पाठक, चण्डपीड आदि के संवाद एक से दो पृष्ठों तक की लम्बाई के हैं। 'कर्ण' में कर्ण और कुन्ती के स्वगत के संवाद अरुचिकर रूप में बड़े हैं—दो-दो पृष्ठ तक के। इन दो नाटकों को छोड़कर संवादों की संक्षिप्तता की दृष्टि से सभी नाटक ठीक हैं। 'दुःख क्यों' में गरीबदास के एक उपदेश को छोड़कर सभी संवाद संक्षिप्त, चुस्त, गतिशील और सशक्त हैं। संवादों दृष्टि से यह नाटक सर्व श्रेष्ठ है। भाषा की दृष्टि से लेखक के नाटकों में खटकने वाली बात है, चलती नाटकीय प्रचलित भाषा न लिखकर लिखी जाने वाली भाषा की ओर झुकाव होना। उदाहरण—

"रेवा सुन्दरी—(गद्-गद् स्वर से) मैं अपने हृदय को चीरकर आपके सम्मुख किस प्रकार रखूँ ?" ('कुलीनता') । इस एक वाक्य के स्थान में

"कलेजा चीर कर कैसे दिखा दूँ ?" अधिक उपयुक्त होता।

एक और उदाहरण—

"सत्यभामा— इन कीड़ों को कुचले बिना अब मुझे क्षण भी विश्राम नहीं मिल सकता। जिन्होंने आपको बरबाद किया, उस बरबादी पर बदनाम बनाया और फिर ऐसी नीच कार्यवाई करने पर भी जिन्हें शर्म नहीं आई, उन्हें कुचले बिना मुझे कैसे शान्ति मिल सकती है? मैं मृत्यु-लोक की मानवी हूँ, स्वर्ग की देवी नहीं।" ('महत्त्व किसे') इस उद्धरण में लेखक के भाषा। संबन्धी अनेक दोष स्पष्ट हो जाते हैं। पहला वाक्य इतना शिथिल और ढीला है कि उससे न तो बोलने वाले का क्रोध प्रकट होता है, न रोष और न संकल्प। 'बदनाम बनाया' 'मृत्यु-लोक' आदि तो कमाल के अशुद्ध प्रयोग हैं। इस में पुनरावृत्ति भी है। लेखक के सभी नाटकों को पढ़ने पर लगता है, उनकी भाषा में हृदय का प्रवाह नहीं, वह मेज पर बैठकर सोच-सोच कर लिखी गई है। चलती हुई भाषा का प्रवाह इनके नाटकों में नहीं मिलता।

इनके पात्र और परिस्थिति के प्रतिकूल भी कहीं-कहीं संवाद मिलते हैं। 'शशिगुप्त' में अचानक सेल्यूकस का अपनी लड़की हेलेन से पूछ बैठना और उसका बड़ी सफाई और निस्संकोच भाव से कहना कि वह शशिगुप्त से विवाह करेगी। और आश्चर्य तो यह है कि इस प्रसंग से पूर्व कहीं शशिगुप्त और हेलेन का प्रेम विकसित भी नहीं हुआ। पश्चिमी सभ्यता में चाहे कितनी ही निःसंकोचता हो, कितनी ही अलज्जता हो, पर पिता के सामने अचानक विवाह-प्रस्ताव अपने ही मुख से लड़की नहीं करती। पिता तो पिता अपने प्रेमी से भी लड़कियाँ विवाह-प्रस्ताव नहीं करतीं—अब तो यह एक सामाजिकता भी बन गई है कि लड़के ही पहले विवाह-प्रस्ताव करेंगे। विवाह की बुनियाद में जो काम-भावना की मधुरता है, उसे अनुभव करते ही एक मोहक लज्जाभ लाली दौड़ती है और शील और लज्जा युवती की जिह्वा पकड़ लेती है। इसी प्रकार का हास्यास्पद वार्तालाप नन्द और राक्षस का कराया गया है। मगध का सम्राट् और लगता है कि सस्ते ढंग के स्टेज का अभिनेता बेतुकी हँसी कर रहा है।

नाटकों के गीत अच्छे-बुरे दोनों प्रकार हैं। कुछ गीत स्वर, संगीत, परिस्थिति के अनुसार बहुत उपयुक्त हैं, कुछ अनुपयुक्त। 'बड़ा पापी कौन' जैसे छोटे नाटक में दो पृष्ठ के गीत खटकने वाली बात हैं। 'शशिगुप्त' में १६ गाने हैं, जिनमें ८ अकेले हेलेन के। दोनों ही बातें अनुपयुक्त। और 'कर्ण' में कुन्ती और रोहिणी को गाने का रोग है।

गोविन्ददास जी के नाटकों में कला अवश्य है; पर उसमें लगातार विकास के दर्शन नहीं होते। संख्या की दृष्टि से शायद इन्होंने सबसे अधिक नाटक लिखे हैं। पर कला का कोई ऊँचा स्तर इन्होंने स्थापित नहीं किया। 'प्रसाद' 'प्रेमी' लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने जिस प्रकार हिन्दी नाट्य-कला को उन्नत करने में सफलता दिखाई, वैसा प्रयास भी इनके नाटकों में कम ही मिलता है। नाटक अच्छे हैं, बुरे नहीं; पर कोई 'स्थापना' इनके नाटकों में देखने को नहीं मिलती।

अभिनेयता

अभिनेयता का सम्बन्ध जहाँ तक दृश्य-विधान से है, गोविन्ददास जी के नाटकों की दृश्य-रचना अधिकतर सरल और सुगम है। कई नाटकों के अंक ही दृश्य हैं। 'दुःख क्यों', 'महत्त्व किसे', और 'बड़ा पापी कौन' सबमें चार-चार अङ्क हैं। और ये अङ्क ही दृश्य। इन तीनों नाटकों के सभी दृश्य आसानी से निर्मित किये जा सकते हैं। ये तीनों नाटक सामाजिक हैं—वर्तमान जीवन के विषय में। प्रायः सभी अंक-दृश्य घर के एक-एक कमरे के हैं। 'दुःख क्यों' का अन्तिम दृश्य मजिस्ट्रेट की अदालत का है, शेष घर के ही। दृश्य न तो इतने विशाल ही हैं, न इतने सुसज्जित और राजसी कि उनके बनाने में कठिनाई हो। और यदि एक के बाद दूसरे के निर्माण में कुछ देर भी अपेक्षित हो, तो वे अंक हैं। दो अंकों के बीच समय मिल ही जाता है।

कार्य-व्यापार की दृष्टि से 'दुःख क्यों' में अभिनय-सम्बन्धी कार्य-व्यापार की कमी नहीं। तीसरा और चौथा अंक अभिनय की तीव्रता से पूर्ण है। अन्तिम दृश्य का अन्तिम भाग तो बहुत सफल है। भाषा और संवाद की दृष्टि से भी यह नाटक लेखक के श्रेष्ठ नाटकों में है। और उनके सब नाटकों में सबसे असफल नाटक है। 'महत्त्व किसे' में न कार्य-व्यापार है, न घटना और चरित्रों का तीखापन। 'बड़ा पापी कौन' में देवनारायण की मृत्यु तो एक घटना है ही—इस पात्र के अभिनय में भी गतिशीलता है। भाषा भी इसकी अच्छी है। इसका भी अभिनय हो सकता है। 'महत्त्व किसे' का अभिनय दृश्य-विधान की दृष्टि से तो सरल है, पर उसमें अभिनय-तत्त्वों का अभाव होने से उसका प्रभाव तनिक भी नहीं पड़ सकता। अन्य दृष्टि से भी यह नाटक असफल है।

विस्तार की दृष्टि से भी तीनों नाटक बड़े नहीं हैं। 'दुःख क्यों' ११४, 'महत्त्व किसे' ९८, और 'बड़ा पापी कौन' ९३ पृष्ठों का है। इनमें से किसी

भी अभिनय में दो घण्टे से अधिक समय की अपेक्षा नहीं। संवाद भी इन नाटकों के संक्षिप्त हैं और भाषा भी अन्य नाटकों की अपेक्षा सरल, चलती हुई और चुस्त है। स्वागत किसी नाटक में भी नहीं है और 'बड़ा पापी कौन' में ही केवल गति है। वह अवश्य लम्बा है और खटकने वाला भी। 'दुःख क्यों' तो सभी त्रुटियों से मुक्त है।

बड़े नाटकों में 'कुलीनता', 'शशिगुप्त' और 'कर्ण' हैं। बड़े नाटकों में दृश्य-विधान की सरलता और समझदारी भी है और कठिनता और दुरूहता भी। तीनों नाटकों का आरम्भ बहुत ही प्रभावशाली ढङ्ग से होता है। 'कुलीनता' और 'कर्ण' का प्रथम दृश्य है—दर्शकों से खचाखच रंगभूमि। जिसमें राजा-रानी, सेनापति-सैनिक आदि की उपस्थित में शस्त्र-प्रतियोगिता होती है। दृश्य बहुत ही भव्य, विशाल शानदार और प्रभावशाली है। 'शशिगुप्त' का दृश्य भी एक विशाल, ऊँचे पर्वत का है। 'कुलीनता' का दूसरा दृश्य है राज-प्रासाद का एक दालान, जो एक पर्दे मात्र से दिखाया जा सकता है। तीसरा दृश्य फिर विशाल है—राज-प्रासाद का सभा-भवन। चौथा—एक मैदान यह भी एक बड़ा दृश्य है। इन दृश्यों के निर्माण में अवश्य कठिनाई उपस्थित होगी। एक दालान को छोड़कर सभी दृश्य विशाल हैं। इसके निर्माण के लिए समय कठिनता से मिलेगा। इनके सिवा सभी दृश्यों की सरलता से रचना की जा सकती है।

'कर्ण' का प्रथम दृश्य अत्यन्त विशाल और महान् दृश्य है। इसके बाद पहला अंक आरम्भ होता है—कर्ण के कक्ष से। दूसरा पाण्डवों का महल, तीसरा हस्तिनापुर के राज-प्रासाद का सभा-भवन, चौथा है कुन्ती का कक्ष-इनमें केवल तीसरा दृश्य ही निर्माण-कौशल और समय चाहता है। शेष सभी दृश्य पर्दों से ही दिखाये जा सकते है। 'कर्ण' में केवल 'उपसंहार' के पर्दा उठा-उठाकर जो तीन दृश्य दिखाये गए हैं, इनमें पहले दो—युद्ध भूमि में युद्ध-रंगमंच पर दिखाये जाने असम्भव हैं। लेखक की अभिनय सम्बन्धी भूल का यह अच्छा उदाहरण है। वह स्वयं कहता है, "यहां तक का अंश सिनेमा में ही दिखाया जा सकता है।" इसका स्पष्ट अर्थ है, यह दिखाया जाना असम्भव है। इनके अतिरिक्त 'कर्ण' का दृश्य-विधान अभिनयोचित है। 'शशिगुप्त' में भी दृश्य-विधान-सम्बंधी दोष कम ही हैं। वे भी सरलता और शीघ्रता से निर्मित किये जा सकते है। युद्ध के एक-दो दृश्यों को छोड़कर शेष नाटक अभिनयोचित दृश्यों से पूर्ण है।

अभिनय के अन्य तत्वों, कार्य-व्यापार नाटकीयता, कौतूहल, भाषा,

संवाद आदि की दृष्टि से 'कुलीनता' भी अच्छा नाटक है। इसका अभिनय तीनों बड़े नाटकों में सबसे अधिक शानदार प्रभावशाली और रसानुभूति से पूर्ण हो सकता है। इसमें एक-दो स्थलों को छोड़कर संवाद संक्षिप्त, प्रभावशाली, चुस्त और सशक्त हैं। सभी दृष्टियों से बड़े नाटकों में यह सबसे अधिक प्रभावशाली है। चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से भी इसमें लेखक ने परिश्रम किया है। यदुराय में तीखापन है। चण्डपीड़ में सामन्ती शान और अहं। सुरभी पाठक में ब्राह्मण का दिव्य तेज। इस नाटक में घटनाएं भी हैं। इसका आदि और अन्त भी बहुत शानदार है। अभिनय के लिए आदि और अन्त भी प्रभावोत्पादक है। यह प्रसादान्त है। दुःखान्त में भी सुखान्त।

अभिनय की दृष्टि से 'कर्ण' सबसे कमजोर नाटक है। कार्य-व्यापार की भी उसमें कमी है। स्वगत-संवाद तो इसमें अन्य सभी नाटकों से बहुत बड़े हैं। और जैसा कि ऊपर बताया, अनेक असम्भव दृश्य भी इसमें हैं। अभिनय, कला, चरित्र, भाषा, आदि सभी दृष्टियों से 'दुःख क्यों' छोटे और सामाजिक नाटकों में और 'कुलीनता' बड़े और ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में सबसे अच्छे हैं।

: ८ :

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का साहित्यिक तथा भौतिक व्यक्तित्व विविधताओं से पूर्ण है। यह विविधता हिन्दी के बहुसंख्यक लेखकों में नहीं पाई जाती। उर्दू से यह हिन्दी में आये और अब एक चमकदार लेखक के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं। 'अश्क' कहानी-लेखक हैं, उपन्यासकार हैं, कवि हैं और नाटककार हैं। उपन्यासकार के रूप में इन्होंने अपने उत्साह और आकांक्षा की ही तृप्ति अधिक की है, उपन्यास-पाठक की कम। कवि के रूप में भी यह अगली पंक्ति में नहीं आ सके। हाँ, कहानी-लेखक और नाटककार के रूप में इनकी रचनाएं उल्लासपूर्ण सफलताएं हैं। इनकी कहानी और इनके नाटकों में जीवन की गहराइयाँ, ऊँची-नीची घाटियाँ और चमकदार चोटियाँ मिलेंगी। जीवन की विभिन्नताएं—तीखी-मीठी परिस्थितियाँ—इनकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं।

नाटकों का काल-क्रम

जय-पराजय		१९३७
स्वर्ग की झलक		१९३९
क़ैद		१९४५
उड़ान		१९४६
छठा बेटा		१९४६
आदि मार्ग		१९५०
देवताओं की छाया में (एकांकी)		......
तूफ़ान से पहले	,,	......
चरवाहे	,,	......

'जय पराजय' को लिखने से पूर्व, ऐसा स्पष्ट मालूम होता है, नाटक लिखने में कोई सशक्त और गतिशील प्रेरणा इनको उत्साहित नहीं

कर रही थी। नाटक लिखने का आरम्भ केवल प्रयोग के रूप में ही अश्क ने किया। यदि कोई प्रेरणा का स्वरूप रहा भी हो, तो स्पष्ट नहीं। उनके इस नाटक को पढ़ने से ऐसा भी मालूम नहीं होता कि इनके साहित्यिक जीवन में कोई महत्त्वाकांक्षी आकुलता काम कर रही है। 'जय-पराजय' के पश्चात् 'अश्क' के नाटककार में एक व्यापक प्रेरणा बड़े आकुल रूप में गतिशील होती हुई दिखाई देती है। 'स्वर्ग की झलक' में यह प्रेरणा अँगड़ाई-सी ले रही है, 'कैद और उड़ान' में सजग और साकार हो उठी है। इनको पढ़ने से मालूम होता है कि सामाजिक और व्यक्ति-सम्बन्धी उलझनभरी धुँधली तहों में दबी समस्याओं को चित्रित करने में अश्क क्रियाशील हो गया है। वह पश्चिमी यथार्थवादी प्रसिद्ध नाटककारों—मेटरलिंक, स्ट्रिण्डबर्ग, ओ० नील आदि से भी बहुत प्रभावित हुआ। जैसा कि 'कैद और उड़ान' की व्याख्या' में श्री धर्मवीर भारती ने लिखा है, 'अश्क ने...... एक दूसरी ही दिशा अपनाई अर्थात् वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के चक्र में उलझे हुए मानव के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा, घायल संस्कार और प्यासी खूँखार प्रवृत्तियाँ। जैसा स्वयं उन (अश्क) का कहना है कि वे नाटकों में स्ट्रिण्ड बर्ग-जैसी गहराई और तीखापन लाना पसन्द करते हैं... ।"

समाज की समस्या

'अश्क' के पहले नाटक को छोड़कर सभी नाटक सामाजिक हैं। इन्होंने 'स्वर्ग की झलक' में कहा भी है, "मेरे अपने विचार म आज हमें सामाजिक नाटकों की अधिक आवश्यकता है।"

'स्वर्ग की झलक' में आधुनिक शिक्षा और विवाह-समस्या को लिया गया है। आधुनिक शिक्षा ने नारी को कहाँ-से कहाँ ला पटका, यह इसमें पूर्ण सफलता से चित्रित हुआ है। वर्तमान शिक्षा ने नारी को आलसी, निकम्मा, फैशन-परस्त, अधिकार की प्यासी और बाहरी टीप-टाप के लिए पागल बना दिया है। घर उजड़ रहे हैं—नृत्य-भवन आबाद हो रहे हैं। श्रीमती अशोक दो रोटियाँ पकाते हुए कराहती हैं—नाक-भौं सिकोड़ती हैं; पर कंसर्ट में जाना आवश्यक है। श्रीमती राजेन्द्र अपने ज्वर-पीड़ित बालक को नहीं सँभालती, उसे पति की गोद में छोड़कर नृत्य के लिए चली जाती है। एक वह माँ है, जो अपने बच्चे को तनिक-सा ज्वर आने पर चिड़िया की तरह उसे कलेजे से लगाये रात-रात भर जागकर बिता देती है और एक यह आधुनिक माँ है। उमा भी नारी की स्वतन्त्र सत्ता और अधिकार की शानदार उपासिका है। रघु, जो उमा

को अपनी संगिनी बनाने को पागल था, उससे विरत हो जाता है और वही कम पढ़ी-लिखी लड़की रत्ना उसकी स्वीकृत संगिनी बनती है।

'क़ैद' और 'उड़ान' में भी विवाह-समस्या को ही लिया गया है। अप्पी दिलीप को चाहती थी, परिस्थितियाँ सहायक न हुईं और उसका विवाह प्राणनाथ से हो गया। स्वर्ग की वातास के झोंकों से झूलती वह लता झुलस गई। धन, सामाजिक स्थिति और सरकारी नौकरी ही सब-कुछ नहीं—यह शारीरिक और मानसिक भूख नहीं बुझा सकती। अप्पी अपने को काले पानी में समझती है! किशन-पार्वती के वार्तालाप से भी यह स्पष्ट कर दिया गया है। 'उड़ान' में जीवन की तीन समस्याएं ली गई हैं! नारी को पूज्य समझकर आरती उतारी जाय, वासना की सामग्री समझा जाय, या सम्पत्ति के रूप में उसे ग्रहण किया जाय। लेखक का संकेत है कि वह इन तीनों में से कुछ नहीं है। एक स्वस्थ सजग संगिनी है।

माया एक स्थान पर कहती है, "एक आकाश में बसता है, दूसरा गहरे अँधियारे खड्ड का वासी है। मैं दोनों (शंकर और रमेश) से डरती हूँ, ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे गड्ढों या ऊँचे शिखरों से मैं ऊब गई हूँ। मैं समतल धरती चाहती हूँ।" अन्तिम दृश्य में मदन, शंकर और रमेश की ओर बारी-बारी से देखते हुए माया कहती है, "तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुममें से किसी को आवश्यकता नहीं।"

इससे नारी की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

'उड़ान' में और भी कई सामाजिक स्थितियों के सुन्दर चित्र खींचे गये हैं। आपत्तिकाल में लाज और शील के पर्त कैसे उड़ जाते हैं, यह रंगून की बमबारी का उल्लेख करते हुए माया कहती है, "बमबाज़ों ने जहां उन मकानों के परखचे उड़ा दिये, वहां उनके वासियों की लज्जा को भी तार-तार कर दिया। जिसकी शर्म उन्हें झरोखे से झांकने तक की आज्ञा न देती थी, उन्हें मैंने नंगे मुँह, नंगे मुँह क्या नंगे शरीर, सड़कों पर माँगते हुए देखा है। मैं शर्म और बेशर्मी से ऊपर उठ गई हूँ।"

'छठा बेटा' में कोई उलझनभरी समस्या नहीं उठाई गई। केवल धन की स्थिति पर हँसाने वाला व्यंग्य किया गया है। धन से मनुष्य की स्थिति क्या हो जाती है, उसकी सेवा और चाटुकारिता के लिए हर-एक तैयार होता है, यही इसमें दिखाया गया है।

'स्वर्ग की झलक', 'क़ैद' और 'उड़ान' हिन्दी के श्रेष्ठ समस्या-नाटकों में गिने जाने चाहिएं।

हास्य और व्यंग्य

'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' अश्क जी की दो कृतियाँ हास्य-व्यंग्य-प्रधान हैं। 'स्वर्ग की झलक' में आधुनिक नारी का बहुत ही व्यंग्यात्मक चित्र है। 'छठा बेटा' में हास्य अधिक है व्यंग्य कम। 'स्वर्ग की झलक' का दूसरा और तीसरा अंक विशेष रूप से व्यंग्य के अच्छे उदाहरण हैं।

"श्रीमती अशोक—मैंने कह दिया मुझमें स्वयं हिम्मत नहीं।

मि० अशोक (मनुहार के स्वर में) देखो सीता, खीर तो मैंने पका ही डाली है, सब्जी मैं ले आया हूँ। तुम जरा उसे चढ़ा देतीं और चार रोटियां (चुटकी बजाता है)...

श्रीमती अशोक—मैंने कभी बनाई भी हों।"

इसी बातचीत के दौरान में रघु आ जाता है, जब अशोक गला फाड़-फाड़-कर श्रीमती अशोक को उठाने लगा था।

"रघु—क्या बात है इतने चीख रहे हो? (श्रीमती अशोक से) नमस्ते जी···।"

मि० अशोक (बेजारी से)—चीख रहा हूं, क्या करूं बीस बार कहा कि भाई तुम आराम करो! समय पर एक घड़ी का आराम बाद को एक वर्ष की मुसीबत से बचाता है, पर यह मानती ही नहीं (थके स्वर में) स्वास्थ्य इनका खराब है, रात ये सोई नहीं; पर ज्यों ही सुबह मैंने बताया कि तुम्हारा खाना है, तो झट रसोई में जा बैठीं। मैं सब्जी लेने गया था—मेरे आते-आते इन्होंने खीर बना डाली। (हँसते हैं) खीर बनाने में तो सीताजी बस निपुण हैं। मुझे लग गई देर, वापस आया तो बड़ी मुश्किल से रसोईघर से उठाया कि भाई आराम करो, फिर मुझे ही डॉक्टरों के पीछे मारा-मारा फिरना पड़ेगा।"

यह स्थिति दर्शकों को हँसाते-हँसाते लोट-पोट कर देगी।

तीसरे अङ्क में हास्य कम है, वह व्यंग्य-प्रधान हो गया है। श्रीमती राजेन्द्र आधुनिक नारी का दूसरा नमूना है। उसे अपने बीमार बच्चे की चिन्ता नहीं, कंसर्ट में आकर नृत्य करने का उल्लास है। यह चरित्र ही व्यंग्य का सुन्दर नमूना है, तब भी इसमें स्थिति और संवाद का भी तीखा व्यंग्य है।

राजेन्द्र के ये शब्द आधुनिक नारी पर व्यंग्य-भरी बौछार हैं, "इन चमकदार मोतियों का उपयोग कितना है रघु, तुम नहीं जानते—तुम इन्हें दूर ही से प्यार की नजरों से देख सकते हो; चाहो तो इन्हें पास बैठाकर सपनों के संसार बना सकते हो; इनकी दमक से अपनी आँखें जला सकते हो; पर जीवन के खरल में पीस इन्हें किसी काम में ला सकोगे, इसकी आशा नहीं।"

अपने बीमार बच्चे को छोड़कर जाते हुए अपने पति से श्रीमती राजेन्द्र कहती हैं, "मेरी चिन्ता आप न कीजिएगा, रात को मुझे देर हो जायगी। शाम का खाना भी मैं मिसेज दयाल के यहाँ खा लूँगी और बच्चे का ध्यान रखियेगा। मुझे सूचना देना न भूलियेगा। मुझे चिन्ता रहेगी।"

इस पर कोई आलोचना की आवश्यकता ही नहीं।

'छठा बेटा' हास्य का अच्छा नमूना है। बसन्तलाल एक शराबी पिता है, पाँचों पुत्र उससे घृणा करते हैं, कोई भी उसे पास रखने को तैयार नहीं। पुत्र-वधू अलग मुँह सिकोड़े रहती है, पर तीन लाख की लाटरी उसके नाम आते ही सब पुत्र सेवा में लग जाते हैं। कोई चरण सहलाता है, तो कोई चिलम भरता है और कोई मदिरा-पान कराता है।

"बसन्तलाल—चोटी हिन्दुत्व की निशानी है, हिन्दुओं का अपना जातीय चिह्न है।···चोटी बिजली के वेग को रोकती है। यदि कहीं मनुष्य पर बिजली गिरे तो चोटी के मार्ग से शरीर में होती हुई धरती में प्रवेश कर जाती है।

देव—शायद यही कारण है कि प्राचीन काल में ब्रह्मचारी नंगे सिर रहते थे और चोटी को गाँठ देकर रखते थे कि वह खड़ी रहे।

कैलाश—बिलकुल बिजली के कंडक्टरों की भाँति, जो ऊँची-ऊँची इमारतों पर लगा दिए जाते हैं···ताकि यदि बिजली गिरे तो इमारत सुरक्षित रहे।

देव—और फिर दादा जी कहा करते थे कि प्राचीन काल के ऋषि-मुनि इसी चोटी से रेडियो का काम लेते थे और बैठे-बिठाये समस्त संसार की खबरें सुन लेते थे। संजय ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे महाराज धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र के युद्ध की जो खबर सुनाई वह इसी चोटी के कारण ही तो।"

'छठा बेटा' का हास्य अन्त में धुँधला व्यंग्य बन गया है—प्रभावशाली भी।

पात्र—चरित्र-चित्रण

'जय-पराजय' के पात्रों के अतिरिक्त अश्क के सभी पात्र सामाजिक हैं—वर्तमान जीवन के हैं। 'जय-पराजय' ऐतिहासिक नाटक है, उसके पात्र भी

इतिहास-सम्मत भारतीय सामन्त-युग के हैं। इस सामन्त-युग के पात्रों में एक नैतिक आदर्शवादिता, कुल-गौरव और व्यक्तिगत अहं का प्राधान्य है। राणा लखसिंह मेवाड़ के अधिपति हैं और चण्ड युवराज। 'जय-पराजय' में प्रेमी के नाटकों के समान मेवाड़ पर बाह्य शत्रुओं का आक्रमण नहीं है, जो वीरता और आत्म-बलिदान का अहं बहुत उभरे रूप में आता, फिर भी चण्ड का अधिकार त्यागकर आजीवन अविवाहित रहने का प्रण एक नैतिक आदर्शवादी कठोर अहं का प्रमाण है यह अहं हंसाबाई में भी विकसित होता है, रानी तारा में भी और रणमल में भी। 'जय-पराजय' की बुनियाद इसी अहं पर खड़ी हुई और इसी अहं की तृप्ति में 'जय पराजय' का खेल समाप्त हुआ।

अश्क के चरित्रों में सामन्ती युग की नैतिक कठोरता और आदर्शवादी अहं होते हुए भी स्वाभाविक विकास है। मानवी चारित्रिक स्वाभाविकता हंसा के चरित्र में सफल रूप में आ गई है। हंसाबाई मेवाड़ाधिपति लखसिंह की पत्नी है। चण्ड की विमाता। पर हंसाबाई पहले चण्ड को अपने पति के रूप में ग्रहण कर चुकी है। चण्ड के प्रति उसकी प्रेम-भावना बहुत ही सुन्दर रूप में व्यक्त की गई है। चण्ड आता है। हंसा कहती है—"मालती तुम मेरे पास रहो, तुम मेरे पास रहो। मेरा दिल धड़क रहा है, मेरा गला सूख रहा है।" और धीरे-धीरे हंसा का रंग पीला पड़ना—बे-सुध भी हो जाना! एक अगले दृश्य में वह कहती है, "माँ, नहीं, युवराज मुझे माँ न कहो।" इस एक वाक्य में ही हंसा की कातरता बेबसी और उसकी आशाओं की लाश तड़प रही है।

चण्ड द्वारा हंसाबाई की उपेक्षा ही हंसा में अहं और प्रतिशोध का विष बनकर विकसित हुई। भारमली के चरित्र पर भी लेखक ने पर्याप्त परिश्रम किया है। राघवदेव से वह प्रेम करती है। रणमल उसका उपभोग करना चाहता है। वह एक नर्तकी है, तो भी किसी भी कुलवधू से उसकी पवित्रता कम नहीं। और राघवदेव की हत्या का प्रतिशोध उसने रणमल से जो लिया वह उसके चरित्र की दिव्यता को और भी प्रकाश में नहला देता है। रणमल का वध करने के लिए वह उसकी प्रेमिका का अभिनय करती है, उसे मारकर स्वयं भी आत्म-हत्या करके उसका चरित्र एक ओर तो प्रसाद की कल्याणी को छूता है और दूसरी ओर मालविका के बलिदान को।

'स्वर्ग की झलक' में चरित्रों का द्वन्द्वात्मक चरित्र नहीं मिलेगा और न ही अश्क के अन्य नाटकों में। पर चरित्र के जो रंग-बिरंगे स्पर्श 'अश्क'

ने अपने पात्रों को दिये हैं, वे वर्तमान समाज के जीवित गुण-दोष हैं। श्रीमती अशोक, श्रीमती राजेन्द्र, उमा आधुनिक नारी के रूप हैं। रात को दो बार बच्ची को दूध पिलाने उठने पर श्रीमती अशोक इतनी अस्वस्थ हो गई कि खाना नहीं बनाया जा सकता, पर उसी शाम को कंसर्ट देखने जाया जा सकता है। श्रीमती राजेन्द्र अपने बच्चे को ज्वर में बेसुध छोड़कर कंसर्ट में नृत्य के लिए जाती है। जाते-जाते कहती है अपने पति से, "मैं सोचती हूँ, यदि आप भी आज चल सकते। चौधरी साहब कहते थे कि पहले से मैंने बहुत उन्नति की है। डॉक्टर जो बताये, उसकी सूचना मुझे भिजवा देना। भूलना नहीं, मुझे चिन्ता रहेगी।"

इससे श्रीमती राजेन्द्र का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। 'क़ैद' और 'उड़ान' में पात्रों के रूप में समाज की बहुत ही जीवित और सिसकती तस्वीरें हैं। 'क़ैद' की अप्पी विवश दमघुटी नारी है। उसके चरित्र में लेखक ने बहुत अच्छा रंग भरा है। दिलीप से उसका प्रेम है, उस पर श्रद्धा है, आदर है—एक अमर आकर्षण है। और यह सब लेखक ने बहुत ही उभरे-दबे रूप में दिखा दिया है। दिलीप के आने का समाचार-मात्र ही उसकी मुर्दा रगों में जान भर देता है—उसके पीले गाल गुलाबी हो जाते हैं। उसमें कितनी ममता—कितनी आकुलता—कितनी कातरता उमड़ आती है। 'क़ैद' में अप्पी के चरित्र-चित्रण में लेखक ने सांकेतिक प्रयोग भी किये हैं।

"प्राणनाथ—किंग कांग ! किंग कांग ?

अप्पी—एक भयानक फिल्म का नाम है। जिसमें एक वनमानस एक सुन्दर लड़की को उठाकर ले जाता है। उसी-जैसा भयानक और निडर है यह बन्दर······।"

इसमें अप्पी के जीवन की विवशता और दमघोट स्थिति का कितना सांकेतिक चित्र है :

"दिलीप (उसके पीछे जाता हुआ)—कितने अच्छे थे वे दिन !

अप्पी—तुम्हें तो कभी याद भी न आती होगी उनकी।"

इस छोटे-संवाद में अप्पी के मन की व्यथा, दिलीप के प्रति प्रेम और दिल की धड़कन बज रही है।

'उड़ान' में पुरुष की तीन प्रवृत्तियाँ पात्र बनकर आ गई हैं। शंकर वह प्रवृत्ति है जिससे पागल होकर पुरुष नारी को अपनी वासना की तृप्ति करने का साधन समझता है। मदन उसे अपनी सम्पत्ति समझकर अधिकार चाहने वाला और रमेश उसको पूजा के मंदिर में देवी बनाकर पूजने वाला

पुरुष है। तीनों पात्र अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। माया एक प्राणवान नारी है, जो तीनों का शिकार होना न चाहकर चाहती है समतल भूमि।

'छठा बेटा' हास्य-प्रधान रचना है। उसमें चरित्र की गहनता 'कैद' और 'उड़ान'-जैसी नहीं मिलेगी; पर बसन्तलाल, हंसराज, कमला, माँ—सभी के चरित्र स्पष्ट हैं।

कला का विकास

'अश्क' के नाटकों में काफी विकसित कला के दर्शन होते हैं। 'जय-पराजय' उनका प्रथम नाटक होते हुए भी नाट्य-कला का अच्छा प्रमाण देता है। दृश्यों का विधान नवीनतम नाटकों के अनुसार है। संस्कृत-नाट्य-कला का तनिक भी प्रभाव इसके नाटकों पर नहीं। स्वगत-जैसी चीज़ भी बहुत ही कम मिलेगी और जो-कुछ भी थोड़े-से स्वगत हैं, वे बहुत संक्षिप्त और स्वाभाविक हैं। अधिकतर स्वगत दृश्य के अन्त में हैं, जब कोई पात्र अकेला रह जाता है और अत्यन्त आवेश में होता है। क्रोटिंग, भट, रणमल, जयसिंह, हंसाबाई, भारमली, धाय आदि के ऐसे ही स्वगत हैं। 'जय-पराजय' के बाद लिखे गए किसी नाटक में भी स्वगत का प्रयोग नहीं किया गया।

'जय-पराजय' में अश्क की कला की उँगलियाँ वास्तव में काँपती-सी लगती हैं, स्थिरता उनमें नहीं है। इस नाटक में वातावरण उपस्थित करने के लिए ही पहला और अन्तिम दृश्य रचा गया है। इनकी वास्तव में नाटक को कोई आवश्यकता नहीं। इस नाटक में अनेक दृश्य व्यर्थ-से भी हैं। पहला अंक पूरे-का-पूरा निरर्थक है। पहले अंक में केवल पात्रों का परिचय-मात्र है, जो एक-दो दृश्यों के द्वारा दिया जा सकता था। कई-एक दृश्य पूरे-के-पूरे बेकार हैं। वे केवल सूचनाओं, पूर्व घटनाओं या किसी स्थिति-विशेष के परिचय के लिए लिख डाले गए हैं। नाटक तो वास्तव में दूसरे अंक से ही आरम्भ होता है—जयसिंह के वचन "हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लायगा" ही नाटक की बुनियाद है। व्यर्थ दृश्यों में दूसरे अंक का दूसरा दृश्य, चौथे अंक का पहला दृश्य उपस्थित किये जा सकते हैं। इसके बाद सभी नाटकों में दृश्य-विधान अत्यन्त कलात्मक ढंग से नियोजित हुआ है।

'अश्क' के नाटकों में ('जय-पराजय' को छोड़कर) संकलनत्रय का बहुत अच्छा निर्वाह हुआ है। समय, स्थान और कार्य (अभिनय) की एकता का अत्यन्त संतुलित स्वरूप इसके नाटकों में मिलता है 'कैद', 'उड़ान', और

'छठा बेटा'—सभी एक ही स्थान पर आरम्भ और समाप्त होते हैं। समय भी क्रमशः इनमें तीन घण्टे, डेढ़-दो दिन, दस-बारह दिन से अधिक नहीं। 'कैद' इस दृष्टि से सबसे अच्छा है। ज्यों-ज्यों लेखक नाटककार के रूप में आगे बढ़ा है, उसकी कथावस्तु निर्बल पड़ती गई है। 'स्वर्ग की झलक' में केवल विभिन्न दृश्य ही हैं। कथा तो पहले और अंतिम अंक में ही है। 'अश्क' के नाटक एकांकी-कला से अधिक प्रभावित हैं—इसलिए उनमें काफ़ी चुस्ती भी है। फ़िल्म का भी उन पर प्रभाव है।

कार्य-व्यापार और आकस्मिकता नाटकीय कला के अनिवार्य अंग हैं। प्रथम नाटक में ही अश्क की कला अपने अधिकार के लिए आकुल है। इसमें अनेक दृश्यों में यह प्रभावशाली आकस्मिकता और गतिशीलता अत्यन्त सफल रूप में आई है। दूसरे अंक का पहला दृश्य—चण्ड का नारियल लेने से इंकार—कौतूहल और आकस्मिकता का उदाहरण है। तीसरे अंक का दूसरा दृश्य छोटा होते हुए भी कम्पन से भरा है। इसी अंक का चौथा दृश्य इससे भी महान् है। चौथे अंक का सातवाँ दृश्य दर्शकों को स्तम्भित कर देता है। रानी तारा अपने ही शिशु का वध करके उसे रणमल्ल के चरणों पर डाल देती है—यह दृश्य महान् है। पाँचवें अङ्क का सातवाँ दृश्य भी सभी नाटकीय गुणों से युक्त है।

स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' व्यंग्य-नाटक हैं, इनमें गतिशीलता चाहे कम हो, पर आकस्मिकता खूब है। रघु रक्षा के साथ विवाह करने से इन्कार करके भी उसी के लिए स्वीकृति देता है। पाँचों बेटों को सब-कुछ देते हुए भी बसन्तलाल उनसे कुछ भी आशा नहीं रखता। 'उड़ान' में अन्तिम दृश्य तो अत्यन्त नाटकीय है।

चरित्र-चित्रण में लेखक ने बहुत ही सफल और अद्वितीय कला का प्रदर्शन किया है। प्रायः लेखक इस ढङ्ग से चरित्र व्यक्त नहीं कर पाते, जिस जिस ढङ्ग से अश्क ने किया है। चरित्र-चित्रण में ही तो नाटककार की कला देखी जाती है। 'जय-पराजय' के तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में चण्ड के उपस्थित होने और 'माँ' कहने पर हंसाबाई पीली पड़ जाती है और बे-सुध हो जाती है। इससे उसके चरित्र में जो दबा प्रेम दिखाया गया है, वह अत्यन्त मर्मान्तक है, भारमली का चरित्र महान् उद्भावना है। 'स्वर्ग की झलक' में तूलिका का एक दो स्पर्श देकर ही 'अश्क' ने आधुनिक नारी का चरित्र उपस्थित कर दिया है। श्रीमती अशोक केवल रात में दो बार अपनी लड़की को दूध पिलाने के कारण अस्वस्थ हैं—खाना नहीं बना सकतीं। और श्रीमती

राजेन्द्र का लड़का ज्वर में बेसुध है, तब भी उनको कंसर्ट में जाना है और जाते-जाते अपने पति से वे कहती हैं—"शाम का खाना मैं मिसेज दयाल के यहाँ खा लूंगी। और बच्चे का ध्यान रखियेगा। मुझे चिंता रहेगी।" चरित्र-चित्रण की यह कला 'कैद' में सबसे अधिक उज्ज्वल और सफल रूप में प्रकट हुई है। अप्पी अलस शिथिल चारपाई पर पड़ी है। और दिलीप के आगमन का समाचार सुनते ही चैतन्य हो जाती है। घर की सफाई करने लगती है। बच्चों को प्यार से नहलाने-धुलाने लगती है। 'छुठा बेटा' में भी ऐसे ही भोले और विरल स्पर्शों से अश्क ने चरित्र-चित्रण-कला की एक अच्छी शैली उपस्थित की है।

नाटक का प्रभावशाली अंत भी कला की सफलता का प्रमाण है। 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान', 'छुठा बेटा' और जय-पराजय' (यदि अन्तिम दृश्य निकाल दिया जाय) तो इन सभी नाटकों का अन्त अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। सभी के अन्त में एक धुँधली सी-छाया मन पर छा जाती है। 'कैद', 'उड़ान' और 'छुठा बेटा' का अंतिम दृश्य नाटक में एक करुण बदली फैला देता है।

अभिनेयता

'अश्क' ने अपने नाटकों में अभिनय-कला का पूरा पूरा ध्यान रखा है। अपने कई नाटकों की भूमिका में अश्क जी ने इस बात का विश्वास भी प्रकट किया है कि इनको रंगमंच का ध्यान भी है—और ज्ञान भी। 'अश्क' के नाटकों का जन्म उस युग में हुआ, जब 'प्रसाद', 'प्रेमी', लक्ष्मीनारायण मिश्र ऐसे प्रतिभाशाली कलाकारों के नाटक हिन्दी को समृद्ध कर चुके थे--कर भी रहे थे। उनकी कमियों से लाभ उठाने का अवसर अश्क के सामने था—इन्होंने लाभ उठाया भी। तब भी उनके नाटकों में अभिनय-कला का विकास क्रमशः हुआ है। धीरे-धीरे उनको अपनी कमियाँ मालूम होती गईं। वह नये प्रयोग करते गए—अधिकाधिक सफल होते गए।

'जय पराजय' अश्क की प्रथम रचना है। इसमें भी उन्होंने रंगमंच का ध्यान रखा है, पर इसमें रंगमंच के दोष अत्यन्त उभरे हुए हैं। अभिनय की दृष्टि से इसका दृश्य-विधान त्रुटिपूर्ण है। पहले अंक का पहला दृश्य मेवाड़ के इष्टदेव लकुटीश (शिव) के मन्दिर का है—भूमि के नीचे। दूसरा है, दो कुन्जों के बीच एक रंगशाला, जहाँ भारमली का नाच होता है। तीसरा है, मंत्रणा-गृह का और चौथा राजमहल का, जहाँ महाराणा लक्षसिंह और उनकी रानी उपस्थित हैं, वहीं मन्त्री, चण्ड आदि भी प्रवेश करते हैं। ये सभी दृश्य काफी बड़े और प्रभावशाली हैं; इनका निर्माण लगातार—एक के बाद

दूसरे की रचना—बहुत कठिन है। इसका प्रथम अंक ही नाटकीय दृष्टि से व्यर्थ-सा जान पड़ता है। आकार में भी यह बहुत बड़ा है—इसके अभिनय के लिए पाँच घण्टे का समय चाहिए।

इसके कई-एक दृश्य किसी पात्र का परिचय या कोई सूचना-मात्र देने के लिए ही रच डाले गए हैं जैसे दूसरे अङ्क का दूसरा दृश्य। अभिनय की दृष्टि से यह नाटक अनेक त्रुटियों से पूर्ण है; जैसा कि लेखक ने स्वयं 'स्वर्ग की झलक' में स्वीकार किया है "मैंने उसे (जय पराजय) लिखते समय रंगमंच का पूरा ध्यान रखा था ·····पर मैं तब भी जानता था और अब भी जानता हूँ कि वह शायद ही कभी पूरे-का-पूरा खेला जाय। खेलने के लिए उसे काफी संक्षिप्त करना पड़ेगा।"

'स्वर्ग की झलक' से अश्क के नाटकों में अभिनेयता तेजी से विकसित होती गई है। 'स्वर्ग की झलक' में चार अङ्क हैं। पहले तीन अङ्क में तीन दृश्य ही हैं और चौथे अंक में चार दृश्य हैं। पहले तीन अंकों में कोई कठिनता हो ही नहीं सकती। चौथे अङ्क का पहला दृश्य कंसर्ट का है; इसके बाद दूसरा दृश्य रघु के घर का, फिर तीसरा कंसर्ट का मेकप आदि उतारने का। तीसरे और पहले के बीच दूसरा दृश्य बहुत ही उपयोगी और नाटकीय दृष्टि से आवश्यक है। 'कैद' 'उड़ान' और 'छठा बेटा' के सभी दृश्य एक ही स्थान पर हो जाते हैं। पूरे नाटक एक ही स्थल पर आरम्भ होकर समाप्त होते हैं। दृश्यों के सामान में अदल-बदल नहीं करनी पड़ती। केवल पात्र एक दो मिनट के लिए आँखों से ओझल होकर कुछ देर सुस्ता-भर लेते हैं। 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान' और 'छठा बेटा' सभी में मंचीय निर्देश बहुत विस्तृत और उपयोगी हैं। उनसे भी लेखक की अभिनय-कला की समझदारी प्रकट होती है।

अभिनय के लिए कार्य-व्यापार, प्रभावशाली आरम्भ और अन्त, आकस्मिकता आदि गुण भी नाटक में होने आवश्यक हैं। कार्य-व्यापार की दृष्टि से 'जय पराजय' के तीसरे अङ्क का दूसरा दृश्य, चौथे का सातवाँ, पाँचवें का सातवाँ उपस्थित किये जा सकते हैं। 'कैद' और उड़ान' में भी कार्य-व्यापार की पर्याप्त मात्रा है। इनमें ऐतिहासिक नाटकों के समान उछल-कूद, लपक-झपक खोजने की आवश्यकता नहीं। प्रभावशाली आरम्भ और अन्त की दृष्टि से 'कैद','उड़ान','स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' सभी नाटक श्रेष्ठ हैं। 'कैद' के अन्त में अप्पी का सिसकना, 'छठा बेटा' में बसन्तलाल का स्वप्न में 'आह मेरा छठा बेटा' कहते हुए करवट बदलना, 'उड़ान' में माया

का बिजली की गति से प्रस्थान—चिरस्थायी प्रभाव डालते हैं। 'कैद' और 'झूठा बेटा' का अन्त तो हृदय पर सघन धुँधली छाया डाल जाता है।

चरित्र-चित्रण और भाषा भी अभिनय में सहायक होते हैं, इस विषय में कहना व्यर्थ है। 'अश्क' की भाषा नाटकोचित है, चुस्त है, भाव-प्रकाशन में सफल है। चरित्र की दृष्टि से उसके सभी नाटक सफल हैं। बातचीत करते हुए पात्रों द्वारा मुख पर विभिन्न भावों का प्रदर्शन और स्वाभाविक रूप में गतिशील रहना अभिनय में और भी जान डाल देता है।

: ६ :

पृथ्वीनाथ शर्मा

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। शर्मा जी की कहानियाँ, उपन्यास, नाटक सभी रोचक होते हैं। आपकी कलम काफी मँजी हुई, भाषा साफ-सुथरी, भाव हृदय को प्रभावित करने वाले और शैली सुबोध और सरस है। 'पंखुरियाँ' नामक आपका कहानी-संग्रह पाठकों और समालोचकों द्वारा काफी पसन्द किया गया था। 'युग-सन्देश' और 'विद्रूप' उपन्यास भी आपकी कलम की सफलता और कला-कुशलता के साक्षी हैं। आपने एकांकी भी अत्यन्त सफलता से लिखे हैं, जो मञ्च में अभिनीत किये जा सकते हैं। नाटकों के क्षेत्र में आपने अनेक सुन्दर रचनाएं की हैं। 'दुविधा' सन् १९३७ ई० में निकला और 'अपराधी' सन् १९३९ ई० में। ये दोनों ही नाटक सामाजिक हैं। सामाजिक नाटकों के साथ ही आपने पौराणिक क्षेत्र में भी कलम का उपयोग किया। लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला के चरित्र को लेकर 'उर्मिला' लिखा। 'उर्मिला' १९५० ई० में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन-क्रम से आपकी कलम में निखार आता गया है। टेकनीक में भी नवीनता, सुधार और गठन आता गया है।

समाज की समस्या

'अपराधी' और 'दुविधा' के कथानक और पात्र वर्तमान सामाजिक जीवन से लिये गए हैं। पर दोनों ही नाटकों में समाज की न तो कोई तीखी तस्वीर ही उन्होंने दी और न वे वर्तमान जीवन के अस्थिर, उलझन भरे, दोहरे चरित्र वाले, विलक्षण पात्रों का निर्माण कर सके। सामाजिक जीवन को लेकर कितना व्यंग्य दिया जा सकता था—कितनी यथार्थता सामने रखी जा सकती थी—समाज के भीतर-ही-भीतर सड़ते हुए घाव पर नश्तर लगाया जा सकता था, पर शर्मा जी के दोनों ही नाटकों में इन सबका पूर्ण अभाव है। 'दुविधा' में अवश्य सुधादेवी के चरित्र में दुविधा है, पर उसकी

परिस्थितियाँ इस दुविधा को व्यापक और अधिक प्रभावशाली नहीं बना सकीं। 'अपराधी' में तो समाज की कोई समस्या ही नहीं। वह तो केवल एक दुर्घटना को उपज है—चोर द्वारा अशोक को जेब में घड़ी रख देना और उसका भाग जाना। अपने नाटकों द्वारा शर्मा जी कोई भी सामाजिक समस्या हमारे सामने न रख सके।

रोमांस का इनके नाटकों के सभी पात्रों पर अत्यन्त प्रभाव है। भावुकता आवश्यकता से अधिक है। सामाजिक नाटकों में यदि आज का बुद्धिवाद भावुकता की मिठास लेकर जीवन को उलझनों को सुलझाता दीखता, तो शायद शर्मा जी के नाटक अधिक स्थायित्व प्राप्त करते। सभ्यता, शिक्षा, विज्ञान, मानव-सम्बन्ध, पारस्परिक परिचय और संघर्षों से अनेक उलझनें हमारे जीवन में आ गई हैं, उनका आभास भी इनके नाटकों में नहीं। 'दुविधा' में आरम्भ तो शर्मा जी ने अच्छा किया था, पर अन्त अच्छा न हुआ। अन्त भी भावुकता में ही हुआ, इससे सुधा के जीवन की तो समस्या हल न हुई। अगले नाटकों में तो वह पग भी उनका पीछे की तरफ ही मुड़ गया, जो उन्होंने 'दुविधा' में उठाया था। 'व्यक्ति-वैचित्र्य' आधुनिक कला का विशेष आकर्षण है और सामाजिक जीवन के पात्रों में यह विशेषता भरी जा सकती है, पर शर्मा जी चरित्र की विचित्रता न भर सके। उनके पात्र 'साधारण' से ऊपर न उठ सके।

पात्र—चरित्र-चित्रण

शर्मा जी के नाटकों के पात्र वर्तमान जीवन से लिये गए हैं। 'उर्मिला' पौराणिक नाटक है, उसके पात्रों—नायिक-नायिका आदि—का विचार प्राचीन शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ही किया जाना ठीक है। उर्मिला का नायक लक्ष्मण धीरोदात्त नायक है। वह वीर है, निर्भय है, शीलवान है, आत्मश्लाघा-हीन है, विनयी है। भरत को सेना सहित वन में आता देखकर लक्ष्मण उससे युद्ध करके उसका विनाश करने को प्रस्तुत हो जाता है, "आज चिर काल से रोके हुए क्रोध को और कैकेई द्वारा किये गए तिरस्कार को शत्रु-सेना पर वैसे ही छोड़ूँगा, जैसे फूँस के ढेर पर अग्नि छोड़ी जाती है। आज मैं चित्रकूट के वन को अपने तीक्ष्ण बाणों से शत्रुओं के शरीर काटकर उनसे निकले हुए रुधिर से सींचूँगा। आज मैं इस महासंग्राम में सेना सहित भरत का नाश करके अपने धनुष और बाणों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा।"

राम धैर्य, शान्ति, क्षमा, शील, विनय, समबुद्धि आदि की मूर्ति हैं।

भरत में विनय, वेदना, आत्म-ग्लानि बन्धु-प्रेम और सम्मान, त्याग, तप और दैन्य कूट-कूटकर भरा है। भरत की आत्म-वेदना थोड़े से में ही व्यक्त है, "भगवान् करे, वे मान जायं। इसी से मेरी माता का मेरे कुल का कलंक धुल सकता है। मेरी माता को यह सूझा क्या ?······वह जन्मदात्री है, अधिक कह ही क्या सकता हूं।" उर्मिला के अतिरिक्त 'उर्मिला' के प्रायः सभी चरित्र रामायण में चित्रित चरित्रों की ही प्रतिछाया हैं, बल्कि उनसे कमजोर और फीके।

'दुविधा' और 'अपराधी' यथार्थ जीवन के चरित्र होते हुए भी आदर्शवादी, कल्पना-प्रधान रोमांटिक और स्वप्नों में उड़ने वाले ही हैं। जीवन की यथार्थता उनमें नहीं आ पाई। न वह तीखापन, न वह उलझन और न वह बुद्धिवादिता ही जो वर्तमान जीवन के चरित्रों में आनी चाहिए। केशव के चरित्र में अवश्य कपटपूर्ण यथार्थता है, वह भी हल्के ढङ्ग की। वह भी बाहरी रूप में रोमांटिक है। यह उसका अभिनय है। इस पर शर्मा जी परिश्रम न कर सके। इसमें यदि गहरा रंग भरा जाता तो यह बहुत सशक्त पात्र बन जाता, पर मालूम होता है, जीवन के विषय में शर्मा जी का अध्ययन हल्का है।

विनयमोहन स्वप्नों में उड़ने वाला रोमांटिक पात्र है। प्रकृति में उसे रंगीनियाँ दीखती हैं। वह कवि के समान उसके सौंदर्य पर पागल है, आकाश इतना नीला था, इतना निर्मल था कि उसे देखकर हृदय प्रफुल्लित हो उठा। हरे-हरे पौधों में नन्हे-नन्हे फूल फूल रहे थे, वृक्षों पर पक्षी कलरव कर रहे थे और पवन में वह संगीत था कि मैं झूम उठा। केशव के चंगुल से सुधा जब विनय के ही प्रयत्न से छूट जाती है, विवाह नहीं हो पाता, तो वह फिर प्रेम की आशा लेकर विनय के पास आती है, विचार-प्रधान कोई भी पात्र उसे स्वीकार कर लेता; पर विनय की भावुकता और रोमांटिक प्रकृति उससे कहलाती है, "सुधा, उस दिन जब तुम मेरे पास केशव की पत्नी की कहानी लेकर आई थीं, तो तुमने मेरे सोये हुए प्रेम को जगा दिया था। तभी से मेरे हृदय में प्रेम और आत्माभिमान का द्वन्द्व छिड़ गया। परसों मैंने सोचा था, प्रेम आत्माभिमान को दबा लेगा, पर यह मेरी भूल थी। मेरे लाख प्रयत्न करने पर भी प्रेम आत्माभिमान पर विजय न पा सका।"

'अपराधी' का अशोक आदर्शवादी है। रोमांटिक प्रभाव भी उस पर कम नहीं। चोर को जाने देता है और उसका हुलिया बताने तक से इन्कार कर देता है, यह कोरा आदर्शवाद है। साथ ही लीला के साथ उसका

भावुकता भरा प्रेम भी है। कहानी सुनाने में उसकी रोमाण्टिक प्रकृति का पता चलता है।

नारी-चरित्रों में सुधा भावुकता के पंखों पर उड़कर रोमांस के आकाश में स्वप्न-झिलमिल कल्पना के सितारों से खेलने वाली लड़की है। पहले उसका प्रेम विनय से हुआ। इसके बाद इंगलैण्ड में जाकर वह केशव से प्रेम करने लगी। उसे मालूम हुआ कि केशव विवाहित है तो उससे विमुख हो गई और फिर विनय की ओर मुड़ी। पर आदि से अंत तक उसके चरित्र में दुविधा है, "मैं केशव से प्रेम करती ! । वह मुझ पर बलाएं लेता है। और चाहिए भी क्या ? परन्तु विनयमोहन कहता है, मैं चापलूसी को प्रेम समझती हूं। मेरे हृदय का स्पन्दन अस्वाभाविक है। परन्तु नहीं, केशव मुझे सचमुच प्यार करता है। मेरे हृदय की धड़कन में तड़प है, जीवन है। विनयमोहन झूठा है—बिलकुल झूठा है।" सुधा के इस कथन में उसका चरित्र अंकित हो गया है।

'अपराधी' की रेणु और लीला वर्तमान जीवन में आम तौर पर पाई जाने वाली लड़कियाँ हैं। रेणु का चरित्र अधिक त्यागमय है और विचार-प्रधान भी है। वह पिछले रोमांस को याद करके रोने वाली नहीं, बल्कि कर्तव्य करने वाली है। 'अपराधी' का सबसे उज्ज्वल चरित्र है, आभा। अशोक की कहानी सुनकर वह अपने पति (चोर) को ही गिरफ्तार करा देती है। उस साधारण नारी की महत्ता रेणु और लीला से भी अधिक गौरवमय है। नारी-चरित्रों में 'उर्मिला' पौराणिक चरित्र होते हुए भी सबसे सबल और प्राणवान है। वह गतिशील जीवन की यथार्थता लिये है। वह पति के मार्ग में बाधक नहीं बनती, उसे वन जाने देती है और इतना आत्माभिमान भी उसमें है कि वह लक्ष्मण से भेंट करने भी नहीं जाती, जब वह वन जाने की तैयारी कर रहा है। वह कहती है, "एक बार उनके दर्शन कर आऊँ। नहीं, मैं नहीं, जाऊँगी। ....रो-रोकर अपने प्राण दे दूंगी, किन्तु जाऊँगी नहीं।"

और यह मान और स्वाभिमान का रूप, लक्ष्मण के वन से लौटने पर और भी निखर आता है, "मन तो अवश्य करता है कि उड़कर उनके चरण छू लूं, पर यही तो परीक्षा है।......नहीं, मैं कदापि नहीं जाऊंगी। आज पहले मुझ तक पहुँचना उनका कर्तव्य है। मैं तब तक यहां से नहीं हिलूंगी जब तक वे अपना कर्तव्य-पालन नहीं करते।" और यही मानिनी उर्मिला लक्ष्मण के विरह में कैसी तड़पती रही है, "नारी हूं, नारीत्व के बन्धनों से बंधी

हूँ। भावुक हृदय और सजल नेत्रों के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या?" लक्ष्मण जब राम के द्वारा उपेक्षित होकर सरयू-तट पर योग करने चले जाते हैं, तब यह अश्रुमती करुणा-विह्वल, वेदना-पीड़ित कुलवधू "अनंत वर्षों के सहवास के अनन्तर क्या में अंतिम मिलन की अधिकारिणी भी न हो सकी?" कहते हुए बेहोश हो जाती है।

शर्मा जी पुरुष की अपेक्षा नारी-चरित्र अङ्कित करने में अधिक सफल हैं।

कला का विकास

शर्मा जी की कला में लगातार विकास होता गया है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़े हैं, उनकी लेखनी में निखार और दृढ़ता आती गई है। उनके प्रायः सभी नाटकों में टैकनीक की सरलता है। उनमें उलझन नहीं और न ही 'प्रयोग' के नशे में आकर उन्होंने ऊटपटाँग प्रयोग किये हैं। सभी नाटकों में तीन-तीन अङ्क हैं? इतने छोटे और सीधी सरल शैली के नाटक हिन्दी में बहुत कम हैं। 'दुविधा' और 'अपराधी' में तो संकलनत्रय का बहुत अधिक समावेश हो गया है। पहले में अधिक-से-अधिक १२ दिन और दूसरे में दो महीने के जीवन की कहानी है। 'उर्मिला' में संकलनत्रय का तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया। रखा ही नहीं जा सकता था। राम-वन-गमन से वापिस आने तक की कथा उसमें है। चौदह वर्ष के लम्बे जीवन की अश्रु-भीगी कहानी 'उर्मिला' में है। स्थान की भी एकता उसमें नहीं आ सकती। अयोध्या और वन दोनों में ही 'उर्मिला' के करुण जीवन की कथा व्यथा से छटपटाती घूमती फिरती है। टैकनीक के नाम पर जीवन की विस्तारभरी कथा का दम घोटना उचित नहीं। शर्मा जी ने उस स्वाभाविकता का बड़ा ध्यान रखा है। उन्होंने टैकनीक के नशे में कथा का नाश नहीं किया और न विभिन्न स्थानों को, स्थान की एकता के नाम पर, संकुचित क्षेत्र में ही कैद किया।

'दुविधा' शर्मा जी का प्रथम नाटक है। इसमें कमियाँ स्पष्ट हैं। कार्य-व्यापार की इसमें अत्यन्त कमी है। प्रायः सभी दृश्य आराम कुर्सियों में पड़े-पड़े पात्रों की बहस-मात्र हैं या प्रेमावेश में बोलते हुए सुन्दर, मधुर, कोमल शब्दों की बौछार-मात्र। पहले अंक में काफी शिथिलता है। दूसरे में घटना के नाम पर केवल केशवदेव की पत्नी मोहिनी का प्रवेश और केशव के छल-कपट का भण्डा फोड़ है। यह भी नाटकीय नहीं। कार्य-व्यापार शिथिल होते हुए भी दूसरे अंक का चौथा और तीसरे का चौथा दृश्य प्रभावशाली हैं।

'अपराधी' में शिथिलता कम हो गई है। पात्रों में स्फूर्ति है—अभिनय में जान है। पहला दृश्य ही स्फूर्तिमय और नाटकीय है। पहले अंक का तीसरा दृश्य तो रोमांचक नाटकीयता, तीव्र कार्य-व्यापार और कमाल के कौतूहल से पूर्ण है। यही दृश्य पूरे नाटक का प्राण है। नन्दगोपाल, रेणु, लीला, नाटक के सभी प्रमुख पात्र कार्यशील और प्राणवान हैं। उनमें कर्म का उत्साह और खोज का उल्लास है। 'उर्मिला' तो घटनाओं से पूर्ण ही है—वन-गमन, राम-भरत-मिलन, दशरथ-मरण, रामागमन, लक्ष्मण का गृह-त्याग। इसमें शिथिलता का नाम नहीं—पात्रों में भी स्फूर्ति है। दासी, उर्मिला, सुमित्रा, मांडवी सभी में एक गतिशीलता पाई जाती है। उर्मिला का प्रथम और अन्तिम दृश्य तो सामाजिकों पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। चरित्र-चित्रण, कार्य-व्यापार, टैकनीक की सरल, प्रभाव और रस की दृष्टि से 'उर्मिला' शर्मा जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

टैकनीक का नवीन प्रयोग शर्मा जी ने 'अपराधी' में किया है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में अशोक घर से भाग जाता है। दूसरे दृश्य में वह कहानी सुनाना आरम्भ करता है, तीसरे दृश्य में वह पकड़ा जाता है। कहानी का तीसरा दृश्य भी कहानी में जुड़ जाता है। कहानी चलती रहती है। और अशोक के विषय में अनेक दृश्य सामने आते हैं। तीसरे अङ्क के प्रथम दृश्य में फिर अशोक प्रमिला और अनिल को कहानी सुनाने लगता है। इसके बाद चार दृश्यों में अशोक-सम्बन्धी दृश्य, उसका जेल-मुक्त होना आदि हैं। अन्तिम दृश्य में पता चलता है कि उन बच्चों की अम्मा का पति वास्तविक चोर था और अशोक की कहानी सुनकर वह इतनी प्रभावित हुई कि उसने अपने पति को गिरफ्तार करा दिया। अशोक द्वारा बच्चों को सुनाई गई और अशोक की निजी कहानी की घटनाएं आपस में ऐसी जमकर बैठी हैं कि लेखक की कलम की प्रशंसा करनी पड़ती है। नाटक में यह फिल्मी टैकनीक हमने केवल 'अपराधी' में पाई और अत्यन्त सफल। इस नाटक में नाटक के सभी तत्त्व—कौतूहल, रहस्य-ग्रन्थि, नाटकीयता, कार्य-व्यापार—बहुत ही स्वस्थ और सफल रूप में आए हैं।

चरित्र-चित्रण भी सभी नाटकों में अच्छा हुआ है। 'दुविधा' में सुधा-देवी के चरित्र में आदि से अन्त तक भावुकता, अनिश्चयात्मकता और दुविधा है। 'अपराधी' में अशोक और आभा के चरित्र-चित्रण में चमक है और आभा के चरित्र पर सम्मान से सिर झुक जाता है। 'उर्मिला' में उर्मिला का चरित्र दिव्य है। नारीत्व की चमकती तस्वीर उसमें है। भावुकता,

भोलापन, समर्पण और आत्माभिमान सभी तो उसमें हैं। लक्ष्मण का चरित्र भी दिव्य है।

कला की दृष्टि से शर्मा जी के नाटकों में सबसे अधिक खटकने वाली बात है स्वगत-भाषण। जब शर्मा जी ने नाटक लिखने आरम्भ किये, हिन्दी में नाटक-कला का काफी विकास हो चुका था। फिर भी वह स्वगत-भाषण की अस्वाभाविकता और व्यर्थता न समझ सके। 'दुविधा'-जैसे छोटे नाटक में सुधा का लगभग पौने दो पेज तक का स्वगत है। और ऐसे भद्दे स्वगत भी हैं—

"सुधा (स्वगत) —अच्छा यह बात है। उफ! कितना झूठ बोला है केशव ने मुझसे (प्रकट) क्या आपने फिर कभी केशवदेव जी को मनाने की कोशिश भी की?"

'अपराधी' और 'उर्मिला' में ऐसे भद्दे स्वगत नहीं हैं। 'अपराधी' में स्वगत कम हुए, पर उर्मिला' में वे फिर वृद्धि पा गए सभी नाटकों में स्वगत एक और भी अरुचिकर रूप में आया है। दृश्य के अन्त में पात्रों के प्रस्थान पर एक प्रमुख पात्र रह जाता है और उसके स्वगत-भाषण से दृश्य का अन्त होता है। कभी-कभी दृश्य का आरम्भ भी स्वगत से किया जाता है। कहीं-कहीं तो जो बात घटना या चरित्र से स्पष्ट हो चुकी है उसे स्वगत के द्वारा फिर सूचित किया जाता है। 'अपराधी' के प्रथम अङ्क के तीसरे दृश्य में जैसे चोर का स्वगत 'उर्मिला' में स्वगत अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए काफी मात्रा में आया है। इससे चरित्र-प्रकाशन का काम भी लेखक ने लिया है।

संवाद अधिकतर संक्षिप्त और चुस्त हैं। भाषा सरल और सरस है। कहीं भाषा-सम्बन्धी दोष भी नज़र आ जाते हैं। "पक्षी कलरव गा रहे थे, होश आई, मिसेज कपूर के हाँ चलना है, हृदय में बवंडर छिड़ा है" आदि दोष-पूर्ण प्रयोग हैं। 'उर्मिला' में उर्मिला के मुँह से भरत को बार-बार भैया कहलाना और सुमित्रा-उर्मिला-संवाद (अङ्क २ दृश्य १) सांस्कृतिक दोष है। वैसे शर्माजी के नाटकों में दोष कम हैं और गुण अधिक।

अभिनेयता

शर्माजी के सभी नाटकों का दृश्य-विधान अत्यन्त सरल, सीधा-सादा अभिनयोचित है। इनके सभी नाटकों का सरलता से अभिनय किया जा सकता है। इनके नाटकों में प्रायः तीन अङ्क होते हैं। सभी नाटक संक्षिप्त हैं। 'दुविधा' ६७, 'अपराधी' ७० और 'उर्मिला' ७७ पृष्ठ का है। किसी भी

नाटक का अभिनय डेढ़ घण्टे से अधिक समय नहीं ले सकता। नाटकों में पात्रों की भीड़-भाड़ नहीं; सभी नाटकों में पात्रों की संख्या कम है—'दुविधा' में छोटे-बड़े ६, 'अपराधी' में १२ और 'उर्मिला' में १४ पात्र हैं। दृश्य-विधान संक्षिप्तता, पात्र, भाषा, संवाद आदि सभी की दृष्टि से नाटक रंगमंच पर लाए जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण के हल्केपन, प्रभाव और कार्य-व्यापार की दृष्टि से भले ही इनमें कमी हो। 'उर्मिला' हर दृष्टि से शर्मा जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक कहला सकता है।

: १० :

वृन्दावनलाल वर्मा

वर्मा जी पुराने खेवे के विख्यात उपन्यासकार और कहानी-लेखक हैं। प्रेमचन्द-युग में ही आप प्रथम कोटि के लेखकों में आ चुके थे। आपके उपन्यासों में नितान्त मौलिकता और निजी व्यक्तित्व विद्यमान है। उपन्यासों के लिए आपने भारतीय मध्ययुगीन इतिहास को चुना। ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के क्षेत्र में वर्मा जी अद्वितीय हैं। आपकी रचनाओं का इतना आदर है कि आप हिन्दी के 'वाल्टर स्काट' कहलाते हैं। 'गढ़ कुण्डार', 'झाँसी की रानी','मृगनयनी','मुसाहिबजू','आनन्दघन', 'राणा साँगा','माधवजी सिंधिया', 'सत्तरह सौ उन्तीस', और 'विराटा की पद्मिनी' आदि आपके ऐतिहासिक उपन्यास हैं और 'अचल मेरा कोई', 'कुण्डली चक्र', तथा 'प्रत्यागत' सामाजिक उपन्यास। आपके अनेक कहानी-संग्रह भी निकल चुके हैं—'शरणागत', 'दबे पाँव', तथा 'कलाकार का दण्ड' आदि।

उपन्यासकार के रूप में हिन्दी का मस्तक ऊँचा करने के साथ ही वर्माजी का ध्यान नाटक-रचना की ओर भी गया। नाटक-लेखन में भी हिन्दी में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। नाटककार की प्रतिभा भी आपमें सजग, सशक्त और प्रसन्न रूप में पाई जाती है। आपके अनेक नाटकों का अभिनय भी किया जा चुका है और यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आपके नाटकों में साहित्यिकता कला और अभिनेयता—सभी गुण, पर्याप्त मात्रा में हैं। उपन्यासों के समान नाटक भी आपने सामाजिक की अपेक्षा ऐतिहासिक ही अधिक लिखे। 'झाँसी की रानी','बीरबल','काश्मीर का काँटा','पूर्व की ओर', तथा 'फूलों की बोली' ऐतिहासिक नाटक हैं और 'राखी की लाज','खिलौने की खोज' एवं 'बाँस की फाँस' आदि सामाजिक नाटक। 'सगुन', 'पीले हाथ' और 'लो भाई पंचो लो' आदि एकांकी हैं।

रचनाओं का काल-क्रम

राखी की लाज		१९४३
फूलों की बोली		१९४७
बाँस की फाँस		१९४७
काश्मीर का काँटा		१९४८
झाँसी की रानी		१९४८
हंस-मयूर		१९४९
पायल		१९४९
मंगल-सूत्र		१९४९
खिलौने की खोज		१९५०
पूर्व की ओर		१९५०
बीरबल		१९५०
सगुन	(एकांकी)	१९५०
जहाँदारशाह	,,	१९५०
लो भाई, पंचो लो	,,	१९४८
पीले हाथ	,,	१९४८

इतिहास और कल्पना

वर्मा जी ने ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा हिन्दी में जागृत रखी। प्रसाद और प्रेमी की ऐतिहासिक नाटकीय सम्पत्ति में आपने और भी वृद्धि की। ऐतिहासिक काल-क्रम को लें तो वर्मा जी के नाटकों का काल ईस्वी सन् २८० से आज तक का है। 'पूर्वकी ओर' आपका पहला नाटक है। पल्लव राजकुमार अश्वत्थ या अश्व वर्मा इस नाटक का नायक है, जो वीर वर्मा का भतीजा था और अपने दुष्कर्म और देश-घातक कार्य-कलापों के कारण वीर वर्मा द्वारा धान्यकटकर (दक्षिण भारत) से निकाल दिया गया और वह अपने साथियों के साथ एक यान में बैठकर नाग द्वीप होता हुआ जावा,बोनियों आदि पहुँचा। 'फूलों की बोली' अरबी यात्री अलबेरुनी की 'किताबुल हिन्द' की एक कथा के आधार पर लिखा गया है। उज्जैन के व्याद्रि नामक एक व्यापारी की कथा इसमें दी गई है जो किसी रासायनिक सिद्ध से सोना बनाना सीखना चाहता है और अपनी समस्त सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठता है। अलबेरुनी १०३० ई० में भारत आया था।

'बीरबल' का समय सोलहवीं शताब्दी-अकबर का राज्य-काल है। 'झाँसी

की रानी' १८५७ ई० के गदर के समय का और 'काश्मीर का काँटा' का समय अक्तूबर १९४७ है।

'पूर्व की ओर' की भूमिका में वर्मा जी ने उसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है। और उन्होंने जिन अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को समय और स्थान की डोर से बाँध दिया है, उनका भी निर्देश कर दिया है। अश्व-तुङ्ग के निर्वासन की घटना इतनी प्राचीन है कि इस पर लिखा गया नाटक काल्पनिक ही अधिक होगा। इसलिए धारा, तुम्बी, गजमद आदि-जैसे प्रमुख पात्र भी काल्पनिक हैं। 'फूलों की बोली' में तो तनिक भी ऐतिहासिकता नहीं, केवल इस। आधार ऐतिहासिक घटना-मात्र है। सभी पात्र और घटनाएं काल्पनिक हैं। यह नाटक तो ऐतिहासिक न होकर सामाजिक ही समझना चाहिए—पूर्णतः वर्तमान युग का। 'बीरबल' में प्रमुख चरित्र ऐतिहासिक हैं। पर उसमें अधिकतर घटनाएं काल्पनिक हैं। हाँ, इस नाटक के द्वारा हमें जसवन्त के जीवन को नई झाँकी अवश्य मिल जाती है। यह भी वर्मा जी ने अपनी भूमिका में दे दिया है कि इस चित्रकार के जीवन का अन्त बहुत ही करुण हुआ। इसने आत्म-हत्या करके अपनी जान गँवाई। बीरबल के चरित्र में भी नया रंग इस नाटक के द्वारा भरा गया है। 'झाँसी की रानी' में लक्ष्मीबाई और गदर के संचालकों का ऐतिहासिक चरित्र है। एक दो घटनाएं काल्पनिक भी हैं, पर वे इतिहास का न तो अपमान ही करती हैं, और न उसका विरोध ही। 'काश्मीर का काँटा' में ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह के बलिदान की कथा है। यह तो कल ही की बात है। इसकी ऐतिहासिकता में क्या सन्देह हो सकता है। पर नाटक में न तो उसकी वीरता आ पाई और न कोई घटना। बातचीत में ही नाटक की सार्थकता समझ ली गई!

समाज और समस्या

'राखी की लाज', 'बाँसकी फाँस', 'खिलौने की खोज' सम्पूर्ण और 'सगुन', 'पीले हाथ', 'लो भाई, पंच लो' एकांकी नाटक सामाजिक हैं। 'राखी की लाज' में चम्पा सहसा (मेवराज डाकुओं का साथी सपेरा) को राखी बाँध देती है और उसके बाप के यहाँ डाका पड़ते समय वह चम्पा की रक्षा करता है। वही चम्पा के प्रेमी—अभिलाषित वर—सोमेश्वर से उसका विवाह करा देता है, यद्यपि पिता उसका विवाह किसी अन्य लड़के से करना चाहता था। 'बाँस की फाँस' में गोकुल एक भिखारिन की लड़की पुनीता के घायल होने पर उसे अपना रक्त और ताजा मांस और फूलचन्द मंदाकिनी

को रक्त प्रदान करता है। गोकुल-पुनीता का विवाह हो जाता है और मंदाकिनी फूलचन्द से विवाह करने से इन्कार कर देती है। 'खिलौने की खोज' में डॉक्टर सलिल और सरूपा के पूर्व प्रेम की कथा है। दोनों का विवाह नहीं हुआ और इस कारण सलिल को क्षय और सरूपा को लगातार सिर दर्द रहने लगा।

प्रथम दो नाटकों—'राखी की लाज' और बाँस की फाँस'—में समाज की कोई भारी उलझनभरी और मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है। दोनों घटना-प्रधान नाटक हैं। सहसा किसी के हाथ में राखी बाँध देना और उसकी लाज रखना अनेक पुस्तकों की कथा-कहानियों में दुहराया गया है। जीवन के ऊपरी स्तर की यह एक आकस्मिकता-मात्र है—इसमें कोई गहनता, छटपटाहट या उलझन नहीं। 'बाँस की फाँस' में भी जीवन के बाह्य चित्र का ही अंकन है। सहसा एक रेल-दुर्घटना होती है और पुनीता घायल हो जाती है। गोकुल अपना खून और मांस उसे देता है। ऐसी घटनाएं समाज में होती हैं और ऐसे भी वीर और पर-दुःख-कातर हैं, जो अपने रक्तसे अन्यके प्राण बचाते हैं। पर यह कोई दैनिक जीवन को कचोटने वाली सामाजिक समस्या नहीं है और न रात-दिन ऐसी घटनाएं होती ही हैं कि यह एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर लें। किसी भिखारिन से विवाह यदि किसी रोमांस के नशे में या दया-द्रवित होकर किया जाय तो भी वह सामाजिक वैषम्य का हल नहीं है। इसके अतिरिक्त इस 'रक्त-दान' की साहित्य में इतनी भीड़-भाड़ है कि इसमें उकता देने वाली पुनरावृत्ति है।

'खिलौने की खोज' में निश्चय ही जीवन की गहन समस्या ली गई है। सरूपा और सलिल का बचपन से प्रेम है, उनका विवाह न हो सका। सलिल के पास सरूपा का एक खिलौना है, उसी की मूर्ति। सलिल उसके यहाँ से केवल उसे चुरा ले आता है। सरूपा जब उसे देखती है तो उसके जीवन की पुरानी स्मृतियाँ जाग उठती हैं, जिन्हें वह बलपूर्वक दबाए हुए थी। सलिल सरूपा का इलाज करने के लिए बुलाया जाता है और वह उससे पुरानी सभी बातें पूछता है। पहले तो वह छिपाती है, पर अन्त में सब-कुछ कह देती है। इस नाटक में मनोवैज्ञानिक तत्व का उद्घाटन किया गया है कि स्मृतियों को बलपूर्वक दबाकर रखना हानिकर है और इससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा होता भी है। भीतर-ही-भीतर घुटने से क्षय आदि रोग होते देखे गए हैं।

वर्मा जी के नाटकों में समाज के बाह्य पहलू—ऊपरी समस्याओं—जो

प्रायः घटना-प्रधान हैं, परिस्थिति-प्रधान नहीं—पर ही प्रकाश डाला गया है। समाज के भीतरी घुन और भीतर-ही-भीतर पकने वाले फोड़े पर उनका ध्यान नहीं गया।

सामाजिक नाटकों में जीवन की अन्य छोटी-छोटी समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। विवाह, जाति-पाँति ऊँच-नीच, सामाजिक वैषम्य, नेताओं का स्वार्थ, ग्राम-जीवन को स्वस्थ बनाना आदि की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

पात्र—चरित्र-चित्रण

पात्रों की विभिन्नता वर्मा जी के नाटकों में मिलेगी—अनेक काल और जीवन की कथाएं इनके नाटकों में हैं। पात्र और परिस्थितियाँ भी अनेक हैं और विभिन्न भी। 'पूर्व की ओर', 'बीरबल', झाँसी की रानी' और 'काश्मीर का काँटा' में ऐतिहासिक पात्र हैं। इन सभी नाटकों के पात्रों में वीरता, निर्भयता, युद्ध-कौशल, कष्ट-सहिष्णुता, त्याग आदि गुणों का ही विकास प्रायः मिलेगा। अश्वतुङ्ग, बीरबल, अकबर, लक्ष्मीबाई, राजेन्द्रसिंह—सभी में किसी-न-किसी रूप में समानता पाई जायगी। इन नाटकों के पात्रों में चरित्र का विचित्रपन, दुविधा, अन्तर्द्वन्द्व, सघनता, आत्म वेदना और दानवीय यथार्थताएं कम ही देखने को मिलेंगी। पुरानी-चिर विश्रुत परम्परा और बनी-बनाई लकीर पर ही इनके ऐतिहासिक पात्र प्रायः बँधे-बँधे-से चलते हैं। वे सभी आदि से अन्त तक समान गुणों को लेकर चले हैं। उनमें परिस्थितियों की प्रेरणा और मानसिक संघर्ष से किसी विशेष रंग की चमक पैदा नहीं होती।

ऐतिहासिक नाटकों के पात्रों की भारी भीड़ में 'बीरबल' के जसवन्त और 'पूर्व की ओर' की धारा में अवश्य बहुत कुछ परिश्रम किया गया है—पर वे पात्र भी ऐसे नहीं कि चरित्र-वैचित्र्य में कोई लकीर खींच सकें। हाँ, वे अन्य पात्रों से भिन्न और नई रंगीनी लेकर अवश्य हमारे सामने आते हैं। 'पूर्व की ओर' में अश्वतुङ्ग का चरित्र बहुत विकसित किया जा सकता था। गोमती में भी नई जान डाली जा सकती थी, पर यह कुछ भी वर्मा जी न कर सके। कहीं-कहीं बीरबल के चरित्र में गम्भीर हास्य का प्रकाशन है। बीरबल में इससे नये प्राण आ गए हैं।

"अकबर—परन्तु नर-हत्या कोई-न-कोई तो करता ही रहेगा। मनुष्य आपस में बिना लड़े नहीं मानते। बचपन से बुढ़ापे तक यही होता रहता है।

बीरबल—(मुस्कराकर) जहाँपनाह बड़े परोपकारी हैं। दूसरों को मारने के प्रयास का कष्ट न करने देकर स्वयं पिल पड़ते हैं। आज आप काफी जानवरों को मार चुके हैं, अब आदमियों का शिकार शुरू कर दीजिए। आपने जिस जैन साधु को गुजरात से बुलाया है, वह आपके मन को बदलने के लिए कितनी दूर से पैदल आ रहा है। उसको जहाँपनाह यहाँ आते ही मार दें तो बड़ा नाम होगा और इतना आतंक फैल जायगा कि गाँवों के लोग आपकी किसी तरह की भी नकल नहीं उतारेंगे।"

'पूर्व की ओर' की धारा के चरित्र का विकास बहुत सुन्दर और स्वाभाविक हुआ है। वह जंगली लड़की धीरे-धीरे किस प्रकार अश्वतुङ्ग से प्रेम करने लगती है। यह दिखाने में वर्मा जी को सफलता मिली है। जंगली कठोर, निर्दय जीवन से प्रेम-आकुल कोमल-हृदय सभ्य नारी में उसका परिवर्तन एक सफल चित्रण है।

सामाजिक नाटकों के पात्रों में भी सघन, गहरे और प्रभावशाली रंग वर्माजी नहीं भर पाए। एक सफल और विख्यात उपन्यासकार वर्माजी, जिनसे चरित्रों के महान् निर्माण की आशा की जा सकती थी, अपने नाटकीय चरित्रों में कोई उल्लेखनीय बात पैदा नहीं कर पाए। 'राखी की लाज', 'बाँस की फाँस', 'सगुन', तथा 'पीले हाथ' में प्रायः सभी चरित्रों के ऊपरी स्तर की तस्वीरें हैं। पात्रों में घटनाओं या परिस्थितियों से कोई स्मरणीय नवीनता या विचित्रता नहीं आ पाई। ये सभी नाटक घटना-प्रधान होने से चरित्र की गहनता और गम्भीरता में निर्बल रह गए। 'बाँस की फाँस' के गोकुल और मंदाकिनी में अवश्य चरित्र की रंगीनी आ सकी है। परिस्थितियों के अनुसार उनका विकास भी सुन्दर है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'खिलौने की खोज' वर्माजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसके चरित्रों में एक प्रकार की घुटन है। उनमें धीरे-धीरे दम-घोट बेचैनी के अन्धकार से स्वस्थ और विश्राम के प्रकाश में आने का प्रयास है। डॉक्टर सलिल और सरूपा में चरित्र की बेबसी है। दोनों का बचपन का प्रेम पनप-कर हृदय के मरघट में ही सो गया; पर इसको न सलिल ही भूल सका और न सरूपा ही। बलपूर्वक उन पुरानी मधु-भीनी स्मृतियों को दबाना जीवन के स्वास्थ्य और शान्ति से खेलना है। यही हुआ भी।

सरूपा का खिलौना, केवल ने डॉक्टर सलिल के पास से चुरा लिया। सलिल क्षय से पीड़ित था। खिलौने की स्मृति उसकी आँखों में पिछली तस्वीरें बनकर आ गई। सरूपा ने जब उस खिलौने को अपने घर में देखा

तो उसकी बुरी अवस्था हो गई। सरूपा की अस्वस्थता, चिड़चिड़ापन, तीखापन, नीरसता—सभी का कारण थी वह पूर्व स्मृति। सलिल के रोग का कारण भी वही थी। इन दोनों चरित्रों में मनोवैज्ञानिक विकास भी है। अन्त में दोनों अपनी स्मृतियों का भार उतारकर स्वस्थ हो जाते हैं।

चरित्र-चित्रण के लिए पात्र के कार्य-कलाप, संवाद और अन्य पात्र के कथन—सभी का सहारा लिया गया है। 'खिलौने की खोज' में केवल सरूपा के विषय में और 'बीरबल' में हमीना और गोमती या ग्रामीण अकबर के विषय में जो-कुछ कहते हैं, वह उनके चरित्रों का उद्‌घाटन कर देता है।

कला का विकास

वर्मा जी के नाटकों का आरम्भ हिन्दी-नाटकों के विकास-युग में होता है। वर्मा जी ने जब नाटक लिखने आरम्भ किये, उनके सामने बीस वर्ष का विकसित हिन्दी-नाटक-साहित्य था। वर्मा जी के नाटकों में उलझन नहीं है। दृश्य-विधान सरल और सीधा है। प्राचीन नाटकों का प्रभाव देखने को नहीं मिलेगा। स्वगत, गर्भांक, विष्कम्भक आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। लेखक ने इस बात का भी सफल प्रयास किया है कि नाटकों में संघटित घटनावली हो। उपन्यासकार होने के कारण आकस्मिकता, कौतूहल-सम्पन्नता और अप्रत्याशितता भी पर्याप्त मात्रा में है। 'राखी की लाज' में चम्पा सहसा मेघराज को राखी बाँध देती है और चम्पा के पिता के घर पर डाका पड़ने के समय वह उसकी रक्षा करता है। दोनों घटनाएं दर्शकों के लिए काफी रोमांचक हैं। 'फूलों की बोली' में तो घटनावली की इतनी खासी भीड़ है कि दर्शक आश्चर्य, कौतूहल, और प्रसन्नता में डूब जाते हैं। बलभद्र का नारी रूप में आना। यज्ञ-कुण्ड से प्रकट होना, छुरी से आत्म-घात करने का प्रयत्न आदि पर्याप्त चमत्कारी घटनाएं हैं। 'बाँस की फाँस' में भी रेल-दुर्घटना आदि में काफी आकस्मिकता है। कार्य-व्यापार की दृष्टि से 'पूर्व की ओर' भी सबल नाटक है। पर उसमें जो समुद्री दृश्य, यान का बहना, डूबना, टूटना आदि दिये गए हैं, उनका रंगमंच पर दिखाया जाना असम्भव है।

घटनावली को इतना महत्त्व दिया गया है कि वे 'फूलों की बोली' में तो एक तमाशा-मात्र बनकर रह जाती हैं। बलभद्र का नारी-वेश में आना पारसी-रंगमंच की चालीस वर्ष पुरानी कला का नमूना है। इस प्रकार की कला बाल-मतिष्क के दर्शकों को ही प्रसन्न कर सकती हैं। फिल्मी

कला का भी वर्मा जी के नाटकों पर प्रभाव है। दृश्य के भीतर दृश्य दिखाना फिल्मों को अत्यन्त साधारण और रोचक बात है। इसी प्रकार के दृश्य के भीतर दृश्य वर्माजी ने भी अपने नाटकों में रखे हैं। 'बीरबल' के दूसरे अङ्क का तीसरा दृश्य, जिसमें ग्रामीण अकबर की नकल उतारते हैं, इसी प्रकार का दृश्य है। 'खिलौने की खोज' के तीसरे अङ्क का सातवाँ दृश्य भी ऐसा ही है। दृश्य-विधान में कहीं-कहीं विचित्र कठिनाइयाँ भी हैं, पर वे बहुत कम। 'राखी की लाज' के पहले अंक का छठा दृश्य इसी प्रकार के कई छोटे-छोटे दृश्यों का योग है। डाकू बालाराम के मकान के सामने की सड़क पर खड़े हो जाते हैं। तीन-चार आदमी अन्दर जाकर दरवाजा खोल देते हैं। अन्दर का दृश्य सामने आ जाता है। चम्पा और बालाराम दिखाई देते हैं। चाँदखाँ अपना दरवाजा खोलकर सड़क पर खड़े डाकुओं पर पिल पड़ता है। अपना घर खुला छोड़कर चम्पा के घर में आता है। इस दृश्य में तीन दृश्य—चम्पा का घर, सड़क और चाँदखाँ का घर—साथ-साथ दिखाये जाते हैं। रंगमंच पर तो इनका दिखाया जाना सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार पहले अंक का आठवाँ दृश्य भी है। दृश्य-विधान के सम्बन्ध में इतना और कह देना ठीक होगा कि 'पूर्व की ओर' का पहला अंक बिलकुल निरर्थक है। उसमें केवल अश्वतुङ्ग के देश-निकाले की भूमिका-मात्र है, जिसके लिए एक दृश्य ही पर्याप्त था।

सम्पूर्णता की दृष्टि से देखा जाय तो वर्मा जी के प्रायः सभी नाटक अभिनय के योग्य हैं। अनेक नाटक अभिनीत भी हो चुके हैं। दृश्य-विधान की सरलता, भाषा की उपयुक्तता और गतिशीलता, संवादों की संक्षिप्तता और औचित्य इनके नाटकों को अभिनय के उपयुक्त बनाने में अत्यन्त सहायक हैं। चरित्र-चित्रण की सघनता और उलझन में वर्मा जी कम उतरे हैं, इससे दर्शक को इनके नाटक समझने में कठिनाई नहीं होती। चरित्र-चित्रण या मनोवैज्ञानिक उलझनों को सुलझाने में प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा वर्मा जी अपने नाटकों को अभिनयोपयुक्त बनाने में अधिक सचेष्ट रहे हैं। वर्मा जी का यह भी प्रयास रहा है कि इनके नाटक जन-साधारण की पहुँच के बाहर न हों। भले ही इनके द्वारा किसी नवीन कला या टेकनीक का निर्माण नहीं हुआ, महान् चरित्रों की भी सृष्टि वर्मा जी नहीं कर सके; पर सर्वसाधारण के लिए इन्होंने अच्छे शिक्षाप्रद, अभिनयोपयुक्त नाटकों की रचना अवश्य की। यही वर्मा जी की सबसे बड़ी सफलता है। इनके नाटकों से हिन्दी-रंगमंच का साहस अवश्य बढ़ेगा—उसमें आत्म-विश्वास भी जाग्रत होगा।

: ११ :

भारतेन्दु-मण्डल

भारतेन्दु अपने युग के साहित्य-प्रेरक सर्व-प्रभावक व्यक्ति थे। भारतेन्दु की सशक्त, प्रकाशवान और गतिशील प्रेरणा ने सजग लेखकों का एक विशाल मण्डल तैयार कर दिया था। भारतेन्दु के समान ही भारतेन्दु-मण्डल के प्रायः सभी लेखकों ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को उर्वर बनाने की सफल चेष्टा की—उन्होंने विविध शैलियों और दिशाओं में साहित्य-सृजन किया। हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी श्री-वृद्धि का श्री गणेश इसी युग में हो गया। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, नाटक, पत्रकारिता आदि साहित्य के सभी अंग भारतेन्दु- मण्डल द्वारा समृद्ध किये गए। भारतेन्दु जी ने अपने गद्य की स्वरूप-प्रतिष्ठा नाटकों के माध्यम द्वारा की थी, इसलिए उनकी प्रेरणा ने नाटक-रचना को विशेष रूप से प्रभावित किया। इस युग में अनेक नाटककारों का उदय हुआ और पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम-सम्बन्धी, समस्या-प्रधान, समाज-सुधारक नाटक तथा प्रहसन—सभी की रचना हुई।

भारतेन्दु-युग भारतेन्दु जी के स्वर्गवास के पश्चात् ६०-७० वर्ष तक माना जा सकता है—विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने तक। इस युग में जितने भी नाटककार हुए, सभी को हमने भारतेन्दु-मण्डल में रखा है। मण्डल का तात्पर्य यह नहीं है कि जो साहित्य-मण्डल भारतेन्दुजी के जीवन-काल में उदय हुआ या जो भारतेन्दु जी के साहित्य-संगी थे, वे ही। जितने भी नाटककार भारतेन्दु जी से प्रभावित हुए या उनके जैसे ही क्षेत्रों से सामग्री ली, उनकी जैसी शैली में ही लिखते रहे, वे सभी भारतेन्दु-मण्डल में लिये गए हैं।

भारतेन्दु युग के नाटककारों को भारतेन्दु-मण्डल के नाम से पुकारना ही ठीक रहेगा। इस मण्डल या युग के प्रमुख लेखक हैं—बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र,

राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी तथा देवकीनन्दन त्रिपाठी।

पौराणिक कथाओं को लेकर इस युग में अनेक नाटकों की रचना हुई; पर उनमें नाटकीय तत्त्व बहुत कम रहा—कला का विकास भी उनसे न हो सका। 'सीता-हरण', 'रुक्मिणी-हरण' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'सीता वनवास' (ज्वालाप्रसाद मिश्र), 'उषा-हरण' (चन्द्र शर्मा), 'श्री दामा' (राधाचरण गोस्वामी), 'प्रह्लाद-चरित' (श्रीनिवासदास), 'दमयन्ती-स्वयंवर (बालकृष्ण-भट्ट) आदि नाटक लिखे गए। इनमें कोई भी रचना सफल नाटक का पद प्राप्त नहीं कर सकती। इनकी कथावस्तु में कौतूहल तथा कार्य-व्यापार आदि की कमी है। आदर्श चरित्रों को लेकर उपदेश देने का ही प्रयास इनमें पाया जाता है। चरित्र, धर्म और सभ्यता सम्बन्धी विचारों को संवाद रूप में कह दिया गया है, बस यही इनमें नाटकीयता मिलती है। भारतेन्दु की कला के विकास का इसमें तनिक भी आभास नहीं मिलता।

ऐतिहासिक नाटकों की ओर भी लेखकों ने पग बढ़ाया। इस काल में 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास), 'तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक' (काशीनाथ खत्री), संयोगिता-स्वयंवर (श्रीनिवासदास), 'अमरसिंह राठौर' (राधाचरण गोस्वामी), 'मीराबाई' (बलदेवप्रसाद मिश्र) आदि नाटकों की रचनाएं हुईं। प्रतापनारायण मिश्र के 'हठी हमीर' और बालकृष्ण भट्ट के 'चन्द्रसेन' का भी नाम इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में लिया जाता है; वे दोनों ही अप्राप्य हैं। ऐतिहासिक नाटकों में राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' अपने युग का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। वीर रस का इसमें बहुत ही अच्छा परिपाक हुआ है। युग का विचार करते हुए यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो इसके संवाद भी बहुत सफल स्फूर्तिमय, रसपूर्ण और सशक्त हैं। स्वगतों की भरमार इसमें अवश्य है। पद्य भी बहुत अधिक हैं। पर उस काल में नाटकों का इतना विकास नहीं हुआ था कि नाटककार इन अस्वाभाविकताओं से अपना पीछा छुड़ा सकता। 'अमरसिंह राठौर' भी बहुत अच्छी और सफल रचना है। इसमें प्रौढ़ता के लक्षण मिलते हैं। 'अमरसिंह' के संवाद उस काल के सफल, सशक्त और गतिशील नाटकों में गिने जायंगे। 'संयोगिता-स्वयंवर' बहुत ही निर्बल रचना है।

इस युग में जो देश-भक्ति-सम्बन्धी नाटक लिखे गए वे प्रायः सभी असफल और कला-विहीन हैं। 'भारत आरत' (खड्गबहादुर मल्ल), 'भारत-

सौभाग्य' (अम्बिकादत्त व्यास), 'भारत-सौभाग्य' (प्रेमघन), 'भारत-हरण' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'भारत-दुर्दशा' (प्रतापनारायण मिश्र), आदि नाटक इस युग की प्रसिद्ध रचना कही जा सकती हैं। इनमें कोई भी रचना नाटक की कोटि में नहीं आ सकती। न तो इनकी कथा-वस्तु ही शृङ्खलाबद्ध है, न पात्रों का चरित्र-चित्रण ही ठीक। रसानुभूति की भी इसमें अत्यन्त कमी है। किसी-किसी नाटक में पात्रों की भरमार है। देश-प्रेम के विचार पात्रों के मुख से कहला दिये गए हैं। इन रचनाओं के नामों से ही पता चलता है कि ये सभी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की नकल हैं। 'भारत', 'सौभाग्य देवी', 'दुर्भाग्य', 'दुःख', 'विनाश' आदि को पात्रों का रूप देकर नाटक का ढाँचा खड़ा करना कोई प्रशंसनीय और सफल कल्पना नहीं कही जा सकती। इन नाटकों के सभी पात्र और कथावस्तु कल्पित हैं।

समाज की जलती समस्याओं को भी इस युग के लेखकों ने अपने नाटकों के लिए चुना। प्रेम-सम्बन्धी नाटक भी पर्याप्त संख्या में लिखे गए। 'विवाह-विडम्बन' (तोताराम), 'विधवा-विवाह' (काशीनाथ खत्री) तथा 'दु:खिनी बाला' (राधाकृष्ण दास) आदि का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है। प्रेम-सम्बन्धी नाटकों में 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' (श्रीनिवास दास), 'मैं तुम्हारी ही हूँ' (सतीशचन्द्र वसु), 'प्रणयिनी-प्रणय' और 'मयंक मंजरी' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है। गतिशीलता की कमी होते हुए भी अन्य नाटकीय गुण इसमें पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। साधारण जीवन को लेकर नाटक लिखना और उसे युगानुकूल सफल बनाना प्रशंसनीय प्रयास है। इन प्रेम-सम्बन्धी नाटकों में घटनाओं का विकास स्वाभाविक न होकर, घटनाएं अकस्मात् घटती हैं। पुराने समय में यह अकस्मात् घटी घटनाएं इतनी अस्वाभाविक भी नहीं जान पड़ती थीं जितनी आजकल।

'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' लिखकर भारतेन्दु ने हिन्दी में प्रहसन लिखने का द्वार खोला। भारतेन्दु-युग में समाज-सुधार-सम्बंधी प्रहसन भी लिखे गए। 'एक एक के तीन तीन', 'कलयुगी जनऊ', 'बैल छे टके को' और 'सैकड़ों में दस दस' (देवकी नन्दन त्रिपाठी); 'जैसा काम वैसा परिणाम' (बालकृष्ण भट्ट); 'कलजुगी कौतुक' (प्रताप-नारायण मिश्र), 'बूढ़े मुँह मुहासे' और 'तन-मन-धन गुसाईं जी के अर्पण' (राधाचरण गोस्वामी) तथा 'चौपट चपेट' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इस युग के प्रहसनों में अनीति, दुराचार,

: १२ :

संक्रान्ति-काल

बद्रीनाथ भट्ट

भट्टजी हिन्दी के प्रतिभाशाली पत्रकार और विख्यात लेखक थे। प्रसाद जी से पहले आपने अपनी प्रसन्न और विनोदी लेखनी से सफल और रस-पूर्ण रचनाएं कीं। भट्टजी के सामने बहुत स्वस्थ और कलापूर्ण नाटक-साहित्य नहीं था, इसलिए नाट्य-कला का इतना विकास उनके नाटकों में भले ही न मिले, जितना बाद में आने वाले लेखकों की रचनाओं में मिलता है; पर तात्कालिक नाट्य-विकास की दृष्टि से देखा जाय, तो उनके नाटक अत्यन्त सफल और सुन्दर हैं। भट्ट जी ने पौराणिक, ऐतिहासिक काल से कथा वस्तु लेकर तो अपने नाटकों की रचना की ही, वर्तमान जीवन से सामग्री लेकर भी उन्होंने सुन्दर और उच्चकोटि के प्रहसन लिखे। 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' नामक प्रहसन सन् १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। 'कुरु-वन दहन' और 'चन्द्रगुप्त' १९१५ में निकले, 'वेन-चरित' १९२१, 'तुलसीदास' १९२५, 'दुर्गावती' १९२६ और 'मिस अमेरिकन' १९२८ ई० में प्रकाशित हुए।

'वेन-चरित' और 'कुरु-वन-दहन' पौराणिक नाटक हैं। 'चन्द्रगुप्त', 'तुलसीदास', और 'दुर्गावती' ऐतिहासिक और 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' तथा 'मिस अमेरिकन' प्रहसन।

'वेन-चरित' में राजा वेन के अत्याचारों का वर्णन है। 'कुरु-वन-दहन' 'वेणी-संहार' की कथा है। पर भट्टजी ने इस संस्कृत की कथा से अपने नाटक को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर रखा है। इसमें संस्कृत-नाट्य-कला के प्रभाव से भट्ट जी ने अपने को पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया है। और अंग्रेजी ढङ्ग के अङ्कों में इसे बाँटा गया है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य, राक्षस, चन्द्रगुप्त—सभी ऐतिहासिक पात्र हैं, पर न तो उनका चरित्र-चित्रण ही ठीक हुआ, न उनमें

अपने युग की गम्भीरता ही आ पाई और न नाटक में वह वातावरण ही उप-स्थित हो सका। पात्रों के चरित्रों और वार्तालाप में हल्कापन है। पात्र मजा-किया अधिक हो गए हैं। 'तुलसीदास' में 'रामचरित मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास का जीवन है। पर वह ऐतिहासिक आधार पर इतना नहीं, जितना किंवदन्ती पर निर्भर है। विस्मय-जनक असम्भव घटनाओं से पूर्ण है।

'दुर्गावती' में गोंडवाने की भारत-विख्यात महाराणी दुर्गावती की वीरता, दृढ़ता, युद्ध-कौशल, देश-भक्ति और स्वाधीनता-प्रियता का मनोहर चित्रण हुआ है। भट्ट जी के सभी ऐतिहासिक नाटकों में दुर्गावती सर्वश्रेष्ठ है। इसमें चरित्रों का विकास भी खूब हुआ है। घटनाएं भी अधिकतर स्वाभाविक और ऐतिहासिक हैं। कथा में प्रवाह है; भाषा में ओज और प्रवाह है। संवाद चुस्त चलते हुए, गतिशील और अवसर तथा चरित्रों के अनुरूप हैं। पद्यात्मक संवाद इसमें भी हैं—ये तो भट्ट जी के प्रायः सभी नाटकों में हैं। काल-क्रम की दृष्टि से भी यह नाटक भट्ट जी की अन्तिम रचना है—'मिस अमेरिकन' को छोड़कर। इसलिए इसमें भट्ट जी की कला का विकास भी खूब हुआ है। यह नाटक बड़ी सरलता से अभिनीत भी किया जा सकता है।

'चुङ्गी की उम्मीदवारी', 'विवाह का विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन' भट्ट जी के प्रहसन हैं। पहला प्रहसन तो १६१२ ई० में लिखा गया था, श्री-वास्तव का 'उलट फेर' प्रकाशित हुआ था सन् १६१८ ई० में;तो भी दोनों के हास्य में कितना अन्तर है। भट्ट जी उस युग में भी सामाजिक व्यंग्य लिखने की बात सोच सकते हैं। चुङ्गी का चेयरमैन या सदस्य बनना उन दिनों काफी महत्त्व रखता था और इसकी उम्मीदवारी में लोग क्या-क्या ऊटपटाँग काम करते, कैसे अपना धन लुटाते और वोट के लिए गिड़गिड़ाते थे यह सब इस प्रहसन में प्रकट है। 'विवाह-विज्ञापन' में एक बूढ़े की विवाह-लालसा का व्यंग्यात्मक खाका खींचा गया है। बूढ़े का विवाह एक बनावटी वधू से हो जाता है और वह हाथ मल-मलकर पछताता है। 'मिस अमेरिकन' में हास्य इतना नहीं, जितनी पश्चिमी सभ्यता की खिल्ली उड़ाई गई है। आज शायद उस पर कोई हँसे भी नहीं।

जिन दिनों भट्ट जी हास्य लिख रहे थे, उन दिनों हिन्दी में हास्य था ही कहाँ। भारतेन्दु ने जो सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य की परम्परा डाली, वह आगे चल ही नहीं सकी थी। उनके बाद वह नष्ट-प्रायः ही हो गई थी। उनके बाद भट्ट जी और श्रीवास्तवजी ही हास्य-लेखकों के रूप में सामने

आते हैं। भट्टजी का हास्य काफी परिष्कृत है, वह केवल भद्दी स्थितियाँ उत्पन्न करके नहीं हँसाते, केवल शब्दों में ही वह हास्य उत्पन्न नहीं करते, स्वाभाविक चरित्र-वैचित्र्य और अर्थ में भी वह हास्य प्रदान करते हैं।

सुदर्शन

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक श्री सुदर्शन ने हिन्दी में अनेक नाटक तथा प्रहसन भी लिखे। सुदर्शन जी प्रेमचन्द-युग के कहानी-लेखक और प्रसाद-युग के नाटककार हैं। 'दयानन्द' (१९१७ ई०) इनका ऐतिहासिक नाटक है, 'अंजना' (१९२२ ई०) पौराणिक और 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२२ ई०) प्रहसन है। 'दयानन्द' आर्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन की कथा लेकर लिखा गया है। यह चरित्र-प्रधान नाटक है। घटनाओं की शृङ्खला भी इसमें अच्छी है। पद्यात्मक संवाद भी हैं। नाटक में दयानन्द का कष्ट-सहिष्णु और तपस्वी जीवन दिखाया गया है। 'अंजना' में महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्रराय की पुत्री अंजना और राजा प्रह्लाद विद्याधर के पुत्र पवन की प्रेम-कथा दी गई है। दोनों का विवाह हो जाता है। पवन विवाह से पूर्व अंजना को देखना चाहता है। अंजना की एक सखी के व्यंग्य के कारण बारह वर्ष तक उसे न देखने की प्रतिज्ञा करता है। रावण-वरुण-युद्ध में वह वरुण की सहायता को जाता है और छिपकर अपने मित्र प्रहसित के कहने से दो दिन अंजना के पास ठहर जाता है। अंजना गर्भवती हो जाती है और कलंकित कही जाकर अपनी सास द्वारा निकाल दी जाती है। माँ भी उसे नहीं रखती। वह अपनी सखी के साथ वन में जाती है। वहीं हनुमान का जन्म होता है। अन्त में अंजना की निष्कलंकता प्रकट हो जाती है। नाटक सुखांत है। कहीं-कहीं संवाद लम्बे हैं—भावुकता भी खूब है। कथावस्तु काफी उलझन भरी है। पर नाटक सफल है।

'आनरेरी मजिस्ट्रेट' एक बहुत सफल प्रहसन है। अपढ़ मैजिस्ट्रेट किस प्रकार न्याय का गला घोंटते हैं और पैसा कमाने के लिए कानून का कचूमर निकालते हैं, यह इस प्रहसन में अच्छी प्रकार दिखा दिया गया है। सुदर्शन जी हास्य की स्थितियों की रचना करने में अत्यन्त पटु हैं। सामाजिक इसका अभिनय देखते हुए हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायंगे। इसकी भाषा बोल-चाल की हिन्दी है। उर्दू का इधर-उधर पुट भाषा में और भी जान डाल देता है। इसका अभिनय अत्यन्त सफलता से किया जा सकता है।

'धूप-छाँह' सम्भवत: १९५० में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशित होने से पूर्व ही इसी नाम से फिल्म भी बन चुकी थी। उसी फिल्म को सुदर्शन जी ने नाटकीय रूप दे दिया है। इसमें भी कथानक में कमाल का कौतूहल, नाटकीयता और रहस्य-ग्रंथि है। एक धनी के बालक को उसके सम्बन्धी किस प्रकार उठाकर ले जाते हैं और जङ्गल में छोड़ आते हैं, वह एक अंधे साधु के हाथ पड़ जाता है अन्त में सारे रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। इस नाटक में स्थितियों और घटनाओं की सुन्दर पकड़ है। दर्शक देखे जायगा। कौतूहल और रुचि अन्त तक बनी रहेगी। चरित्र-चित्रण का अभाव इसमें अवश्य खटकता है।

सुदर्शन जी प्रसिद्ध फिल्म लेखक हैं। इनके अनेक फिल्म बड़ी सफलता से अनेक सिनेमाघरों में चल चुके हैं। इसलिए घटनाओं और स्थितियों को अत्यन्त गठित रूप से कथानक की माला में पिरोने की प्रतिभा सुदर्शन जी में है; पर इनके नाटकों मे गम्भीर प्रभाव, चरित्र की विचित्रता, मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, जीवन के विश्लेषण आदि का अभाव रहता है। वैसे इनके नाटक साहित्य और रंगमंचीय कला का अच्छा सामंजस्य करते हैं।

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

जी० पी० श्री वास्तव हिन्दी में जन-साधारण के लिए उथले दर्जे का हास्य लिखने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक समय था, जब इनकी पुस्तकों की हिन्दी-पाठकों द्वारा बड़ी माँग थी। 'लतखोरीलाल' नामक हास्य-रस का एक उपन्यास भी इन्होंने लिखा। हास्य-नाटकों (प्रहसनों) का तो श्री-वास्तवजी ने हिन्दी में खासा ढेर लगा दिया। 'उलट-फेर' (१९१८ ई०), 'दुमदार आदमी' (१९१९ ई०) 'गड़बड़-झाला' (१९१९ ई०) 'मरदानी औरत' (१९२०) 'भूल-चूक' (१९२०) और 'बेसूँड का हाथी' इनके मौलिक प्रहसन हैं। मौलिक प्रहसन लिखने के अतिरिक्त श्रीवास्तव जी ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी हास्य-लेखक मौलियर के नाटकों का अनुवाद भी किया। 'मार-मारकर हकीम', 'आँखों में धूल', 'नाक में दम', 'साहब बहादुर' और 'लाल बुझक्कड़' अनुवाद हैं।

श्रीवास्तव के प्रहसनों का हास्य बहुत ही निम्न कोटि का है। भोंडी मजाकें छिछले संवाद, बेतुके व्यंग्य, अशिष्टता और अश्लीलता इनके प्रहसनों की विशेषताएं हैं। अनेक स्थलों पर तो लगता है नक्कालों का अभिनय हो रहा है। इनका हास्य शब्दों में अधिक अर्थ में कम होता है। चरित्र और स्वाभाविक कथा-विकास का हास्य इनकी रचनाओं में नहीं बल्कि घटनाएं

निर्मित की जाती हैं हँसाने के लिए। इनका हास्य घटना-प्रधान है। ऐसी स्थिति की यह कल्पना करते हैं कि हँसी तो बहुत आती है, पर उसका स्थायी भाव नहीं रहता; जैसे कहीं किसी को भय से खाट के नीचे घुसा देंगे या भूल से कोई आदमी बाल सफा साबुन से स्नान कर लेगा और उसकी मूँछें और सिर के बाल साफ हो जायँगे और ऐसी स्थिति पर दर्शकों को हँसी आ ही जायगी। इनकी रचनाओं में न तो वैयक्तिक और न सामाजिक या राजनीतिक व्यंग्य मिलेगा। जीवन में प्रभाव डालने वाले व्यंग्य के दर्शन-दुर्लभ हैं।

इनकी भाषा चलती हुई, चुस्त और उर्दू का हल्का प्रभाव लिये हुए है। वह हास्य के उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। अनुवादों में इन्होंने काफी स्वतन्त्रता बरती है। मौलियर का हास्य कम ही रह गया है और इनका अपना हास्य अनुवादों में अधिक आया है। साधारण, अपढ़, नौकर आदि पात्रों से पूर्वी भाषा का प्रयोग कराया है। यह आम पाठकों का रस-भंग करने वाली बात है। फिर भी जिस युग में ये प्रहसन लिखे गए, उन दिनों हिन्दी में हास्य का अभाव था, इन्होंने कम-से-कम पाठकों का मनोरंजन तो किया और अन्य लेखकों के सामने कुछ उपस्थित तो किया। आजकल के लेखक इसे शुद्ध, परिष्कृत, और सुरुचि-सम्पन्न बना सकते हैं।

: १३ :

फुटकर

बेचन शर्मा उग्र

उग्रजी ने 'महात्मा ईसा' (१६२२) और 'गंगा का बेटा' (१६४०) दो नाटक लिखे। 'महात्मा ईसा' प्रसाद की सांस्कृतिक गंगा की ही एक धारा है—यह भी भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक स्फुलिंग है। ईसा के चरित्र में अतिमानवता, अहिंसा, शान्ति, विश्व-प्रेम, जन-कल्याण आदि की दिव्य भावनाएं कूट-कूटकर भरी हैं। वह इस विश्व में मानवता और करुणा का सन्देश लेकर आता है।

'महात्मा ईसा' ऐतिहासिक सत्य है। पर इतिहास का इसमें केवल आधार-मात्र ही है, उसका पूर्ण निर्वाह नहीं। इसके अतिरिक्त ईसा के जीवन के विषय में बहुत-सी बातें ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक श्रद्धा के पेट से ही उत्पन्न हुई हैं, इसलिए इतिहास की सचाई का निर्वाह इसमें होना कठिन है। बहुत-से लोगों का मत है कि ईसा भारत में आये थे—यहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का उन पर प्रभाव पड़ा। इसी विश्वास को आधार मानकर लेखक ने पहले ही दृश्य में उनका काशी में प्रवेश करा दिया है। विवेकाचार्य से वह शिक्षा ग्रहण करते हैं,पर यह विवेकाचार्य भी तो प्रतीक-नाम ही है।

वैसे नाटक चरित्र-प्रधान है, तो भी इसमें चरित्रों का उत्थान-पतन विकास-ह्रास नहीं मिलता। ईसा के जीवन में द्वन्द्व नहीं है—दुविधा नहीं है। वह आदर्श चरित्र है—प्रतिमानव है। इसी प्रकार 'महात्मा ईसा' की शान्ति—प्रायः निष्क्रिय और अन्तर्द्वन्द्वहीन है—सीधी, सरल, आदर्श मार्ग पर चलने वाली। नाटक में भाषा का प्रौढ़ रूप मिलता है। उसमें प्रवाह, चुस्ती, गति-शीलता, प्रभावोत्पादकता—सभी कुछ गुण हैं। नाटक में जीवन के हास-विलास, शृङ्गार-सजावट भी पर्याप्त मात्रा में है। 'यदि सौन्दर्य भोजनीय

होता' और 'मारे प्रेम के भूख लगने लगती है' व्यंग्य के छींटे भी इसमें मिलेंगे।

अभिनय-कला और रसानुभूति दोनों ही दृष्टियों से 'महात्मा ईसा' एक सुन्दर और सफल रचना है। कहानी में सम्बन्ध-निर्वाह मिलेगा। नाटक में गतिशीलता और आकस्मिकता भी पाई जाती है। संवाद बड़े सजीव और सशक्त हैं। स्वगत का व्यवहार बहुत ही कम स्थलों पर किया गया है। नाटक में उछल-कूद, चीखना-चिल्लाना नहीं पाया जाता। जिस युग में यह नाटक लिखा गया, वह युग पारसी-कम्पनियों का था। उनके प्रभाव से लेखक बहुत कुछ बचा है; गीतों आदि में उनका प्रभाव स्पष्ट है।

'महात्मा ईसा' पर चारित्रिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति और गांधीवाद का प्रभाव है ही, अपने युग की देश-भक्ति और राष्ट्रीय चेतना के रङ्ग भी जहाँ-तहाँ भरे मिलते हैं। "मेरा पुत्र स्वदेश पर बलिदान चढ़ने के लिए तैयार हो रहा है। कैसा गौरवमय संवाद है मरियम सोचो तो।"—जोसेफ आगर के ये वचन राष्ट्रीय चेतना के ही प्रतीक हैं।

"स्वाधीन हमारी माता है।"
"है प्राण प्यारा सुदेश हमारा।"
"जय उदार, सृष्टि-सार स्वर्ग-द्वार देश।
पुण्यमय स्वदेश।"

आदि गीतों से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का उत्साह और उल्लास भरा रूप प्रकट होता है।

"प्रेम की माला हो संसार।
देखा प्रेममय संसार।"

उपर्युक्त गीतों से हिन्दू-मुस्लिम-एकता का परिचय तो मिलता ही है, गांधीजी का विश्व-प्रेम भी छलका पड़ता है।

'गंगा का बेटा' में भीष्म-प्रतिज्ञा की कथा है। नाटक पौराणिक है। यद्यपि यह अठारह वर्ष बाद लिखा गया है, फिर भी इसमें उल्लेखनीय कोई बात नहीं। 'चार बेचारे' उग्रजी के चार प्रहसनों का अच्छा संग्रह है। इसमें हास्य और व्यंग्य का मसाला पर्याप्त मात्रा में है।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

'मिलिन्द' जी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक से 'मिलिन्द' जी एक प्रतिभाशाली नाटक-

कार के रूप में प्रकट हुए। आज तक इसी के बल पर वह हिन्दी-नाटक-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय व्यक्तित्व हैं। 'प्रताप प्रतिज्ञा' सामन्ती युग के वीरता, देश-प्रेम, बलिदान, शौर्य और कुलाभिमान का सफल चित्र है। लेखक ने कहानी को बहुत सशक्त, गुम्फित, गतिशील और प्रभावशाली बनाने में अत्यन्त सफलता प्राप्त की है। हृदय को छूने वाली साथ ही नाटकीय महत्त्व को प्रकट करने वाली घटनाओं की इस नाटक में शृङ्खला है। चरित्रों में वही सामन्ती युग का अहं, वही आदर्शवादी नैतिकता, वही बलिदान की निस्वार्थ भावना है।

शक्तसिंह का भातृ-द्वेष और अंत में प्रतापसिंह के चरणों पर गिरकर पश्चाताप करना बहुत ही हृदय-द्रावक घटना है। दोनों भाइयों के पारस्परिक वैमनस्य की आग बुझाने के लिए कुल-पुरोहित की आत्म-हत्या एक अलौकिक बलिदान है। मेवाड़ छोड़ते हुए भामाशाह द्वारा अपनी समस्त सम्पत्ति का प्रताप के चरणों में समर्पण दिव्य त्याग है। नाटक में घटनाओं का चुनाव बहुत प्रभावशाली और कार्य-व्यापार को बढ़ाने वाला है। स्वच्छ, शुद्ध, सशक्त और अवसरोचित भाषा का व्यवहार है। तत्कालीन नाटकों में हम इस प्रकार के गुण कम ही पाते हैं। राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव स्पष्ट है। प्रताप राज्य-सिंहासन ग्रहण करते हुए प्रतिज्ञा करता है, "भवानी तू साक्षी है। जनता जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में तन-मन-धन सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ—कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा, और तृणों पर सोऊँगा।"

इसका आरम्भ और अंत दोनों ही नाटकीय दृष्टि से बहुत प्रभावशाली और उत्तम हैं। 'मिलिन्द' जी ने दूसरा नाटक 'समर्पण' लिखकर सामाजिक नाटक लिखने की ओर पग बढ़ाया। यह १९५० ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें कुछ युवक-युवतियाँ जन-सेवा का व्रत लेते हैं और विवाह न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। नाटक में विवाह-समस्या पर अच्छी बहस की गई है। परिस्थितिवश माधवी-विनोद, राजेन्द्रसिंह-माया का विवाह हो जाता है। पर इला और नवीन अंत तक दृढ़ता दिखाते हैं; पर अंत में नवीन अपने हृदय के नीचे बहती प्रेम-सरिता की लहरों को सँभाल नहीं पाता और इला से अपने प्रेम का प्रकाशन कर देता है, "वही चिन्तन अन्तर्द्वन्द्व जो आदि काल से मानव के हृदय में आदर्श और प्रेम के बीच, साधना और स्नेह के बीच, होता आया है। मेरी जगह यदि कोई और नवयुवक होता तो कभी का तुमसे

यह प्रस्ताव कर बैठता कि तुम मेरा प्रेम स्वीकार करो—मुझसे विवाह करके मुझे कृतार्थ करो।" इला फिर भी दृढ़ है। अंत में नवीन पुलिस की गोली का शिकार होकर प्राण त्यागता है, तब इला अपने हृदय में यत्न पूर्वक दबाकर रखी हुई प्रेम की वेदना का अनुभव करती है। वह कहती है,"अब मैं अपनी दुर्बलता न छिपाऊँगी। मैं आज निस्संकोच होकर कहना चाहती हूँ कि मैं शहीद नवीनचन्द्र की विधवा हूँ। मैं आज प्रेम को पुनः पुनः-अपना समर्पण घोषित करती हूँ, विवाह को अपना समर्पण घोषित करती हूँ, सम्पूर्ण और बिना शर्त समर्पण! और इस समर्पण पर आज मैं गौरव अनुभव कर रही हूँ।"

नारी इस नाटक में ही स्थान-स्थान पर बहुत ही स्वाधीन चिंतक, निर्भय और सशक्त होकर आई है।

'समर्पण' के द्वारा लेखक ने विवाह की अनिवार्यता सिद्ध की है। नवीन-इला, राजेन्द्र-माया, विनोद-माधवी—तीन जोड़े भी बना दिए गए हैं। पर नाटक में परिस्थितियों का विकास नहीं है। कथावस्तु भी शक्तिशाली या गुम्फित नहीं। हाँ, विचारों की दृष्टि से नाटक सम्पन्न है। अभिनय की दृष्टि से सभी दृश्य सरल हैं। उनका विधान भी अच्छा है। निर्माण में कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न हो सकती। नाटक में केवल तीन अंक हैं और प्रति-अङ्क में चार दृश्य। आकार में भी यह बहुत छोटा है। भाषा साहित्यिक शुद्ध, स्वच्छ और भावोत्पादक है। लेखक ने अठारह वर्ष बाद यह नाटक लिखा है, इसलिए बहुत-सी निर्बलताएं आ जाना स्वाभाविक है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

चन्द्रगुप्त जी के दोनों नाटक—'रेवा' और 'अशोक'—प्रसाद की प्रभाव-परिधि में ही आयंगे। प्रसाद के नाटक वस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक होते हुए भी सांस्कृतिक हैं। 'अशोक' और 'रेवा' दोनों ही नाटक ऐतिहासिक हैं, पर इनमें भी प्राचीन संस्कृति का वृहत् चित्र है। चन्द्रगुप्त के जीवन में गुरुकुलीन शिक्षा का सांस्कृतिक प्रभाव भी है और पंजाब की रंगीनी की भी चमक है। इसी कारण इनके दोनों नाटकों में कल्पना का रंग-बिरङ्गापन भी मिलेगा और सांस्कृतिक चित्र भी। सांस्कृतिक दृष्टि से चन्द्रगुप्त जी प्राचीन गम्भीर बौद्धकालीन वातावरण अपने 'अशोक' में उपस्थित न कर सके। इन दोनों ही नाटकों में सांस्कृतिक गाम्भीर्य, गहनता, विशालता और महानता के वे चित्र, जो 'प्रसाद' में हैं, खोजने पर निराश

ही होना पड़ेगा। हाँ, वर्तमान रंगीन वातावरण और जीवन के चित्र ही अधिक मात्रा में मिल जायंगे। चन्द्रगुप्त जी के नाटकों में महान् सृजन या गहन जीवन-विश्लेषण मिलना दुर्लभ है। सशक्त और अन्तर्भेदी दृष्टि का भी इनमें अभाव है।

'अशोक' और 'रेवा' दोनों की ही कथावस्तु में जटिलता है। पर चरित्र-चित्रण में लेखक को सफलता मिली है। 'अशोक' में कल्पना का प्राधान्य होने पर भी ऐतिहासिकता 'रेवा' से अधिक मिलेगी। 'रेवा' का केवल आधार ही ऐतिहासिक है, शेष सभी ढाँचा काल्पनिक है। 'अशोक' में भी अनैतिहासिक बौद्ध ग्रन्थों की कपोल-कल्पित बातों को ही आधार मान लिया गया है।

वातावरण की दृष्टि से चन्द्रगुप्त जी करुण वातावरण उपस्थित करने में अत्यन्त पटु हैं। वह एक तो प्रतीक-पात्रों की सृष्टि करके और दूसरे सांकेतिक दृश्य उपस्थित करके करुणा की धारा बहा देते हैं। 'अशोक' में आरम्भ के कई दृश्य केवल करुणा का धुँधलापन छा देने के लिए ही हैं। अशोक द्वारा चण्डगिरी को सुमन के वध की आज्ञा दिया जाना और चील का हल-हलकर उड़ते दिखाई देना, वातावरण को अत्यन्त आतंककारी बना देता है—भय से रोमांच खड़े हो जाते हैं। सुमन के वध का दृश्य भी हृदय-विदारक है। 'रेवा' में भी सघन और करुणा के धुँधले बादल मँडरा रहे हैं। वातावरण के लिए अलौकिकता से भी यह सहायता लेते हैं जैसे 'अशोक' में कापालिक की भविष्य-वाणी और 'रेवा' में पुजारी की।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से शीला (सुमन की प्रस्तावित पत्नी), चण्डगिरी (अशोक का सेनापति) और अशोक शक्तिशाली चरित्र हैं। चण्डगिरी दानव और रक्त-पिपासु होते हुए भी मानवता की अन्तर्धारा से गीला है और शीला अन्तर्द्वन्द्व की चपेटों में छटपटाती एक मुग्धा नारी। अशोक महत्त्वाकांक्षा का सबल प्रतीक है। 'रेवा' में रेवा का करुणा-सिक्त कोमल व्यक्तित्व बहुत ही प्यारा है और यशोवर्मा का सरल शीलवान चरित्र भी बहुत प्यारा लगता है।

चन्द्रगुप्त जी ने नाटकों में टैकनीक के नये प्रयोग भी किये हैं; पर वे प्रयोग रंगमंच पर काफी गड़बड़ उत्पन्न करेंगे। अन्तर्दृश्य (दृश्य के भीतर दृश्य) फिल्म में तो सफलतापूर्वक दिखाया जा सकता है, पर रङ्गमंच पर उसका दिखाया जाना सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'रेवा' का प्रथम दृश्य भी असम्भव है। एक टूटे हुए विशाल जल-पोत का सागर के वक्ष पर तैरते हुए दिखाया जाना रङ्गमंच पर तो असम्भव है। कई दृश्य 'अशोक' में भी व्यर्थ हैं और 'रेवा' में भी। उनको निकालकर भी नाटक स्वस्थ और पूर्ण रह सकते हैं। 'अशोक' से अधिक 'रेवा' में लेखक सफल हुआ है।

: १४ :

रंगमंचीय नाटककार

माधव शुक्ल

श्री माधव शुक्ल का नाम हिन्दी-रंगमंच के निर्माण और उसकी उन्नति के क्षेत्र में अत्यन्त गौरव और श्रद्धा से लिया जाता है। इन्होंने प्रयाग, लखनऊ, जौनपुर, कलकत्ता आदि नगरों में घूम-घूमकर हिन्दी-रंगमंच की स्थापना के लिए अनथक परिश्रम किया था। कलकत्ता में आज भी इनके द्वारा स्थापित अव्यवसायी नाटक-समाज जीवित है और उसके द्वारा अनेक साहित्यिक नाटक अभिनीत होते रहते हैं। इन्होंने समाज में अभिनय की रुचि और अभिनेताओं के सम्मान को भी जगाया। इन्होंने स्वयं भी दो नाटक—'सीय-स्वयंवर' और 'महाभारत पूर्वार्ध'—लिखे। दोनों नाटक रंगमंच और साहित्य की दृष्टि से अच्छे हैं। इनका कार्य-काल सन् १८९५ से १९२० तक समझना चाहिए। 'सीय-स्वयंवर' और 'महाभारत' इन दोनों नाटकों का अभिनय भी कई बार किया गया।

आगा हश्र कश्मीरी

नाटक-मण्डलियों के युग में आगा हश्र सबसे प्रसिद्ध नाटककार रहे। यह 'न्यू एलफ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी' में नाटक-लेखक थे। यह कुशल अभिनेता भी थे। इसीलिए इनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से अपने युग की सर्वप्रिय रचनाएं रहे। उर्दू में इनके लगभग १६ नाटक हैं। शेक्सपीयर के नाटकों के अनुवाद भी इन्होंने किये। लेकिन अनुवाद में घटनाएं और उनके ढाँचे तक बदल डाले गए हैं। हिन्दी में भी इन्होंने पूरी सफलता से 'सूरदास' 'गंगा अवतरण', 'वनदेवी', 'सीता-वनवास', 'मधुर मुरली', 'श्रवणकुमार', 'धर्मी-बालक', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', 'आँख का नशा' इत्यादि नाटक लिखे। हश्र का अधिकार उर्दू और हिन्दी पर समान रूप से था। उनके हिन्दी के नाटकों में भी भाषा का वही ओज, वही प्रवाह, वही चलतापन, वही भावमयता और वह सशक्तता मिलती है, जो उर्दू में।

हश्र अपने समय के सबसे अधिक प्रतिभाशाली नाटककार थे। घटनाओं की योजना, कथा का प्रवाह, कौतूहल, विस्मय और रसपरिपूर्णता इनके नाटकों में पूरी-पूरी मात्रा में है। इनके नाटकों की घटनावली आदि से दर्शक मुग्ध हो जाता है। वे एक-दूसरे से ऐसी सम्बद्ध होती हैं कि एक शृङ्खला बन जाती है। इनके नाटकों में नाटकीयता (आकस्मिकता) खूब पाई जाती है। चरित्र-चित्रण भारतीय नाट्य-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार होता है। सज्जन और दुर्जन दोनों के चरित्र अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए होते हैं। हर पात्र अपने वर्ग का चरम विकास होता है। सत् और असत् का संघर्ष इनके नाटकों की विशेषता है। वह संघर्ष भी इतना कसा हुआ रहता है कि दर्शक साँस रोककर अनेक घटनाएं देखता है। वह रोमांचित होता है, शठ-नायक से उसका विरोध और नायक से उसकी सहानुभूति बड़ी तीव्र मात्रा में हो जाती है।

संवाद जोशीले, रसपूर्ण, चलते हुए, प्रवाहयुक्त और सशक्त होते हैं। पद्य-संवाद इनके प्रत्येक नाटक में मिलेंगे। स्वगत भी रहता है। पारसी-रंगमंच के युग की सभी विशेषताएं इनके नाटकों में पाई जाती हैं। उस युग के नाटकों की कथावस्तु में सबसे बड़ा दोष यह होता था कि प्रधान कथा के बीच में ही एक स्वतंत्र कथा चलती थी। कभी-कभी उसका तनिक भी संबंध नाटकीय कथा से नहीं होता था। यह दोष इनके भी नाटकों में मिलता है। कभी-कभी हास्य का समावेश नाटक में करने के लिए पौराणिक नाटकों में आधुनिक जीवन की मज़ाकिया कहानी भी जोड़ दी जाती थी, यह भी दोष इनके नाटकों में है। हास्य भी कुछ स्थलों पर भौंडा और छिछले ढंग का होता था। इससे सुरुचिपूर्ण दर्शकों को वह बहुत खटकता था।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि आगा हश्र अपने युग के रंगमंचीय नाटककारों के शिरोमणि थे। उर्दू-नाटकों के साथ ही हिन्दी-नाटक भी यह पारसी-स्टेज पर लाये और समान सफलता के साथ। पौराणिक, ऐतिहासिक, और आधुनिक सभी प्रकार के नाटक इन्होंने पूरी-पूरी सफलता से लिखे। हश्र रंगमंच के गौरव थे।

राधेश्याम कथावाचक

राधेश्याम कथावाचक उत्तर भारत के गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सीधी-सादी बोल-चाल की हिन्दी में रामायण की रचना की। एक युग था,

जब इनकी रामायण नगर-नगर में बाँची जाती थी। यह स्वयं बहुत सफल, मधुर और प्रभावशाली कथावाचक रहे हैं। हिंदी को रङ्गमंच पर लाने का श्रेय इनको भी है। इन्होंने अपने नाटकों के लिए पौराणिक जीवन-क्षेत्र चुना। 'न्यू एलफ्रेड, सूर-विजय, कोरंथियन, ग्रेट शाहजहाँ, आदि कम्पनियों के लिए इन्होंने अनेक हिन्दी-नाटकों की रचना की। राधेश्याम जी का सबसे पहला नाटक 'वीर अभिमन्यु' है। यह सन् १९१४ में 'न्यू एल्फ्रेड' के लिए लिखा गया था। उसी वर्ष इसका अभिनय भी किया गया। नाटक बहुत सफल रहा और यह सबसे पहला हिन्दी-नाटक है, जिसका अभिनय पारसी-स्टेज पर हुआ। इसलिए हिन्दी को पारसी-रङ्गमंच पर लाने का सर्व प्रथम श्रेय राधेश्याम जी को ही मिलना चाहिए।

'वीर अभिमन्यु' के अतिरिक्त उन्होंने 'परिवर्तन','मशरिक की हूर','कृष्णावतार','रुक्मिणी मङ्गल','श्रवणकुमार','ईश्वर भक्ति','भक्त प्रह्लाद', 'द्रोपदी-स्वयंवर','उषा-अनिरुद्ध','वाल्मीकि', 'शकुन्तला' तथा 'सती पार्वती' इत्यादि नाटक लिखे। राधेश्यामजी के नाटकों से पहले पारसी-रङ्गमंच पर अश्लील भद्दे, अर्थशून्य और शिक्षाहीन नाटकों का ही प्रचलन था। दर्शकों की रुचि इतनी बिगड़ चुकी थी कि अच्छे नाटकों को अवसर ही नहीं था। राधेश्यामजी ने इस स्थिति को बदला। दर्शकों में सुरुचि उत्पन्न की। अपनी प्रतिभाशाली लेखनी से धार्मिक, शिक्षाप्रद, सुरुचिपूर्ण और उच्च कोटि के रङ्गमंचीय नाटक प्रसूत किये। इनके सभी नाटक सफल रहे—'अभिमन्यु' ने विशेष रूप से ख्याति प्राप्त की।

राधेश्याम के नाटकों में भी अनिमानवीयता, आश्चर्यजनक घटनाओं का अपने-आप घट जाना, चरित्र की अतिवादिता आदि हैं। सभी चरित्र अपने गुणों—दुर्गुणों के चरम विकसित रूप हैं। अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। दुष्ट इतना दुष्ट कि दर्शकों को उस पर क्रोध आने लगे और सज्जन इतना आदर्शवादी कि उसका तनिक भी कष्ट देखकर दर्शक आँसू भर लाएं। दुष्ट और सज्जन पात्रों का सघन संघर्ष भी इनके नाटकों में है। पारसी-रङ्गमंच की हास्यास्पद भूलें भी इनके नाटकों में मिल जायंगी। जरा देर में पात्र रो रहा है और जरा देर में गाने लगता है। स्वगत और पद्यात्मक संवाद तो भरे पड़े हैं। गीतों की भरमार भी मिलेगी, ये सभी दोष उस युग के नाटकों के अनिवार्य अंग बने हुए थे।

प्रमुख कथा के साथ ही वर्तमान जीवन के एक हास्य की कथा नाटक के अंत तक चलती है। 'अभिमन्यु' में जैसे रायबहादुर की कहानी और श्रवणकुमार

में चमेली की। इसने प्रमुख कथा और पात्रों का जो प्रभाव सामाजिकों पर पड़ता है, इस कथा के मजाकिया चरित्रों के वार्तालाप और अभिनय से सारे किये-कराये पर पानी फिर जाता है। यद्यपि राधेश्याम जी का हास्य उतना भद्दा, अश्लील और भोंडा नहीं, जितना उन दिनों के रङ्गमंच पर चलता था, फिर भी उसे सुरुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। तो भी इनकी देन अनुपम.है।

नारायणप्रसाद 'बेताब'

श्री 'बेताब' ने भी रङ्गमञ्चीय नाटक लिखने में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। यह हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं के विद्वान् थे। यह अच्छे कवि भी थे। पारसी-कम्पनियों के लिए ही अधिकतर इन्होंने नाटकों की रचना की। रङ्ग-मञ्चीय नाटक लिखने में बेताब जी की प्रतिभा खूब चमकी। अपने युग के यह प्रमुख नाटककार थे। पहले-पहल इन्होंने भी उर्दू में ही नाटक लिखने आरम्भ किये थे, बाद में हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा में नाटक लिखने लगे। इनकी भाषा 'हिन्दुस्तानी' का बहुत अच्छा नमूना कही जा सकती है। 'गोरखधन्धा' इनका प्रथम नाटक है, जो पहले उर्दू में लिखा गया था, बाद में उसका अनुवाद हिन्दी में किया गया। हिन्दी में इन्होंने 'महाभारत' 'जहरी साँप', 'रामायण', 'पत्नी-प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा', 'गणेश जन्म', 'शकुन्तला' आदि नाटक लिखे। नाटक-मण्डलियाँ जब बन्द होने लगीं, और फिल्मों का प्रचार बढ़ा तो यह फिल्म-कम्पनियों के लिए लिखने लगे।

उनके नाटकों में वही सब गुण-दोष वर्तमान हैं जो पारसी-रङ्गमञ्च-युग के नाटकों में होते थे। दृश्यों का आश्चर्य-जनक होना, अतिमानवीयता, सज्जन-दुर्जन का संघर्ष, घटनावली की विचित्रता—सभी इनके नाटकों में मिलेंगी। भाषा दोनों भाषाओं का मिश्रण होती है। पद्यात्मकता का बाहुल्य और अवसर-बेअवसर गानों की उपस्थिति रहती है। इनके नाटकों में 'महाभारत' नाटक की बड़ी धूम रही और यह एक ही नगर में महीनों तक होता रहा। 'शकुन्तला' सम्भवतः इनका अन्तिम नाटक है और यह पृथ्वी थियेटर्स के लिए लिखा गया है। इसका अभिनय भी किया गया था। इनके नाटक कला की दृष्टि से इतने सफल नहीं जितने आगा हश्र के। तो भी इनका नाम रङ्गमञ्चीय नाटककारों में विशेष उल्लेखनीय है। इनके द्वारा लिखी गईं फिल्में अपने समय में काफी सफल हुईं।

बेताब जी औरङ्गाबाद (बुलन्दशहर) के रहने वाले ब्रह्मभट्ट (भाट)

जाति के थे। कुछ दिन दिल्ली में रहकर एक प्रेस चलाया और। बाद में कलकत्ता चले गए। अन्त में बम्बई में बस गए। वहीं इनकी मृत्यु हुई।

हरिदास माणिक

माणिक महोदय एक सफल अभिनेता से नाटक-लेखक बने। इन्होंने 'सत्य हरिश्चन्द्र' में शैव्या, 'राणा प्रताप' में वीरसिंह और अफीमची, 'पाण्डव-प्रताप' में ढोलक शास्त्री, 'कलियुग' में घसीटासिंह और 'संसार-स्वप्न' में बेटा दीना का सफल और शानदार अभिनय करके दर्शकों के हृदय को जीत लिया था। इनके अभिनय से सामाजिक इतने प्रसन्न थे कि इन पर रुपयों और गिन्नियों की बौछारें होती थीं। यह गीत के अच्छे ज्ञाता थे। काशी के निवासी थे और वहीं एक स्कूल में अध्यापन का कार्य करते थे। इन्होंने तीन नाटकों 'संयोगिता हरण' या 'पृथ्वीराज', 'पाण्डव-प्रताप या युधिष्ठिर' और 'श्रवण कुमार' की रचना की। ये नाटक क्रमशः १९१५, १९१७ और १९२० ई० में लिखे गए।

'संयोगिता-हरण' और 'पाण्डव-प्रताप' अत्यन्त सफल नाटक हैं। दोनों में तीन-तीन अंक हैं। दोनों के नामों से ही विषय का पता चलता है। पहला ऐतिहासिक और दूसरा पौराणिक है। पहले नाटक में तीनों अंकों में क्रमशः ६, ४ तथा ३ दृश्य हैं। दूसरे में क्रमशः ८-८ तथा ५ दृश्य हैं। 'पाण्डव-प्रताप' युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से आरम्भ होता है। जरासंध-वध, उसके लड़के सहदेव को मगध का स्वामी बनाना, शिशुपाल-वध आदि इस नाटक की विशेष घटनाएं हैं। 'संयोगिता-हरण' में सभी घटनाएं चिर-परिचित और इतिहास-प्रसिद्ध हैं। केवल अन्त में जयचन्द द्वारा दहेज भी भेजने की घटना नवीन कल्पना है। इसमें दोनों का समझौता-सा हो जाता है।

नाटक संस्कृत ढंग से लिखा गया है। मङ्गलाचरण, सूत्रधार, भरत-वाक्य आदि सभी दोनों नाटकों में हैं। अङ्क गानों से आरम्भ होते हैं। दोनों नाटक सुखांत हैं। आशीर्वाद से दोनों का अन्त होता है। दृश्य सफाई से बदलते हैं। स्टेज खाली क्षण-भर को भी नहीं रखा जाता। अभिनय की दृष्टि से दोनों नाटक सफल हैं ही, इनकी भाषा आदि भी बहुत ठीक है। शुद्ध और परिमार्जित पद्य भी हैं। संवाद चुस्त, गतिशील पात्रोचित और सशक्त हैं। कहीं-कहीं संवाद बहुत लम्बे हो गए हैं, यह नाटकों में है। कथावस्तु का विकास भी स्वाभाविक है और चरित्र-चित्रण भी ठीक है। इन नाटकों की विशेषता

यह भी है कि ये पारसी-रंगमंचीय नाटकों से प्रभावित नहीं। वह अस्वाभाविकता इनमें नहीं आ पाई—वह चमत्कारिता भी नहीं, गीत इन नाटकों में तनिक हल्के हैं। 'श्रवण कुमार' की भाषा-शैली भी इन्हीं के समान है, पर वह इतना सफल नहीं बन सका।

माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी ने १६१८ ई० में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नामक नाटक लिखा। इस नाटक में रंगमञ्चीय आवश्यकताओं और सरलताओं का बड़ा ध्यान रखा गया है। इसका अभिनय अनेक बार सफलता के साथ हो चुका है। इस नाटक में साहित्यिकता और अभिनेयता दोनों में कमाल की सफलता लेखक को मिली है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' की कथा पौराणिक है, पर इसमें वर्तमान जीवन विशेषकर राजनीति का जो सुन्दर चित्र मिलता है, वह तात्कालिक अन्य नाटकों में नहीं मिलता। नाटक में गालव ऋषि के शिष्य शशि और शंख के द्वारा हास्य की भी अच्छी योजना की गई है। चरित्र-चित्रण की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। सुभद्रा के चरित्र में वैयक्तिक निजीपन है, केवल हिन्दू नारीत्व ही नहीं। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' हिन्दी के रंगमञ्चीय नाटकों में विशेष सम्मान का स्थान प्राप्त कर चुका है।

जमनादास मेहरा

श्री मेहरा ने अनेक रंगमंचीय नाटकों की रचना की। इनका उद्देश्य था हिन्दी में रंगमंच की उन्नति करना। व्यवसायी मण्डलियों से धन कमाने के लिए इन्होंने रचना नहीं की। अव्यवसायी मण्डलियों, साहित्य-समाजों, स्वतंत्र रूप से उत्साही जन-मण्डलों द्वारा इनके नाटकों का अभिनय बड़ी सफलता से किया गया। इनके नाटकों की रचना का समय १६२१ से १६३२ ईस्वी तक माना जा सकता है। इनका सबसे प्रथम नाटक 'विश्वामित्र' १६२१ ई० में लिखा गया था। इसके सिवा 'हिन्द', 'देवयानी', 'जवानी की भूल', 'कन्या-विक्रय', 'विपद्-कसौटी', 'कृष्ण-सुदामा', 'भक्त-चन्द्रहास', 'पाप-परिणाम', 'मोरध्वज', 'पंजाब-केसरी', 'सती-चिन्ता', 'भारत-पुत्र,' 'हिन्दू-कन्या', 'वसन्त-प्रभा' आदि १५ नाटकों की रचना की।

नाटकों के नामों से ही इनकी विभिन्नता और विस्तृत क्षेत्र तथा काल का पता चलता है। 'विश्वामित्र' 'कृष्ण-सुदामा' 'देवयानी' आदि पौराणिक नाटक हैं। 'जवानी की भूल', 'कन्या-विक्रय', हिन्दू-कन्या' आदि वर्तमान जीवन-सम्बन्धी नाटक हैं। 'पंजाब-केसरी' ऐतिहासिक नाटक है। 'जवानी

की भूल' में मानिकलाल और एक वेश्या फूलमनि के प्रेम की कथा दी गई है। मानिकलाल द्वारा अपनी पत्नी रमा का त्याग, फूलमनि द्वारा उसकी सब सम्पत्ति का अपहरण, अपने नौकर की हत्या का अभियोग लगाकर फूलमनि द्वारा मानिकलाल को जेल भिजवाना, मानिकलाल के मित्र मोहन, उनके नौकर और रमा द्वारा षड्यंत्र का पता लगना और मानिकलाल का जेल-मुक्त किया जाना आदि घटनाएं। नाटक की कथावस्तु का संघटन करती हैं। 'हिन्दू-कन्या' भी सामाजिक नाटक है। इसमें एक पति अपने पिता के बहकावे में आकर अपनी पत्नी का त्याग कर देता है। दोष लगाया जाता है कि वह अछूत-कन्या है। इसमें पत्नी की कष्ट-सहिष्णुता, पतिव्रत-पालन, आदर्श आदि दिखाया गया है।

पौराणिक नाटकों के विषय में इतनी विशेषता मेहरा जी ने अवश्य की है कि उनमें वर्तमान जीवन की झलक दिखाकर सुधार का मार्ग दिखाया गया है। चरित्र और घटनाएं। तो अधिकतर चिर परिचित हैं। सामाजिक नाटक तो सभी सुधारक भावना से प्रेरित हैं। 'जवानी की भूल' और 'हिन्दू कन्या' के कथानक से जैसा कि स्पष्ट है। वर्तमान जवानी की समस्याएं भी इन्होंने ली हैं, पर वे समस्याएं मनोवैज्ञानिक नहीं समाज के बाह्य ढाँचे से ही अधिक सम्बन्ध रखती हैं। और मेहरा जी को सुधार की इतनी धुन है कि वे उपदेशक से मालूम होते हैं। इनके नाटकों की भाषा प्रौढ़, जोशीली, चलती हुई, नाटकोचित और पद्य-संवादों से पूर्ण है। गीत अधिकतर गजल हैं।

कथा में चमत्कारिता तो है ही, साथ ही प्रमुख कथा के साथ हास्य-कथा भी अन्त तक चलती है, जैसा कि उस युग के सभी नाटकों से देखने को मिलता है। 'जवानी को भूल' में सम्पतराय की कथा है जो घुड़दौड़ और जुए में अपनी सभी सम्पत्ति गंवाकर कंगाल हो जाता है और 'हिन्दू-कन्या' में 'बड़ा बाबू' की मजाकिया कहानी है। 'बड़ा बाबू' अच्छा प्रहसन है। प्रमुख कथा के साथ हास्य की कथा से नाटक का जो गम्भीर प्रभाव पड़ता, वह समाप्त हो जाता है; पर उस समय ऐसी परम्परा थी, इसलिए कोई भी नाटककार इस ना-समझी से नहीं बच सका। इनके नाटकों में करुण रस की विशेषता रहती है। करुणा का इतना परिपाक होता है कि दर्शक आँसू भर लाएं।

रंगमंच की दृष्टि से इनके नाटक बहुत अच्छे हैं। सुरुचि और शिक्षा भी इनके नाटक देते हैं; पर मजाक अधिकतर ऊँचे स्तर का नहीं होता। मेहरा साहब की भी हिन्दी-रंगमंच को बड़ी देन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

दुर्गादास गुप्त

गुप्तजी अपने समय के सफल और विख्यात अभिनेता और नाटककार थे। आरम्भ में इन्होंने एक अव्यवसायी अभिनेता के रूप में रंगमंच पर प्रवेश किया। काशी में होने वाले नाटकों में यह प्रायः अभिनय किया करते थे। जब यह एक सफल अभिनेता बन गए, तब नाटक लिखने की ओर भी इनका झुकाव हुआ। 'हमीर हठ' इनका प्रसिद्ध-नाटक है। इसी नाटक के सहारे यह बम्बई की एक व्यवसायी कम्पनी में प्रविष्ट हुए। इसका अभिनय भी सफल रहा और इससे इनको ख्याति भी पर्याप्त मिली। कुछ दिन बाद यह बम्बई से काशी लौट आए और वहीं इनका देहान्त हो गया।

इन्होंने कुल मिलाकर १२ नाटकों की रचना की—'श्रीमती मंजरी', 'भक्त तुलसीदास','नलदमयन्ती','देशोद्धार','थियेटर बहार','गरीब किसान','दोधारी तलवार', 'भारत-रमणी', 'नकाबपोश','नवीन संगीत थियेटर','महामाया' और 'हमीर हठ'। 'हमीर हठ','महामाया','श्रीमती मंजरी' की अपने समय में रंग-मंच और जनता में बड़ी प्रसिद्धि हुई।

'महामाया' की कथा द्विजेन्द्रलाल राय के 'दुर्गादास' की कथा से बहुत मिलती-जुलती है। 'दुर्गादास' के दूसरे अंक के छठे दृश्य और चौथे अंक के छठे दृश्य के समान ही 'महामाया' के एक दो अंकों के कुछ दृश्य हैं। इसमें भी औरंगजेब और महाराज जसवंतसिंह की रानी महा माया, राजकुमार अजीतसिंह और दुर्गादास की कहानी है। दुर्गादास और महारानी की निर्भयता, वीरता आदि का अच्छा चित्रण इसमें है। इसमें राय महोदय कला का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जाता है। 'हमीर हठ' में प्रसिद्ध वीर हमीर देव की वीरता, शरणागत-रक्षा, युद्ध-कौशल आदि का सुन्दर वर्णन है। दोनों ऐतिहासिक नाटक हैं।

'श्रीमती मंजरी' इनके नाटकों में सर्वोत्तम है। इसमें हिन्दू-मुसलिम-एकता की समस्या को लिया गया है। इसमें रंगमंचीय विख्यात नाटककार आगा हश्र के नाटकों के समान ही दो कथाएं समानान्तर रूप में चलती हैं. मंजरी, उसके दरिद्र पिता, उसके द्वारा एक मुसलमान बालक का पालन-पोषण करके उसे अपना पुत्र बनाने की कामना, एक धनी का मंजरी के प्रति विलासमय प्रेम और हिन्दू-मुस्लिम प्रचलित वैमनस्य से तो प्रमुख कथा का सम्बंध है और दूसरी कथा है उधारचन्द की पुत्री चम्पा और रोकड़चन्द और मैना की। दूसरी कथा भरती-मात्र है। यह निकल जाय तो नाटक शानदार बन सकता है।

'श्रीमती मञ्जरी' की भाषा प्रौढ़, चलती हुई, प्रभावशाली और सबल है। पद्यात्मक संवाद प्रचुर मात्रा में हैं; पर वे पुष्ट और प्रभावशाली हैं। 'श्रीमती मञ्जरी' की अपने समय काफ़ी धूम रही और यह छोटे-छोटे नगरों में भी शौकिया नाटक-समाजों द्वारा भी खेला गया था। गुप्त जी के नाटकों का समय सन् १६२२ से १६३६ तक माना जा सकता है।

आनन्दप्रसाद खत्री

खत्री महोदय बाल्यकाल से ही अभिनय की ओर रुचि रखते थे। वयस्क होने पर इनका झुकाव फिल्मी जीवन की ओर हुआ। उन दिनों अवाक्-फिल्में बनती थीं। यह एक सिनेमा-भवन के मैनेजर के रूप में इस व्यवसाय में प्रविष्ट हुए। अभिनय की ओर तो रुचि थी ही, यह नाटकों में अभिनय भी करने लगे। काशी (अपने घर) में रहते हुए ही इन्होंने 'वीर अभिमन्यु' में अर्जुन का और 'किंगलीअर' में लोअर का बड़ा सुन्दर अभिनय किया। इस रूप में भी यह सामाजिकों द्वारा अत्यन्त पसन्द किये गए; पर पागल का अभिनय करने में तो इनकी ख्याति बहुत ही बढ़ गई। सफल अभिनेता होने के बाद इनका ध्यान नाटक-लेखन की ओर भी गया और इन्होंने 'भक्त सुदामा', 'ध्रुवलीला', 'परीक्षित', 'गौतम बुद्ध,' तथा 'कृष्णलीला आदि नाटक लिखे।

इनके नाटकों की भाषा सशक्त, प्रौढ़, प्रभावशाली और नाटकोचित होती है। उस समय प्रवृत्ति थी, गद्य का तुकांत होना, यह प्रवृत्ति इनके नाटकों में भी पाई जाती है। पारसी-नाटकों के समान चमत्कारिता भी इनके नाटकों में है। कथा वस्तु का गठन अच्छा है। चरित्र-चित्रण का ध्यान भी इन्होंने रखा है। रचना-काल १६१२ से १६३० तक है।

शिवरामदास गुप्त

रङ्गमंच पर इनका प्रवेश संगीत-निर्देशक के रूप में हुआ। इन्होंने संगीत में प्रसिद्धि प्राप्त करके संचालक के रूप में भी कार्य किया और अभिनेता भी बन गए। रङ्गमंच-नाटक भी इन्होंने पर्याप्त संख्या में लिखे। रङ्गमंचीय नाटककारों में श्री शिवरामदास गुप्त सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न थे। रङ्गमंच-सम्बन्धी सभी कार्यों में प्रवीण और प्रसिद्ध, इसके अतिरिक्त इन्होंने नाटक तथा उपन्यास आदि प्रकाशित करने के लिए एक प्रकाशन-संस्था 'उपन्यास बहार आफिस' स्थापित किया। इससे अनेक नाटकों का प्रकाशन इन्होंने किया। अब भी इस संस्था से अनेक नाटक और उपन्यास प्रकाशित होते रहते हैं।

आगा हश्र काश्मीरी और द्विजेन्द्रलाल राय से यह अत्यन्त प्रभावित हैं और उनको अपना गुरु मानते हैं। रङ्गमंच पर इनके नाटकों को बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इनके नाटकों में साहित्यिकता भी है। इन्होंने करीब १५ नाटक लिखे—'देश का दुर्दिन','समाज का शिकार','चिरागे चीन','मेरी आशा','दूज का चाँद','बलिदान','परिवर्तन','वीर भारत','पहली भूल','जीवन का नशा','दौलत की दुनिया', 'धरती माता', 'पशु-बलि', 'आजकल', 'आज की बात' आदि। इनका नाटक काल भी लगभग १६२० से आरम्भ होता है और १६४० तक समझा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक नाटककार हुए जिन्होंने रङ्गमंच के लिए नाटकों की रचना की। बाबू बलदेव प्रसाद खरे ने भी पारसी-स्टेज के लिए अनेक हिन्दी-नाटकों की रचना की। किशनचन्द 'ज़ेबा', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर' और श्रीकृष्ण 'हसरत' का नाम भी इस सम्बन्ध में भुलाया नहीं जा सकता। प्रायः इन सभी का सम्बन्ध व्यवसायी नाटक-मण्डलियों से रहा। इन्होंने अधिकतर रचना उर्दू में ही की, पर इनके नाटकों का रूपान्तर हिन्दी में भी हुआ। रचना वैसी ही, जैसी कि उस युग में नाटक-मण्डलियों के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की होती थी।